

4.3

15/4



४-१५-२०
२७-२८



15/4

प्र. सं. २४३
अ. सं. ३

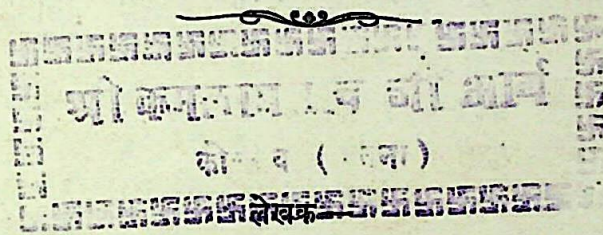
भा. पु.

ओ३म्

वेदप्रवेशः

तत्र

प्रथमा पद्धतिः



वे० शा० प० प० स्वामी वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ

प्रकाशक—

लवपुर-गुरुदत्तभवनस्थ-पंचनदीयार्यप्रतिनिधिसभान्तर्गत-

श्रीचमूपतिसाहित्यविभागाध्यक्ष

स्वामी वेदानन्दतीर्थ

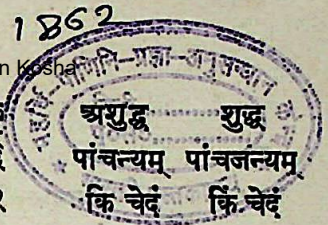
संवत् १९९७ वि० (१९६६ द०)

शुद्धिपत्रम्

नम्रनिवेदन

बहुत यत्न करने पर भी इस ग्रन्थ में कई अशुद्धियाँ रह गई हैं। भयङ्कर अशुद्धियों का यहाँ पत्रक दे दिया गया है। पाठकों से निवेदन है कि इस शुद्धिपत्र के अनुसार उन भूलों को सुधार कर पढ़ने की कृपा करें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	१३	शुप्		१२	३	जाओ (यात)जाओ	
२	३१	देवैः देवोभिः देवेभ्यः		१२	४	देवासः	देवास
४	१२	त्रिसका	जिसका	१३	२०	सवनाम	सर्वनाम
५	१०	कान्ति	कान्ति=	१३	३५	उतर	उत्तर
५	१६	स	सा	१४	७	सर्वः	सर्व
५	३२	१०	११	१४	२३	२।७।६	२।१४।६
६	११	-वै	-वै	१५	१८	वाचः (वाचः) वाणी की	
६	१३	देवा	देवाः	१५	३२	चे	च
६	१५	इव दे-	इवहिदे-	१५	३३	सर्वेभ्यः	सर्वेभ्यो
६	१८	कुरुते	कुरुते	१६	२६	-तनोः	तनीः
६	२३	देवा	देवाः	१६	२७	१०।१३।६	१०।१३।७।६
६	२७	ज	ल	१७	२	१६।१६।१४	१६।६।१४
७	७	अन्योस्मिन् अन्योन्यस्मिन्		१८	३१	५।३४।४	५।३४।७
७	६	१०।५।३।५	१०।३।५।१३	१८	३४	क्रुद्ध	क्रुद्ध
८	६	गमत्	अगमत्	१६	२१	१।५।५।२	१।५।५।३
६	१६	शेषधि-	शेषधि-	१६	२६	विश्वेभ्य आ	विश्वेभ्यश्च
६	१६	मां	मा			देवेभ्य आ	
६	१६	-टे अह-	-टेऽह-	२०	२३	विश्वेस्मिन् विश्वस्मिन्	
६	१७	यथा	तथा	२०	२६	सुवांसाः	सुवासाः
६	१७	स्याम	स्याम्	२१	१८	हृद्रा	हृदा
६	३३	अवसृजादेव	अवसृजा	२१	२२	घुटनोंतक मुखंतक, घुटनोंतक	
१०	१	देव—	०	२२	२३	दग्धा०	दग्धा०
१०	२४	वरुणा	वरुण	२३	२२	प्रकाश	प्रकाशक
१०	२६	१०	११	२३	३४	श.३।३१ ऐ.१।१	
११	२	दधिर	दधिरे	२४	२२	३।३।२।१३	३।२।२।१३
११	१३	देवयो	देवयोः	२५	२०	६।७।३।२	६।७।३।७
११	१६	बनामहे	वनामहे	२५	२१	दीघ	दीर्घ
११	२०	दूत	दूतं	२६	२	४।२७	४।२७।१
११	२४	रक्षा	रक्षक	२६	१४	वा	वै
११	२७	अश्विनौ	अश्विना	२७	२४	-वचव	-वचन



पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६	२५	कवि-	कवि-	४५	१६	पांचन्यम्	पांचजन्यम्
२७	२५	रामगत	रामगत	४५	३२	किं चेदं	किं चेदं
२८	३२	-कमे	-कने	४७	३०	१६।३	१६।३
२६	७	ईडे	ईडे	४८	२०	कोशिमिः	केशिमिः
२६	१८	१२।२।२	१२।१२।१	४६	२	अ. ८।२।१८	अ. १२।२।३८
२६	३२	मुफे	मुफे	४६	१३	वा सह०	वा ते सह०
३०	१	७।१।१५	७।१।१४	४६	२०	२० १२।८।१५	२०।१२।१५
३०	१८	हिंस-	हिंसा-	४६	३२	०मचना०	०वचना०
३०	२०	स्वाभाव	स्वभाव	५०	१५	पत्पुः, पतः	पत्युः, पतेः
३१	२८	शुशुचन्त	शोशुचन्त	५०	३१	स्वर्दशः	स्वर्दशः
३१	२६	नराः	नरः	५१	२६	रूपतन्त्रा	रूपतन्मात्रा
३१	३०	नराः	नरः	५५	१३	१०।८५।६	१०।८५।३६
३१	३४	शुशुचन्त	शोशुचन्त	५५	३१	आत्तवे०	आर्त्तवे०.
३२	४	चारु मना०	मना० चारु	५६	४	ऋ. १।१६।१२	ऋ. १।६।१२
३२	१५	-वतः	वन्तः	५६	१४	कृणोति	कृणोतु
३२	२१	ऋ. ३।५५।१	ऋ. ३।५५।३	५६	३३	गुम	शुम
३४	२२	पूर्व्य	प्रपूर्व्य	६२	२०	३।४७।४	३।४७।३
३५	१४	र ल्, व	र, व्	६३	७	हिष्म	हिष्मा
३५	३१	पुरुष्टतः	पुरुष्टुतः	६३	२७	) है	) मित्र है
३६	२०	सिध्रमद्य	सिध्रमद्य	६५	१६	१।४।५७	१।४।५८
३६	२१	मन्द्रजि० (अद्य)	आज मन्द्र०	६५	२२	१।४।५८	१।४।५६
३८	५	महत्तद्वयः	महत्तद्वयः	६८	२३	नश्यति	नश्यसि
४०	१०	ऋ. ६।४६।२	ऋ. ६।४७।१०	६६	६	ऋ. १।३६।७	ऋ. १।३६।१६
४१	२	ऋ. ६।२।२०	ऋ. ४।२।२०	६६	१५	य. ५।३६	य. १२।८३
४१	११	निवचनानि	निवचना	६६	२१	य. १।३६	य. ६।३६
४१	१६	मद्रस्य	मन्द्रस्य	७०	२१	१०।१०।१२	१०।१६।१२
४१	१७	ऋ. ६।३६।१	ऋ. ६।३६।१	७०	२८	ऋ. १०।८।१६	ऋ. १०।४२।७
४१	२५	३।१।१	३।१।२	७५	५	-द्वम-	-देवम-
४२	१६	४।३६।५	४।३६।६	७५	२५	-इत्यनेक-	इत्येषोऽने
४२	३०	दर्शनाम्	दर्शनात्	७७	३	-चिन्नू तद्-	चिन्नू चित्तद्-
४३	३०	ऋ. ५।३०।१०	अ. ५।३०।१०	७८	१२	पृथिवीं	पृथिवीमिमां
४४	८	प्रत्नासः	प्रत्नास	८१	३२	६।५	१।५
४४	२६	वीतयं	वीतये	८३	६	जा स०	किया जा स०
४४	३०	गृणानः	गृणानाः	८३	१२	प्रोहति	इति प्रोहति
४५	६	ऋ. १०।१६।२।४	ऋ. १०।६।२।४	८४	७	१।१६।२	१।१६।३

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८४	२७	तो	जो	११०	२२	पितृभ्यः	पितृभिः
८५	१०	प्रतीयते	प्रतीयेत	११६	२०	अग्निष्वात्ता	अग्निष्वात्ताः
८७	७	क्रतुभ्याम	क्रतुभ्याम्	११६	३४	१११६।१२	११६४।१२
८७	१७	१।७७	१।७६	१३२	२३	कम्मचारी	कर्मचारी
८७	२१	११।२७	११।२६	१२३	१४	१।३।७०	१।२।७०
६०	२	यज्ञस्य	यज्ञं	१२६	१६	१।११।१	१।११।११
६०	१४	वद	वेद	१२७	२८	७।१०२।७	७।६७।७
६२	१८	मित्रावरूपायाः	मित्रावरूपायोः	१३६	११	सधमादा	सधमाद
६५	३३	वं	त्वं	१३६	१३	सधमादाः	सधमादः
६८	३३	११।१६	११।१५	१३८	६	वर्धयन्तु	वर्धन्तु
१००	३२	निश्चर्मणे	निश्चर्मण	१४०	१८	अथ	अर्थ
१००	३२	सृजत	सृजता	१५३	१३	सृजत	सृजता
१०६	२२	कर्म	कर्म	१६०	३१	भवन्ती जी०	भवन्तीर्जी०
१०७	२३	पापाय	पोपाय	१६१		२बहुत होतीबहुत (भवन्तीः)होती	

संकेत

ऋ०=ऋग्वेद । य०=यजुर्वेद । सा०=सामवेद । अ०=अथर्ववेद ।
 श०=शतपथ ब्राह्मण । ऐ०=ऐतरेय ब्राह्मण । गो०=गोपथ ब्राह्मण । ता०=
 ताण्ड्यमहाब्राह्मण । जै०=जैमिनि ब्राह्मण । कौ०=कौषीतकी ब्राह्मण । तै०=
 तैत्तिरीय ब्राह्मण । ष०=षड्विंश ब्राह्मण ।

इनके आगे जो अङ्क दिये हैं, उनका विवरण दूसरे भाग में करेंगे ।

श्री प्रकाशचन्द्र मुद्रक द्वारा, दी आर्य प्रैस लिमिटेड, १७ मोहनलाल रोड
 लाहौर में मुद्रित ।

वेद-प्रवेश

[ले०—वे० शा० स्वामी वेदानन्द(दयानन्द)तार्क]

प्रथम पाठ



वैदिकधर्म-ज्ञान के लिए वेद का जानना परम आवश्यक है। वेद के जानने में उसकी भाषा एक बड़ा विघ्न मानी जाती है। साधारण आर्यभाषा जानने वाला वेद की भाषा को दुरुह समझ कर उसे छोड़ बैठता है। वेद की भाषा वैसी कठिन नहीं, जैसा कि इसे प्रसिद्ध किया जा रहा है। वेद की भाषा अत्यन्त सरल है, इतनी सरल है कि संसार की कोई भी भाषा सरलता में इसकी समता नहीं कर सकती। इस विषय को हम फिर कभी सिद्ध करेंगे। जो लोग वेद पढ़ना चाहते हैं, और व्याकरण आदि अङ्गोपाङ्गों के अध्ययन में समय नहीं दे सकते। उनके लिए कोई ऐसा उपाय होना चाहिए, जिससे वे थोड़े से परिश्रम से मूल वेद को समझने लग जाएँ। ऐसे महानुभाव वेदभक्तों के लिए हमारा यह परिश्रम है।

[क]

निरुक्तकार श्री यास्काचार्य के मत से लौकिक वैदिक पदों के चार विभाग किए जा सकते हैं, जैसा कि उन्होंने निरुक्त में लिखा है—

“तद्यानि चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च, तानि इमानि भवन्ति ॥” (निरुक्त १।१)

यह जो चार पद समूह होते हैं, वह यही नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ही हैं। पद का लक्षण महामुनि पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में इस प्रकार किया है—

सुप्तिङन्तं पदम् ॥ १।४।१४ ॥

सुवन्त (सुप् प्रत्यय जिसके अन्त में हो, वह) और तिङन्त (तिङ् प्रत्यय जिसके अन्त में हो, वह) पद होता है।

यास्काचार्य ने जिन पदों को नाम उपसर्ग और निपात की संज्ञा दी है, पाणिनि मुनि ने उन्हें सुवन्त यह एक संज्ञा दी है।

पद का विश्लेषण करने से उसमें दो अंश तो अवश्य ही मिलते हैं—एक प्रकृति (मूल) और दूसरा प्रत्यय। जो शब्द किसी न किसी अर्थ का बोधक हो, उसे प्रकृति कहते हैं। प्रकृति के फिर दो भेद हैं एक धातु (यह वास्तव में सब का मूल है) और दूसरा प्रातिपदिक। इन प्रकृतियों के साथ लगकर प्रत्यय इन में अर्थ विकार को उत्पन्न करता है। प्रत्ययों के कई भेद हैं। उनका यथास्थान वर्णन किया जाएगा। धातु-प्रकृति से तिङ् प्रत्यय लगकर क्रियावाची पदों के रूप बनते हैं। जैसे भू धातु से भवति, बभूव आदि पद बनते हैं। प्रातिपदिक-प्रकृति से गुण द्रव्यादि के वाचक शब्दों के रूप बनते हैं, जैसे देवः, देवासः इत्यादि।

आचार्यों का शासन है—अपदं न प्रयुंजीत=अपद का प्रयोग न करे, न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, न च केवलः प्रत्ययः=अकेली प्रकृति का प्रयोग नहीं करना चाहिए, और न ही अकेले प्रत्यय का। इसके अनुसार पदों का ही प्रयोग हो सकता है, किन्तु पदों का प्रयोग करते समय इस बात का अवश्य ध्यान रखना पड़ता है कि उनका परस्पर सम्बन्ध हो, और वे मिलकर किसी अर्थ-विशेष का बोध कराते हों, ऐसे, एक, दो या अधिक पदों के समुदाय को वाक्य कहते हैं।

वाक्य के घटक अवयवों-पदों के स्वरूपज्ञान के बिना वाक्यस्वरूप तथा वाक्य का अर्थबोध दुर्घट है, अतः सब से पूर्व पदों के रूप दिखाने आवश्यक हैं। ऊपर हम सुप् प्रत्ययों की चर्चा कर आए हैं। वह सुप् नीचे लिखे प्रत्ययों का प्रत्यायक है।

सु औ जस्; अम् औट् शस्; टा भ्याम् भिस्; डे भ्याम् भ्यस्; डसि भ्याम् भ्यस्; डस् ओस् आम्; डि ओस्, सुप्।

यह सब मिलकर इक्कीस हैं। तीन तीन के एक एक त्रिक का नाम विभक्ति रखा गया है। इस प्रकार यह सात विभक्तियां बनती हैं। अर्थात् 'सु, औ, जस्' प्रथमा विभक्ति; 'अम्, औट्=औ, शस्' द्वितीया विभक्ति; 'टा भ्याम्, भिस्' तृतीया विभक्ति; 'डे, भ्याम्, भ्यस्' चतुर्थी विभक्ति; 'डसि, भ्याम्, भ्यस्' पंचमी विभक्ति; 'डस्, ओस्, आम्' षष्ठी विभक्ति; 'डि, ओस्, सुप्' सप्तमी विभक्ति।

इन तीन तीन में से पहला एकवचन, दूसरा द्विवचन और तीसरा बहुवचन कहलाता है। जैसे 'सु' यह एकवचन है, 'औ' द्विवचन है और 'जस्' बहुवचन है। इसी प्रकार शेष विभक्तियों में भी समझ लेना चाहिए।

यह बात सुतरां सिद्ध है कि यह विभक्तियां जब किसी प्रातिपदिक-प्रकृति के साथ लगाई जाती हैं, तो उसके अर्थों में थोड़ा-सा परिवर्तन कर देती हैं। जैसे 'देव' शब्द के साथ 'सु' विभक्ति लगाने से देवः पद बनता है। साधारणतया इसका अर्थ होगा—एक देव ने। देव के साथ 'भिस्' [तृतीया विभक्ति का बहुवचन] लगाने से 'देवैः' और 'देवेभिः' दो रूप बनते हैं। अर्थ होता है—दो से अधिक=बहुत देवों ने, बहुत देवों से, बहुत देवों के साथ, बहुत देवों के द्वारा, इत्यादि। इस प्रकार विचारने से ज्ञात होता है कि विभक्ति बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं, अतः इनके द्वारा होनेवाले रूपभेदों को जानना और अभ्यास करना अत्यन्त आवश्यक है। इस आशय को सामने रखकर हम पहले कुछ शब्दों का रूप देंगे और यथासंभव उनके उदाहरणों के लिए वेद-वाक्य

भी देंगे । उससे पूर्व संक्षेप में हम विभक्तियों का साधारण अर्थ यहाँ दे देते हैं, जिससे पाठकों को सुविधा हो—



प्रथमा विभक्ति—(कर्त्ता) ने ।

द्वितीया विभक्ति—(कर्म) को ।

तृतीया विभक्ति—(कर्त्ता और करण) ने, के साथ, के द्वारा, से ।

चतुर्थी विभक्ति—(सम्प्रदान) को, के लिए ।

पंचमी विभक्ति—(अपादान) से [जिससे विभाग की सी प्रतीति हो] ।

षष्ठी विभक्ति— का, के, की, ना, ने, नी, रा, रे, री ।

सप्तमी विभक्ति—(अधिकरण) में, पर, ऊपर ।

इन सात विभक्तियों के अतिरिक्त आठवीं संबोधन (बुलाना) विभक्ति होती है । उसके रूप प्रथमा से मिलते हैं विभक्तियों के यह अर्थ उपलक्ष्यमात्र हैं । शेष अर्थों का ज्ञान इनके सहारे हो जाता है । जितने भी शब्द हैं, उनके अन्त में या स्वरं (अ, इ आदि) होते हैं, या व्यंजन (क, ख आदि) । जिनके अन्त में स्वर हो, उनको स्वरान्त या अजन्त कहते हैं । जिनके अन्त में व्यंजन हों, उन्हें व्यंजनान्त या हलन्त कहते हैं । व्यंजनों से स्वर पहले आते हैं अतः हम पहले स्वरान्त शब्दों के रूप दिखाएंगे और स्वरों में भी 'अ' = अकार प्रथमगामी है, अतः सब से पहले अकारान्त शब्दों के रूप दिखाएंगे । शब्दों में पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग होते हैं । हम सब से पहले पुल्लिङ्ग शब्दों के रूप देंगे ।

विभक्ति प्रत्ययों पर ध्यान देने से एक बात जो बहुत स्पष्ट रूप में हमारे सामने आती है, वह यह है कि प्रथमा विभक्ति के द्विवचन और द्वितीया विभक्ति के द्विवचन में एक से रूप बनने चाहिये । इसी प्रकार तृतीया, चतुर्थी और पंचमी विभक्तियों के द्विवचनों में भी एक से रूप बनने चाहिये, इसी प्रकार षष्ठी और सप्तमी विभक्तियों के द्विवचनों में भी समान रूप बनने चाहिये, इसी प्रकार चतुर्थी और पंचमी विभक्ति के बहुवचनों की अवस्था समझनी चाहिये ।

अब लीजिए अकारान्त पुल्लिङ्ग देव शब्द के रूप—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	देवः	देवौ	देवाः, देवासः
संबोधन	देव	देवौ	देवाः, देवासः
द्वितीया	देवम्	देवौ	देवान्
तृतीया	देवेन	देवाभ्याम्	देवैः, देवेभिः
चतुर्थी	देवाय	देवाभ्याम्	देवैः, देवेभिः
पंचमी	देवात्-द्	देवाभ्याम्	देवेभ्यः
षष्ठी	देवस्य	देवयोः	देवानाम्
सप्तमी	देवे	देवयोः	देवेषु

इनके अतिरिक्त 'देवा' रूप भी बनता है, जो सातों विभक्तियों का रूप समझा जाता है। अधिकतर वह द्वितीया के द्विवचन में ही प्रयुक्त होता है। इसके अतिरिक्त वेद में कहीं कहीं एक विभक्ति दूसरी विभक्ति के अर्थ में भी प्रयुक्त होती है। यह सब बातें उदाहरण वाक्यों में स्पष्ट होंगी।

यौगिकवाद

उदाहरण देने से पूर्व एक और विषय का संकेत कर देना अत्यन्त आवश्यक है। नाम=संज्ञा-पद या तो रूढ होते हैं या योगरूढ अथवा यौगिक। इसका विस्तारपूर्वक निरूपण तो आगे चल कर करेंगे। यहाँ संक्षेप से परिचय कराते हैं।

जहाँ किसी प्रकार का विचार किए बिना किसी का कोई नाम धर दिया जाए, ऐसे नाम रूढ कहलाते हैं। जैसे संसार में कोई दरिद्र मनुष्य अपने बालक का नाम धनपति रख देता है। इसके विपरीत जिन नामों में प्रकृति प्रत्यय आदि के अनुसार रचना होती है, वे यौगिक कहलाते हैं जैसे पुरोहित, जिसका अर्थ होता है पुरः=आगे हितः=रखा गया अर्थात् नेता, लीडर। निरुक्त में भी इसका अर्थ यही लिखा है—पुर एनं दधति (नि० २।३।१२॥) इस निरुक्तवचन के अनुसार जो पदार्थ आगे रखा जाए, उसको पुरोहित कहा जाएगा।

जिस नामपद में प्रकृति प्रत्यय का विचार तां हा, किन्तु प्रकृति प्रत्यय के योग से प्रतीत होने वाले सब अर्थों को न कह कर वह किसी एक अर्थ का ही बोध कराए, उसे योगरूढ कहते हैं। यथा—नीरज। यह शब्द नीर और जन् धातु के योग=मेल से बनता है। इससे इसका अर्थ होना चाहिए—जल से (में) उत्पन्न होने वाला। कोई भी जल में पैदा होने वाली वस्तु नीरज कहला सकती है, किन्तु इसका अर्थ होता है कमल। कमल जल में पैदा होता है, इस कारण इसका 'नीरज' नाम ठीक है, किन्तु जल में (से) उत्पन्न होने वाले प्रत्येक पदार्थ को 'नीरज' नहीं कहते। नीरज शब्द यौगिक होता हुआ भी एक कमल रूप अर्थ में संकुचित हो जाने से योगरूढ कहलाता है। लौकिक भाषा में नामपद प्रायः रूढ या योगरूढ होते हैं किन्तु वेद में सभी नामपद यौगिक या योगरूढ होते हैं। जैसा कि निरुक्तकार श्रीयास्क मुनि जी ने लिखा है।

तत्र नामानि आख्यातजानि इति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च।

(नि० १।१।१२॥)

'नाम आख्यातज=धातुओं से बनने वाले=यौगिक होते हैं, ऐसा शाकटायन आचार्य और सभी नैरुक्तों का सिद्धान्त है।

वेदाध्ययन करते हुए इस सिद्धान्त को सदा सामने रखना चाहिए। अन्यथा बहुत अनर्थ होने की संभावना रहती है। मध्यकाल के वेदभाष्यकारों ने इस सिद्धान्त की अवहेलना करके वैदिक विद्या की बहुत हानि की है।

[ख]

देव शब्द का अर्थ

ऊपर हम बता चुके हैं कि वैदिक शब्द यौगिक होते हैं, अर्थात् प्रकृति प्रत्यय के मेल से बनते हैं। 'देव' शब्द भी, अतएव यौगिक है। यह शब्द 'दिवु' धातु से बनता है। पाणिनि जी के संकलित किए धातुपाठ में इसके निम्नलिखित अर्थ लिखे मिलते हैं—

क्रीडा=खेलना; विजिगीषा=जीतने की इच्छा करना; व्यवहार=व्यवहार; द्युति=चमकाना, प्रकाशित करना; स्तुति=गुणवर्णन करना; मोद=प्रसन्न होना, प्रसन्न करना; मद=मस्त होना, उन्मत्त होना, प्रमत्त होना, अहङ्कार करना; स्वप्न=सोना; कान्ति चमकना, प्रकाशित होना, चाहना; गति=जानना, जनाना, जाना, भेजना, प्राप्त होना, प्राप्त करना, प्राप्त कराना।

जिसमें क्रीडा करने, जीतने की इच्छा, व्यवहार, चमकना, चमकाना, स्तुति करना, कराना, आदि पाए जायें, उसे देव कहते हैं।

निरुक्तकार श्री यास्काचार्य ने 'देव' शब्द के संबन्ध में लिखा है—

देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा । यो देवः स देवता । नि० ७ । १५

देने के कारण से, चमकने के कारण से, चमकाने के कारण से देव होता है। अथवा द्यु में रहने वाला 'देव' होता है। जो देव, वही देवता।

यद्यपि निरुक्त के इस वचन में पाणिनि जी के बताए सारे अर्थ नहीं आए प्रतीत होते, किन्तु मुख्य अर्थों का समावेश अवश्य हो गया है। निरुक्तकार के मतानुसार प्रत्येक वह पदार्थ 'जो कुछ दे, या चमकता है, या दूसरों को चमकाता है, अथवा जिसका स्थान द्युलोक है' देव है। इससे भूमि, जल, आग, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह, किरण, गुरु, शिष्य, दानी आदि अनेक पदार्थों का नाम देव है। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'देव' शब्द के संबन्ध में कुछ विस्तार से लिखा है, उपयोगी होने से आवश्यक अर्थ यहाँ लिखते हैं।

१. विद्वाँसो हि देवाः । (शत० ३ । ७ । ३ । १०)

विद्वान् देव होते हैं।

२. ऋतवो वै देवाः । (शत० ७ । २ । ४ । २६)

ऋतुएँ देव हैं।

३. प्राणा देवाः । (शत० ६ । ३ । १ । १५)

प्राण देव हैं।

४. चन्द्रदेवः । (गो० पू० २ । १०)

आँख देव हैं।

५. मनो देवः । (गो० पू० २ । १०)
मन देव है ।
६. वाग् देवः । (गो० पू० २ । १०)
वाणी देव है ।
७. वायुर्वै देवाः । (जै० उ० ३ । ४ । ८)
वायु देव है ।
८. यशो देवाः । (शत० २ । १ । ४ । ६)
यश=कीर्ति देव है ।
९. श्रीर्देवाः । (शत० २ । १ । ४ । ६)
श्री=शोभा, लक्ष्मी देव है ।
१०. सर्वै वै देवाः त्विषीमन्तो हरस्विनः । (तै० ३ । ८ । ७ । ३)
सभी देव तेजस्वी और वेगवान् होते हैं ।
११. परोक्षक्रामा हि देवा । (शत० ६ । १ । १ । २)
परोक्ष के अभिलाषी देव होते हैं ।
१२. परोक्षप्रिया इव देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः । (गो० पू० २ । २१)
देव परोक्ष से प्रेम करते हैं, और प्रत्यक्ष के प्रेमी नहीं होते ।
१३. यदु ह किं च देवाः कुर्वते स्तोमेनैव तत्कुर्वते, यज्ञो वै स्तोमो, यज्ञेनैव तत्कुर्वते । (शत० ८ । ४ । ३ । २)
देव जो कुछ करते हैं, स्तोम के द्वारा करते हैं । यज्ञ को स्तोम कहते हैं, वे यज्ञ द्वारा ही करते हैं ।
१४. जाग्रति देवाः (शत० २ । १ । ४ । ७)
देव जागते रहते हैं ।
१५. न वै देवा स्वपन्ति । (शत० ३ । २ । २ । २२)
देव सोते नहीं ।
१६. यो वै देवानां पथैति स ऋतस्य पथैति । (शत० ४ । ३ । ४ । १६)
जो देवों के मार्ग पर चलता है, वह ऋत=सत्य, सृष्टिनियम के मार्ग से चलता है ।
१७. एकं ह वै देवा व्रतं चरन्ति सत्यमेव (शत० ३ । ४ । २ । ८)
देव एक सत्य व्रत का ही आचरण करते हैं ।
१८. सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः । (शत० १ । १ । १ । ४)
देव सत्य ही होते हैं, और मनुष्य अनृत ।

१६. सत्यसंहिता वै देवाः (ऐ० १।६)

देव सच्ची प्रतिज्ञावाले होते हैं।

२०. सत्यसमया उ देवाः (कौ० २।८)

देव सच्चे संकेतवाले होते हैं।

२१. अपहतपाप्मानो देवाः (शत० २।१।३।४)

पापरहित देव होते हैं।

२२. अथ देवा अन्योस्मिन्नेव जुह्वतश्चेरुः। (शत० ५।१।१।२)

देव एक दूसरे के लिए (परस्पर) ही होम करते हुए विचरते हैं।

२३. आनन्दात्मानो हैव सर्वे देवाः। (शत० १०।५।३।५)

सभी देव आनन्दमय होते हैं।

२४. प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति। (शत० १।२।५।२४)

देव दान से ही जीते हैं।

२५. देवाः वै स्वः। (शत० १।६।३।१४)

देव आनन्द होते हैं।

२६. गातुविदो हि देवाः। (शत० ४।४।४।१३)

गातु के (यज्ञ, शरीर, पृथिवी, ज्ञान, कर्म के) जाननेवाले देव होते हैं।

२७. देवा वै नृचक्षसः। (शत० ८।४।२।५)

मनुष्य को जाननेवाले (मनुष्य स्वभाव के परीक्षक, मनोवैज्ञानिक) देव होते हैं।

२८. अहरेव देवाः। (शत० २।१।३।१)

दिन ही देव हैं।

२९. देवा यज्ञियाः। (शत० १।५।२।३)

यज्ञिय (यज्ञ के द्वारा सत्करणीय, पूजनीय, सङ्गति करने योग्य, दान के पात्र) देव होते हैं।

इन ब्राह्मण वचनों से ज्ञात होता है कि विद्वान्, ऋतु, प्राण, आँख आदि इन्द्रियाँ, वायु, यश, शोभा, तेजस्वी पदार्थ, वेगवान् पदार्थ, परोक्ष से प्रीति रखने वाले, बाहर के संसार की उपेक्षा करने वाले, पारस्परिक सहयोग के द्वारा कार्य करनेवाले, जागरणशील=सावधान सतर्क, न सोनेवाले, अप्रमादी=प्रमादशून्य, ऋतु के मार्ग से चलनेवाले, सत्यव्रतधारी, सत्यप्रतिज्ञ, सत्यविद्य,, निष्पाप एक दूसरे का उपकार करने वाले, आनन्दी, आनन्द के साधन, आनन्द, सुख, दान देनेवाले, दान पर निर्वाह करनेवाले, अनेक विद्याओं के जाननेवाले, मनो-वैज्ञानिक, पूजनीय, वायु, सूर्य, प्रकाश आदि पदार्थ देव हैं। इसके अतिरिक्त वसु,



रुद्र, आदित्य आदि विभाग से तैंतीस देव, और देवों के कार्य, स्थान, जन्म आदि का भी निरूपण ब्राह्मण ग्रन्थों में किया गया है। उसे हमने छोड़ दिया है, उसे तथा वेद में दिए गए देव शब्द के अर्थों को आगे आने वाले 'वैदिक देवता-वाद' प्रकरण में दिखाएंगे। अब 'देव' शब्द के विविध रूपों को वाक्यों में देखिए—

१. देवो देवेभिरागमत् । (ऋ० १।१।५)

(देवः) देव (देवेभिः) देवों के साथ (आ+गमत्) आया, प्राप्त हुआ ।

२. अद्रुहा देवौ वर्धेते । (ऋ० ५।६८।४)

(अद्रुहा=अद्रुहौ) द्रोह न करनेवाले (देवौ) दो देव (वर्धेते) बढ़ते हैं ।

३. देवाः सीदन्तु यज्ञियाः (ऋ० २।४१।२१)

(यज्ञियाः) यज्ञ के योग्य (देवाः) विद्वान् (सीदन्तु) बैठें ।

४. देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा । (अ० ३।२२।२)

(ते) वे (विश्वधायसः) संसार का पालन करने वाले (देवासः) देव (मा) मुझ को (वर्चसा) तेज के साथ (अञ्जन्तु) प्राप्त हों ।

५. अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । (ऋ० १।१।१)

(पुरोहितम्) अगुआ (यज्ञस्य) यज्ञ के (देवम्) देव=प्रकाशक (ऋत्विजम्) ऋत्विक्, ऋतुओं के निर्माता (अग्निम्) अग्नि की (ईळे) स्तुति करता हूँ ।

६. आ चिकितान सुक्रतू देवौ मर्ते रिशादसौ । (ऋ० १।५६।५)

हे (मर्तं) मरनेवाले ! तू (सुक्रतू) उत्तम कार्य साधक (रिशादसौ) जंग लगानेवाले अथवा हिंसा का नाश करने वाले (देवौ) दो देवों को (आ) पूरी तरह (चिकितान) जान ।

७. यजाम देवान् यदि शक्नवाम । (ऋ० १।२७।१३)

[हम] (देवान्) देवों को (यजाम) यज्ञ, देवयज्ञ करें (यदि) यदि (शक्नवाम) समर्थ हों । अर्थात् यथाशक्ति हम देवयज्ञ करें ।

८. पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह । (अ० १।१।२)

हे (वाचः+पते) वाचस्पति=वाणी के स्वामिन् । (पुनः) फिर (देवेन) देव=दिव्य (मनसा सह) मन के साथ (आ + इहि) तू आ ।

९. देवाभ्यां सह याहि ।

(देवाभ्याम् सह) दो देवों के साथ (याहि) तू जा ।

१०. देवैरा सत्सि बर्हिषि । (ऋ० ५।२६।५)

(देवैः) देवों के साथ (बर्हिषि) यज्ञ में, आसन पर (आ) अच्छी तरह (सत्सि) बैठता है ।

११. अग्ने विश्वेभिरागहि देवेभिर्हव्यदातये । (ऋ० ५ । २६ । ४)

हे (अग्ने) अग्ने ! (हव्यदातये) हव्यदान के लिए (विश्वेभिः) सब (देवेभिः) देवों के साथ (आ + गहि) आ ।

१२. आशृण्वते अदृपिताय मन्म नृचक्षसे सुमृलीकाय वेधः । देवाय शस्ति-
ममृताय शंस ग्रावेव सोता मधुषुद्यमीळे । (ऋ० ४ । ३ । ३)

हे (वेधः) ज्ञानिन् ! मेधाविन् ! (ग्रावा + इव) मेघ के समान (सोता) यज्ञ करने वाला (मधुषुत्) मधुर पदार्थों के सृजन करने वाला मैं (यम्) जिसकी (ईंळ)स्तुति करता हूँ, ऐसे (आशृण्वते)पूरी तरह सुननेवाले (अदृ-
पिताय) दर्परहित (नृचक्षसे) मनुष्यता को चरितार्थ करने वाले (सुमृ-
लीकाय) प्रसन्न रहने वाले, सेवा द्वारा गुरु को प्रसन्न करने वाले (अमृ-
ताय) जीवन संपन्न, जल के समान शान्त स्वभाव वाले (देवाय) दिव्य-
गुणाभिलाषी, विद्या की कामना करने वाले को (मन्म) मननात्मक ज्ञान
तथा (शस्तिम्) शिक्षा (शंस) सिखा, उपदेश कर ।

मानो इस वेद मन्त्र का अनुवादरूप किसी प्राचीन आचार्य का वचन निरुक्तकार ने उद्धृत किया है—

विद्या हवै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मां शेषधिष्टे अहमस्मि ।

असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूयाः वीर्य्यवती यथा स्याम ॥

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्य्योपपन्नम् ।

यस्ते न द्रुह्येत कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥इति।निरु. २।१।४

अर्थात्—विद्या ब्राह्मण के पास आई [और बोली], 'मेरी रक्षा कर, मैं तेरी उत्तम निधि हूँ । असूयक, कुटिल तथा असंयमी को मेरा उपदेश न करना, जिससे मैं शक्तिवाली बन सकूँ । जिसको तू पवित्र, सावधान, बुद्धिमान् और ब्रह्मचर्य्यवान् समझे और जो तेरा कभी द्रोह न करे, हे ब्रह्मन् ! ऐसे निधिरक्षक को मेरा उपदेश करना ।'

इसी आशय के दो श्लोक मनुस्मृति के दूसरे अध्याय में भी मिलते हैं—

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेषधिस्तेस्मि रक्ष माम् ।

असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्य्यवत्तमा ॥ ११४ ॥

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम् ।

तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रसादिने ॥ ११५ ॥

अर्थ सर्वथा वही है । अस्तु—

१३. देवाभ्यां पयो देहि

(देवाभ्याम्) दो देवों को (पयः) दूध (देहि) दू दे ।

१४. अवसृजा देव वनस्पते देव देवेभ्यो हविः (ऋ० १ । १३ । ११)

हे (वनस्पते) वनरक्षक (देव) दिव्यवाले (देव) देव, अधिकारिन् ! (देवेभ्यः) देवों के लिए (हविः) होमसामग्री को (अव+सृज) उत्पन्नकर, बना ।

भाष्यकारों ने यहाँ 'वनस्पति' शब्द का अर्थ महावृक्ष करके 'वनस्पते' संबोधन को और उसके साथ ही 'देव' संबोधन को भी विभक्ति-विपरिणाम के द्वारा प्रथमान्त मान कर अर्थ इस प्रकार किया है—(देव=देवः) फलादि का देने वाला (वनस्पतिः) वनों के वृक्ष और ओषधि आदि पदार्थों को अधिक वृष्टि के हेतु से पालन करने वाला (देवेभ्यः) दिव्य गुणों के लिए (हविः) हवन करने योग्य पदार्थों को (अव+सृज=अव+सृजति) उत्पन्न करता है ।

१५. देवात् विद्यां गृहाण ।

(देवात्) देव=विद्वान् से (विद्याम्) विद्या को (गृहाण) ग्रहण कर ।

१६. देवाभ्याम् मातापितृभ्यां जातो वदुः पटुर्भवति ।

(देवाभ्याम्) दिव्य गुण वाले, विद्वान् (मातापितृभ्याम्) माता और पिता से (जातः) उत्पन्न (वदुः) बालक (पटुः) चतुर (भवति) होता है ।

१७. युधेन्द्रो महा वरिवश्चकार देवेभ्यः सत्पतिश्चर्षणिप्राः । ऋ० ३।३४।७)

(सत्पतिः) सज्जन रक्षक (चर्षणिप्राः) मनुष्यों को [विद्यासुशिक्षादि से] प्रसन्न करने वाला (इन्द्रः) राजा (देवेभ्यः) विद्वानों से [शिक्षा पाकर] (महा) महान् (युधा) युद्ध के द्वारा (वरिवः) सेवा (चकार) करता है ।

१८. अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम । (ऋ० १।२४।२)

(वयम्) हम (अमृतानाम्) विनाशरहितों में से (प्रथमस्य) प्रथम, मुख्य (अग्नेः) सर्वाग्रणी (देवस्य) प्रकाशस्वरूप परमात्मा का (चारु) सुन्दर (नाम) नाम (मनामहे) अभ्यास करते हैं ।

१९. उद्वां चक्षुर्वरुणा सुप्रतीकं देवयोरेति सूर्यस्ततन्वान् । (ऋ० ७।६१।१)

हे (वरुण) श्रेष्ठ ! (वाम्) तुम दोनों (देवयोः) विद्वानों के (सुप्रतीकम्) उत्तम प्रकार से रूपादि का ज्ञान करानेवाले (चक्षुः) आँख को (ततन्वान्) विस्तृत करता हुआ (सूर्यः) सूर्य (उत+एति) ऊपर आता है=उदय होता है ।

२०. पुरोगा अग्निर्देवानाम् ॥ (ऋ० १।१८८।१०॥)

(अग्निः) अग्नि (देवानाम्) देवों का (पुरोगाः) अग्रगामी=मुखिया है ।

२१. वितिष्ठध्वं मरुतो विच्चिच्छत गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन । वयो ये भूत्वी पतयन्ति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिर देवे अध्वरे ॥

(अ. ८।४।१८॥)

हे (मरुतः) [रोगजनक कीटादि को] मारने वालो ! अथवा सैनिको ! (वितिष्ठध्वम्) विशेष रूप से ठहरो । (विष्णु) प्रजाओं में (इच्छत) [शुभ की] इच्छा करो । (रक्षसः) राक्षसों को (गृभायत) पकड़ो [और उनको] (सम्) अच्छी तरह (पिनष्टन) पीस डालो । (ये) जो राक्षस (वयः) उड़ने वाले (भूत्वी) होकर (नक्तभिः) रात्रियों में (पतयन्ति) उड़ते हैं, गिरते हैं और गिराते हैं । (वा) अथवा (ये) जो (देवे) दिव्यगुणसम्पादक अथवा परमात्मा के निमित्त (अध्वरे) हिंसारहित यज्ञ में (रिपः) विघ्न (दधिर) डालते हैं ।

२२. देवयोः मातापित्रोः श्रद्धत्स्व ।

(देवयो) दिव्य गुण वाले (मातापित्रोः) माता पिता पर (श्रद्धत्स्व) श्रद्धा कर ।

२३. द्रविणोदा ददातु नो वसूनि यानि शृण्वरे । देवेषु ता वनामहे ॥

ऋ० १।१५।८॥

(यानि) जो (वसूनि) धन (शृण्वरे) सुने जाते हैं, वह (द्रविणोदाः) धन-दाता परमात्मा (नः) हमें (ददातु) देवे । (ता=तानि) उनको (देवेषु) देवों में (वनामहे) हम बांटते हैं ।

२४. यस्त्वामग्ने हविष्पतिर्दूत देव सपर्यति । तस्य स्म प्राविता भव ॥

ऋ० १।१२।८॥

हे (अग्ने) सर्वाग्रणी (देव) देव ! (यः) जो (हविष्पतिः) होम-सामग्री का रक्षक (त्वाम्) तुझ (दूतम्) दूत को (सपर्यति) सेवता है, (तस्य) उसका (प्राविता) उत्तम प्रकार से रक्षा (भव स्म) हो ही ।

२५. एष वां देवावश्विना कुमारः साहदेव्यः । दीर्घायुरस्तु सोमकः ॥

ऋ० ४।१५।१॥

हे (अश्विनौ) सब विद्याओं में भरपूर (देवौ) विद्वान् अध्यापक और उपदेशक ! (एषः) यह (वाम्) तुम दोनों का (साहदेव्यः) विद्वानों के संग करने वालों में श्रेष्ठ (सोमकः) शान्त-स्वभाव वाला, सुशील (कुमारः) कुमार, ब्रह्मचारी (दीर्घायुः) दीर्घ आयु वाला (अस्तु) होवे ।

२६. देवा यात पथिभिर्देवयानैः ॥ ऋ० ४।३७।१॥

हे (देवाः) विद्वानो ! अथवा साधको ! (देवयानैः) विद्वानों के जाने योग्य (पथिभिः) मार्गों से जाओ ।

२७. ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवासः आगत । दाश्वांसो दाशुषः सुतम् ॥
ऋ० १।३।७॥

हे (विश्वे) सब (ओमासः) ब्रह्मनिष्ठ (चर्षणीधृतः) प्रजाधारक (दाश्वांसः) दानी (देवासः) विद्वानो ! (दाशुषः) दानशील के (सुतम्) यज्ञ में (आ गत) आओ । अथवा (दाशुषः) दानशीलों को (सुतम्) संसार का सर्वोत्तम पदार्थ (आ + गत) सब ओर से पहुँचाओ, प्राप्त कराओ ।

२८. या सुरथा रथीतमोभा देवा दिविस्पृशा । अश्विना ता हवामहे ॥

ऋ० १।२२।२॥

(या) जो (सुरथा) जिनके संबन्ध से उत्तम रथ बनते हैं ऐसे (रथीत-मा) श्रेष्ठ रथों वाले (दिविस्पृशा) द्युलोक में स्पर्श कराने वाले, आकाश में ले जाने वाले (देवा) दो देव, प्रकाश आदि दिव्य गुणों वाले हैं । (ता) उन (अश्विना) अग्नि और जल को (हवामहे) हम चाहते हैं ।

२९. वयं देवा हवामहे ॥ ऋ० ६।५६।३॥

(वयम्) हम (देवा) विद्वान् (हवामहे) चाहते हैं, बुलाते हैं ।

३०. उभा देवा दिविस्पृशेन्द्रवायू हवामहे । अस्य सोमस्य पीतये ॥

ऋ० १।२३।२॥

(उभा) दोनों (दिविस्पृशा) प्रकाशमय आकाश में स्पर्श कराने वाले (देवा) दिव्य-गुण वाले (इन्द्रवायू) सूर्य और वायु को, अथवा अग्नि और वायु को (अस्य) इस (सोमस्य) सोम के=संसार के (पीतये) पान के लिए=भोग के लिए (हवामहे) हम चाहते हैं ।

यहाँ हमने देव शब्द के सभी रूपों के उदाहरण दे दिए हैं । सभी अर्थों के उदाहरण देने से पाठ बहुत लम्बा हो जाता, इस कारण कुछ एक अर्थों के ही उदाहरण दिए जा सके हैं ।

जिस प्रकार 'देव' शब्द के रूप बनते हैं, उसी प्रकार समस्त अकारान्त पुँल्लिङ्ग शब्दों के रूप बनते हैं । अर्थात् इन्द्र, सोम, यम, वरुण, पुरुष, मित्र, वाज आदि शब्दों के रूप 'देव' की भांति चलते हैं । जिन शब्दों में 'र' या 'व' है, उनके 'तृतीया' के एक वचन और 'पञ्ची' के बहुवचन में 'न' को 'ण' हो जाता है । यथा—इन्द्रेण, इन्द्राणाम् । पुरुषेण, पुरुषाणाम् ।

द्वितीयः पाठः

[क]

‘सर्व’ शब्द के रूप—

- | | | | | | |
|-----------|-------------|------------------|---------------|-------------|-----------|
| १. सर्वः | सर्वो | सर्वे | ४. सर्वस्मै | सर्वाभ्याम् | सर्वेभ्यः |
| सं. सर्व | सर्वो | सर्वे | ५. सर्वस्मात् | सर्वाभ्याम् | सर्वेभ्यः |
| २. सर्वम् | सर्वो | सर्वान् | ६. सर्वस्य | सर्वयोः | सर्वेषाम् |
| ३. सर्वेण | सर्वाभ्याम् | सर्वैः, सर्वेभिः | ७. सर्वस्मिन् | सर्वयोः | सर्वेषु। |

‘सर्व’ शब्द अकारान्त है। पुल्लिङ्ग ‘सर्व’ शब्द के रूप ‘देव’ शब्द के रूपों से मिलते हैं, केवल प्रथमा बहुवचन, चतुर्थी एकवचन, पंचमी एकवचन षष्ठी बहुवचन और सप्तमी एकवचन में इसके रूपों का ‘देव’ शब्दों से भेद है। यथा—

देव	सर्व
प्रथमा बहुवचन—देवाः, देवासः	सर्वे
चतुर्थी एकवचन—देवाय	सर्वस्मै
पंचमी एकवचन—देवात्	सर्वस्मात्
षष्ठी बहुवचन—देवानाम्	सर्वेषाम्
सप्तमी एकवचन—देवे	सर्वस्मिन्

इसके अतिरिक्त और सब रूपों में समानता है। अकारान्त सभी ‘सर्व-आदि’ गण के शब्दों के रूप इसी प्रकार चलते हैं। इस सिद्धान्त को पाठक भली प्रकार अपने हृदय में बिठा लें।

वैयाकरणों ने शब्दों के एक समूह का नाम ‘सर्वनाम’ गण रखा है। इस गण का पहला शब्द ‘सर्व’ है, अतः इसका नाम सर्वादि भी है। सर्वादि गण के प्रायः सारे शब्द पूर्ववर्णित संज्ञापदों के बदले में आते हैं। अंग्रेज़ी में ऐसे शब्दों को Pronoun कहते हैं। वैयाकरणों ने निम्नलिखित शब्दों का समावेश इस गण में किया है—

सर्व=सब, विश्व=सब, उभ=दो, उभय=दोनों, डतर, डतम, इतर=दूसरा
 अन्य=दूसरा, भिन्न, अन्यतर=दो में से कोई एक, त्वत् (त्व)=दूसरा, त्व=एक
 कोई, नेम=आधा, सम=सब, सिम्=सब, पूर्व=पहला, पर=परला, अवर=वरला
 दूसरा, दक्षिण=चतुर, उत्तर=श्रेष्ठ, अधर=निचला, अपर=दूसरा, स्व=आप और
 अपना, अन्तर=बाहर का और उत्तरीय, त्यद्=वह, तद्=वह, यद्=जो, पतद्=यह,
 इदम्=यह, अदस=वह फुलां, एक=एक, द्वि=दो, युष्मद्=तुम, अस्मद्=मैं
 हम; भवत्=आप, किम्=क्या।

इनमें से डतर और डतम प्रत्यय हैं। प्रत्यय से प्रत्यय नहीं आया करते। इस वास्ते डतर प्रत्यय जिसके अन्त में हो, और डतम प्रत्यय जिसके अन्त में हो, उस शब्द का नाम ‘सर्वनाम’ होगा, जैसे—कतर, कतम, यतर, यतम, ततर, ततम इत्यादि।

पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अधर, अपर, स्व, और अन्तर शब्दों के रूप

किन्हीं किन्हीं विभक्तियों में दो दो अर्थात् वैकल्पिक बनते हैं—एक सर्वनाम के नियमानुसार और दूसरा देव शब्द के समान । यदि यह सर्व-आदि शब्द किसी व्यक्ति या वस्तु के नाम हों, तब इनकी 'सर्वनाम' संज्ञा नहीं रहती । तब इनके रूप सर्वनाम के नियमानुसार न होकर देवशब्द के रूपों के अनुरूप ही बनते हैं । 'सम' शब्द का अर्थ 'समान होता है, तब इसकी गणना सर्वनामों में नहीं होती ।

अब इनके कुछ उदाहरण लीजिए—

१. अरिष्टः सर्वः पृथते । ऋ० १।४१।२
(सर्वः) सब (अरिष्टः) दुःखरहित (पृथते) बढ़ता है ।
२. तं त्वा भग सर्व इजोहवीति । ऋ० ७।४१।५
हे (भग) ऐश्वर्यवान्, पूजनीय परमेश्वर ! (तम्) उस (त्वा) तुझको (सर्वः) सब (इत्) ही (जोहवीति) पुकारता है ।
३. सर्वे ते क्रिमयो हताः । अ० २।३२।५
(ते) वे (सर्वे) सब (क्रिमयः) क्रिमि=कीड़े (हताः) मारे गए ।
४. मम देवा विहवे सन्तु सर्वे । अ० ५।३।३
(सर्वे) सब (देवाः) देव, विद्वान् (मम) मेरी (विहवे) पुकार में (सन्तु) हों । अर्थात् सब विद्वान् मेरी बात सुना करें ।
५. सर्वे रक्षो नि बर्हय । ऋ० १।१३३।५
(सर्वम्) सब (रक्षः) राक्षस=रोग के अणु को (नि) नितरां=सर्वथा (बर्हय) नाश कर ।
६. सर्वे तद्वाचाप हन्मो वयम् ॥ अ० १।१८।३
(तत्) उस (सर्वम्) सबको (वयम्) हम (वाचा) वाणी से (अप + हन्मः) दूर भगाते हैं ।
७. अजैषं सर्वानाजीन् ॥ अ० २।७।६
मैंने (सर्वान्) सब (आजीन्) युद्धों को (अजैषम्) जीता ।
८. सर्वा इत्तां अनु विदुर्वसिष्ठाः । ऋ० ७।३३।७
(तान्) उन (सर्वान्) सबको (इत्) ही (वसिष्ठाः) सबको वास देने वाले श्रेष्ठ वक्ता (अनु + विदुः) अनुकूलता से जानते हैं ।
९. इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह । अ० ५।३०।६
हे (पुरुष) पुरुष ! (सर्वेण) सारे (मनसा + सह) मन के साथ (इह) यहां (पृथि) हो । अर्थात् पूर्ण विचार शक्ति के साथ इस संसार में रहो ।
१०. सं हि सूर्येणागत समु सर्वेण चक्षुषा । अ० १०।१०।१५
(सूर्येण + समु) सूर्य के साथ (हि) ही (आगत) आओ, (उ) और

(सर्वेण) संपूर्ण (चक्षुषा + सम्) दर्शन शक्ति के साथ [आओ] ।

११. ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः ।

तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं संस्रावयामसि ॥ अ० १।१५।३

(नदीनाम्) नदियों के (सद्म्) सदा (अक्षिताः) अक्षीण, समाप्त न होने वाले (ये) जो (उत्सासः) सोते (सं + स्रवन्ति) भली प्रकार चलते हैं, बहते हैं, (तेभिः) उन (सर्वैः) सब (संस्रावैः) संस्रावों = बहावों के द्वारा (मे) मेरे = अपने (धनम्) धन को (सं + स्रावयामसि) हम भली प्रकार बहाते हैं ।

उत्सासः उत्स का प्रथमाविभक्ति में बहुवचन है, जिस प्रकार देव का देवासः ।

१२. ऋतेन गुप्त ऋतुभिश्च सर्वैर्भूतेन गुप्तो भव्येन चाहम् । मा मा प्रापत्पाप्मा मोत मृत्युरन्तर्दधेऽहं संलिलेन वाचः । अ० १७।१।२६

(अहम्) मैं (ऋतेन) सदा प्रगतिशील सृष्टिनियम के द्वारा (च) और (सर्वैः) सब (ऋतुभिः) ऋतुओं के द्वारा (गुप्तः) सुरक्षित हूँ । (भूतेन) भूत के द्वारा, और (भव्येन) भविष्यत् के द्वारा (च) और वर्तमान के द्वारा (गुप्तः) सुरक्षित हूँ । [अतः] (पाप्मा) पापी, पाप, पाप विचार (मा) मुझ को (मा) मत (प्रापत्) प्राप्त होवे (उत) और (मा) नहीं (मृत्युः) मौत [मुझको प्राप्त होवे ।] (अहम्) मैं (संलिलेन) ज्ञान प्रवाह से (वाचः) (अन्तः + दधे) ढक देता हूँ ।

अर्थात् जो मनुष्य सृष्टि-नियम के अनुकूल आचरण करता है । प्रत्येक ऋतु में उस ऋतु के अनुकूल आहार व्यवहार करता है, तथा जिसका पिछला आचरण उत्तम है, जो वर्तमान में सावधान है, और भविष्य को सदा सामने रखता है, उसे पाप्मा, बुरे विचार, रोग एवं मृत्यु कैसे सता सकते हैं ।

१३. शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा ।

शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥ अ० ३।२८।३

(पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिए (शिवा) कल्याण करने वाली (भव) हो (गोभ्यः) गौओं के लिए, अर्थात् दूध देने वाले पशुओं के लिए और (अश्वेभ्यः) घोड़ों के लिए अर्थात् भार ढोने वाले पशुओं के लिए (शिवा) सुख देने वाली हो । और (अस्मै) इस (सर्वस्मै) सब (क्षेत्राय) क्षेत्र के लिए, शरीर के लिए, खेत के लिए (शिवा) सुखदायिनी हो और (नः) हमारे लिए (इह) इस संसार में (शिवा) कल्याणकारिणी (एधि) हो ।

१४. ये वो देवाः पितरो ये चे पुत्राः सचेतसो मे शृणुतेदमुक्तम् ।

सर्वेभ्यः वः परि ददाम्येतं स्वस्त्येनं जरसे वहाथ ॥ अ० १।३०।२

हे (देवाः) विद्वानो ! (मे) जो (वः) तुम्हारे (पितरः) पिता, बाप दादा (च) और (ये) जो (पुत्राः) पुत्र हैं । [ऐसे तुम सब] (सचे-
तसः) सावधान होकर (मे) मेरे (इदम्) इस (उक्तम्) कथन को
(शृणुत) सुनो । (वः) तुम (सर्वेभ्यः) सब के लिए (एतम्) यह
(परि+ददामि) देता हूँ (जरसे) बुढ़ापे के लिए, वृद्धावस्था प्राप्ति के
लिए (स्वस्ति) सुख पूर्वक (एनम्) इसको (वहाथ) तुम धारण करो,
अर्थात् युवावस्था में तुम्हारी मृत्यु न हो ।

१५. तस्मै सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्य ईशानमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥

अ० १५।५।१४

(तस्मै) उसके लिए (ईशानम्) ईशान को (सर्वेभ्यः) सब (अन्तर्देशेभ्यः)
अन्तराल देशों से (इष्वासम्) तीर फेंकने वाला (अनुष्ठातारम्) अनुष्ठान
करने वाला (अकुर्वन्) बनाया ।

पूर्वोक्त उदाहरण में सर्वेभ्यः चतुर्थी के बहुवचन का रूप है, और इसमें
पंचमी के बहुवचन का ।

१६. यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि ब्रूहामि ते । ऋ १०।१६।३।५

(तम्) उस=पूर्वोक्त (इदम्) इस (यक्ष्मम्) यक्ष्म=रोग को (ते) तेरे
(सर्वस्मात्) संपूर्ण (आत्मनः) शरीर से (वि+ब्रूहामि) विशेष रूप
से उखाड़ता हूँ ।

आत्मा शब्द के अनेक अर्थ होते हैं । जैसे—परमात्मा, जीवात्मा, मन,
शरीर, आप, अपना । यहाँ प्रकरण के अनुसार आत्मा शब्द का अर्थ
शरीर है ।

१७. अयं त्वा सर्वस्मात्पापाद्वरणो वारयिष्यते । अ० १०।३।४

(अयम्) यह (वरणः) वरण=निवारणसामर्थ्य (त्वा) तुझको (सर्व-
स्मात्) सब (पापात्) पाप से (वारयिष्यते) वारण करेगा, हटाएगा,
रोकेगा ।

१८. आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः ।

आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥ ऋ १०।१३।६

(वै+उ) निश्चय ही, सचमुच ही (आपः) जल (भेषजीः) दवा (इत्)
ही हैं, और (आपः) जल (अमीवचातनीः) रोग बीजों का नाश करने
वाले हैं । (आपः) जल (सर्वस्य) सब की (भेषजीः) दवा हैं । (ताः)
वह (ते) तेरी (भेषजम्) दवा (कृण्वन्तु) करें ।

‘अमीव’ शब्द का अर्थ रोग का बीज, Germ of the disease होता है ।

जल को दवा, रोग-बीज-नाशक तथा सब की दवा कह कर एक महत्त्वपूर्ण

निर्देश दिया है। स्पष्ट ही वेद जलचिकित्सा का आदिम उपदेशक है।

१६. प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।

यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ अ० ११।४।१

उस (प्राणाय.) प्राण=जीवनाधार परमेश्वर के लिए (नमः) नमस्कार ; (यस्य) जिसके (वशे) बस में (इदम्) यह (सर्वम्) सब है। और (यः) जो (सर्वस्य) सब का (भूतः) यथार्थ, सच्चा (ईश्वरः) ईश्वर, स्वामी है, और (यस्मिन्) जिसमें (सर्वम्) सब (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है, आश्रित है।

२०. सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम् ।

भिनद्म्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम् ॥ अ० ५।२३।१३

(च) और (सर्वेषाम्) सब (क्रिमीणाम्) क्रिमियों=बीमारी फैलानेवाले कीड़ों का (च) और (सर्वासाम्) सब (क्रिमीणाम्) बीमारी फैलानेवाली कीड़ियों का (शिरः) सिर (अश्मना) बिजली रूपी पत्थर से (भिनद्मि) तोड़ता हूँ, कुचलता हूँ। [और इनके] (मुखम्) मुख को (अग्निना) अग्नि से (दहामि) जलाता हूँ।

बीमारी फैलानेवाले कीड़े नर और मादा दोनों प्रकार के होते हैं। उनके नाश के लिए बिजली और आग के प्रयोग का निर्देश इस मन्त्र में देखने योग्य है।

२१. तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत ॥ अ० ११।६।२६

तुम (तेषाम्) उन (सर्वेषाम्) सबके (ईशानाः) स्वामी (उत्तिष्ठत) उठो।

२२. यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान् यथाप ओषधीषु यशस्वतीः ।

एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम ॥ अ० ६।५८।२

(यथा) जैसे (इन्द्रः) इन्द्र=सूर्य (द्यावापृथिव्योः) द्यूलोक और पृथिवी-लोक में (यशस्वान्) यशवाला है। और (यथा) जैसे (ओषधीषु) ओषधियों में (आपः) जल (यशस्वतीः) कीर्तिमान् है (एवा) ऐसे ही (वयम्) हम (विश्वेषु) सब (देवेषु) दिव्य गुणवाले विद्वानों में तथा (सर्वेषु) सब में=सर्वसाधारण में (यशसः) यशवाले हों।

विशाल द्यूलोक और पृथिवीलोक को प्रकाशित करने के कारण सूर्य सचमुच यशवाला है। सब रोगों को नाश करने के कारण ओषधियों में सर्वश्रेष्ठ होने के कारण जल भी कीर्तिमय है।

२३. पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिर्द्यौः शान्तिरापः शान्तिर्विश्वे मे देवा शान्तिः सर्वे मे देवाः शान्तिः शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः ।

शान्तिभिः सर्वं शान्तिभिः शमयामोऽहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः ॥ अ० १६।१६।१४

(पृथिवी) पृथिवी (शान्तिः) शान्तियुक्त हो, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (शान्तिः) उत्पातरहित हो (द्यौः) द्यौ (शान्तिः) उपद्रव शून्य हो । (आपः) जल अथवा प्रकृति की सूक्ष्म कार्यवास्था (शान्तिः) शान्ति-कारक हों । (मे) मेरे (विश्वे) सब (देवाः) देव इन्द्रियादिक (शान्तिः) शान्ति देनेवाले हो (सर्वे) सब (देवाः) दिव्य शक्तियाँ (मे) मेरे लिए (शान्तिः) शान्त हों । (शान्तिः) शान्ति, शान्ति की भावना (शान्ति-भिः) शान्तियों के द्वारा, शान्तियों के साथ (शान्तिः) शान्ति देनेवाली हो । हे (सर्व) गतिदाता, ज्ञानदाता, सर्वव्यापक, हमारे सर्वस्व प्रभो । (ताभिः) उन (शान्तिभिः) शान्ति देनेवाली (शान्तिभिः) शान्तियों के द्वारा (अहम्) मैं (शमयामः) शान्त करता, कराता हूँ (यत्) जो (इह) यहाँ इस संसार में (घोरम्) घोर है (यत्) जो (इह) यहाँ (क्रूरम्) कठोर है (यत्) जो (इह) यहाँ (पापम्) पाप है, पापमय है । (तत्) वह (शान्तम्) शान्त हो जाए । (तत्) वह (शिवम्) कल्याणकारी हो (सर्वम्) सब (एव) ही (नः) हमारे लिए (शम) सुखदायक (अस्तु) हो, अथवा (नः) हमारा (सर्वम्) सब कुछ (शम्+अस्तु) सुखदायक हो ।

इस मन्त्र में अनेक बातें ध्यान देने योग्य हैं । हम केवल दो की ओर पाठकों का ध्यान खींचना चाहते हैं । शान्ति सबको प्यारी लगती है, चंचल से चंचल तथा चपल और उपद्रवी मनुष्य भी शान्ति चाहता है । शान्ति जैसे व्यक्ति के लिए सुखदायक है, वैसे जाति के लिए भी । किन्तु देखा गया है कि कभी कभी शान्ति अशान्ति और क्लेश का कारण बन जाती है । वेद उपदेश करता है । पृथिवी आदि सब पदार्थों की शान्ति का फल तुम्हारी शान्ति में होना चाहिए । दूसरी बात यह है कि वास्तविक शान्ति तभी समझनी चाहिए, जब वे सब पदार्थ जो पहले अशान्ति का कारण बन रहे थे, अब शान्ति का कारण बन जाएँ ।

[ख]

हमने 'सर्व' शब्द के उन रूपों के उदाहरण दिए हैं, जो वेद में मिलते हैं । अब कुछ उदाहरण अन्य अकारान्त सर्वनामों के दिए जाते हैं ।

१. दुर्गे चन ध्रियते विश्व आ पुरु जनो यो अस्य तविषीमचुक्रुधत् ।

ऋ० ५।३।४

(विश्वः) संपूर्ण (जनः) जन (आ) सब ओर से (पुरु) अनेक प्रकार के (दुर्गे) कष्ट में (चन) ही (ध्रियते) धारण किया जाता है (यः) जो (अस्य) इसकी (तविषीम्) शक्ति को (अचुक्रुधत्) बार बार क्रद्ध

करता है, भड़काता है ।

२. ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवासः आगत ।

दाश्वांसो दाशुषः सुतम् ॥ ऋ० १।३।७

हे (ओमासः=ओम्+आसः) ओम् में रहनेवाले=ब्रह्मनिष्ठ (चर्षणीधृतः) प्रजाओं के धारण करनेवाले (दाश्वांसः) दानी (विश्वे) संपूर्ण (देवासः) विद्वानो ! (दाशुषः) दानी के (सुतम्) यज्ञ को (आ+गत) प्राप्त करो ।

३. विश्वं समत्रिणं दह । ऋ० १।३६।१४

(विश्वम्) सब (अत्रिणम्) खानेवाले=सर्वभक्षक को (सम् + दह) भली प्रकार जला ।

४. विश्वान् देवान् हवामहे मरुतः सोमपीतये । ऋ० १।२३।१०

(विश्वान्) सब (देवान्) दिव्य गुणवाले (मरुतः) मनुष्यों को (सोम-पीतये) सोमपान के लिए (हवामहे) हम बुलाते हैं ।

५. उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह । ऋ० १।५०।१३

(अयम्) यह (आदित्यः) आदित्य, सूर्य (विश्वेन) संपूर्ण (सहसा+सह) तेज, बल, शक्ति के साथ (उद्+अगात्) ऊपर को आया है, उदय हुआ है ।

६. विश्वेभिरग्रे स्वयशोभिरिद्धोऽदब्धेभिः पायुभिः पाह्यसान् ॥ ऋ० १।६५।६

हे (अग्रे) अग्रे ! (विश्वेभिः) संपूर्ण (स्वयशोभिः) अपनी कीर्ति-वाले (अदब्धेभिः) न दबने वाले (पायुभिः) रक्षणसाधनों से (अस्मान्) हमको (पाहि) बचा ।

७. विश्वस्मा उग्रः कर्मणे पुरोहितः ॥ ऋ० १।५५।२

इन्द्र (विश्वस्मै) संपूर्ण (कर्मणे) कर्म के लिए (उग्रः) तीव्र (पुरोहितः) अगुआ है ।

'विश्वस्मै' के स्थान में 'विश्वस्मा' सन्धि के कारण हुआ । सन्धि के नियम आगे बताए जाएंगे ।

८. बृहते च वै स रथन्तराय चादित्येभ्यश्च विश्वेभ्य आ वृश्नते । य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥ अ० १।५।२।३

(बृहते) बृहत् के लिए (च) और (रथन्तराय) रथन्तर के लिए (च) और (आदित्येभ्यः) आदित्यों के लिए (च) और (विश्वेभ्यः) संपूर्ण (देवेभ्यः) देवों के लिए (वै) ही (सः) वह (आ) सब ओर से, सब प्रकार से (वृश्नते) कट जाता है । (यः) जो (पवम्)

इस प्रकार के (विद्वांसम्) ज्ञानी (ब्राह्म्यम्) व्रतधारी को (उप + वदति) निन्दा करता है ।

६. त्वं विश्वस्माद् भुवनात्पासि धर्मणासुर्यात्पासि धर्मणा । ऋ० १।१४।५
(त्वम्) तू (धर्मणा) धर्म के द्वारा (विश्वस्मात्) संपूर्ण (भुवनात्) लोक से (पासि) रक्षा करता है । [और] (धर्मणा) धर्म के द्वारा (असुर्यात्) असुर भाव से (पासि) बचाता है ।

१०. यथा विद्वां अरं करद्विश्वेभ्यो यजतेभ्यः ।

अयमग्ने त्वे अपि यं यज्ञं चकृमा वयम् ॥ ऋ० २।५।८

हे (अग्ने) अग्ने ! (यथा) जैसे (अयम्) यह विद्वान् (विश्वेभ्यः) सम्पूर्ण (यजतेभ्यः) यजन करने वाले, विद्यादाता विद्वानों से [विद्या प्राप्त करके] (यम्) जिस (यज्ञम्) यज्ञ को (अरम् + करत्) अलङ्कृत करता है, सजाता है, पूर्ण करता है । (वयम्) हम (अपि) भी (त्वे) तेरे प्रति [वैसा] (चकृम) करें ।

११. इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता । ऋ० १।११।४

(इन्द्रः) इन्द्र (विश्वस्य) सब (कर्म) कर्मका (धर्ता) धर्ता=धारण करने वाला है ।

१२. अग्निं विश्वेषामरतिं वसूनां सपय्यामि प्रयसा यामि रत्नम् । ऋ० १।५।७
(विश्वेषाम्) सम्पूर्ण (वसूनाम्) धनों के (अरतिम्) आधारभूत (अग्निम्) अग्नि को (प्रयसा) प्रयत्न से (सपय्यामि) सेवता हूँ और (रत्नम्) रत्न को (यामि) प्राप्त करता हूँ ।

‘सेवा का फल मेवा’ का उपदेश है ।

१२. भुवो नृश्च्यौत्नो विश्वस्मिन्भरे । ऋ० १० । ५० । ४

(विश्वस्मिन्) सब (भरे) युद्ध में (नृन्) मनुष्यों को (च्यौत्नः) गिराने वाला (भुवः) तू है ।

१३. त्वं विश्वेषु सेन्यो जनेषु । ऋ० ७ । ३० । २

(त्वम्) तू (विश्वेषु) सब (जनेषु) मनुष्यों में से (सेन्यः) सेना रखने योग्य=सेनापति है ।

१४.-१५. उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।

उतो त्वस्मै तन्नं विसृजे जायेव पत्य उशती सुवांसाः ॥ ऋ० १०।७।१४
(उत) और (त्वः) एक, कोई (पश्यन्) देखता हुआ [भी] (वाचम्) वाणी को, वेदवाणी (न) नहीं (ददर्श) देखता है । (उत) और (त्वः) एक कोई (शृण्वन्) सुनता हुआ [भी] (एनाम्) इस वाणी को (न) नहीं (शृणोति) सुनता है । (उत) और (त्वस्मै) किसी के लिए तो (पत्ये) पति की (उशती) कामना करती हुई (सुवांसाः)

ऋतुस्त्राता (जाया+इव) पत्नी की भांति (तन्वम्) विस्तार को, शरीर को (वि+सस्त्रे) खोल देती है ।

इस मन्त्र में 'त्व' शब्द के त्वः—प्रथमा विभक्ति का एक वचन तथा त्वस्मै—चतुर्थी विभक्ति का एक वचन है ।

ऋग्वेद के १०।७१ सूक्त का विषय 'ज्ञान' है । 'सृष्टि के आरंभ में भगवान् ने मनुष्य को किस प्रकार ज्ञान दिया' इत्यादि का वर्णन करके इस चतुर्थ मन्त्र में बतलाया है, कि 'कोई इस वाणी को देखते हुए भी नहीं देखते हैं ।' वाणी का सुनना होता है, देखना नहीं हो सकता । यदि यह कहो, कि यहां देखना का अभि-प्राय सुनना है सो ठीक नहीं, क्योंकि इसी मन्त्र के दूसरे पाद में 'कोई इस सुनता हुआ भी नहीं सुनता है ।' वाणी का देखना तभी बन सकता है, जब वह लेखरूप में हो । इससे सिद्ध हुआ, कि वेद में लेखन-कला का उपदेश है । इसके लिए अन्य प्रमाण हमारे लिखे "वैदिक धर्म प्रकाश" ग्रन्थ में दिए हैं ।

१७. उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः । ऋ० १०।७१।५

(उत) और (त्वम्) एक को, किसी को (सख्ये) मैत्री में (स्थिरपीतम्) पक्का पिया हुआ (आहुः) कहते हैं । अर्थात् कोई वेदज्ञान में अत्यन्त कुशल होता है । यहां 'त्वम्' 'त्व' का द्वितीया विभक्ति एक वचन का रूप है ।

१८. अक्षयवन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वासमा बभूवुः ।

आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे हद्राइव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥ ऋ० १०।७१।७
(अक्षयवन्तः) [समान] आंखों वाले और (कर्णवन्तः) [समान] कानों वाले [होते हुए] भी (सखायः) मित्र (मनोजवेषु) मन के वेगों में (असमाः) असमान (बभूवुः) होते हैं । (त्वे) कई (उ) तो (आदघ्नासः) घुटनों तक (उपकक्षासः) बगल तक होते हैं । और (त्वे) कई (उ) तो (स्नात्वा) स्नान करने योग्य (हद्राः+इव) तालाबों के समान होते हैं ।

इस 'त्व' शब्द के प्रथमा बहुवचन का रूप 'त्वे' है ।

मन्त्र में उपदेश है कि आंख नाक आदि बाह्य इन्द्रियों की समानता होने पर भी मन=अन्तःकरण की शक्तियां सब में एक सी नहीं होतीं । अतः सब के ज्ञान में भेद होता है । कोई अल्पज्ञानी होता है, कोई महाविद्वान्, दूसरों को विद्यादान में समर्थ होता है ।

१९. बहूनि मे अकृता कर्त्तानि युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छै ॥ ऋ० ४।१८।२

(मे) मेरे (बहूनि) बहुत से (कर्त्तानि) करने योग्य कर्म (अकृतानि) अकृत हैं, बिना किए हुए हैं । (त्वेन) किसी के साथ (युध्यै) लड़ूँ !

और (त्वेन) किसी के साथ (संम्) अच्छी तरह (पृच्छै) पूछूँ !

इसी प्रकार अन्य अकारान्त—उभ, उभय, पर, पूर्व आदि—सर्वनामों के

रूप चलते हैं। इन पाठों में मुख्य लक्ष्य शब्दों के विभक्तिगत रूपों का दिखाना है, अतः इतने रूप पर्याप्त हैं। इसमें अनेक मन्त्र आए हैं, पाठक इनका भी मनन और चिन्तन करें। हो सके, तो इन और अगले पाठों में आने वाले मन्त्रों और मन्त्रखण्डों को कण्ठस्थ कर लें, उससे वेद भाषा में सरलता से प्रवेश हो सकेगा।

तृतीयः पाठः

[क]

अब इकारान्त 'अग्नि' शब्द के रूप और उदाहरण दिए जाते हैं—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	अग्निः	अग्नी	अग्नयः
सं०	अग्ने	अग्नी	अग्नयः
द्वितीया	अग्निम्	अग्नी	अग्नीन्
तृतीया	अग्निना	अग्निभ्याम्	अग्निभिः
चतुर्थी	अग्नेये	अग्निभ्याम्	अग्निभ्यः
पंचमी	अग्नेः	अग्निभ्याम्	अग्निभ्यः
षष्ठी	अग्नेः	अग्न्योः	अग्नीनाम्
सप्तमी	अग्नी	अग्न्योः	अग्निषु

इसके अतिरिक्त 'अग्ना' ऐसा रूप भी मिलता है।

उदाहरण देने से पूर्व निरुक्त आदि ग्रन्थों में दिए अर्थ दिखाते हैं। महामुनि श्री यास्काचार्य जी अपने निरुक्त ग्रन्थ में लिखते हैं—

अग्निः कस्माद् ? अग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति सन्नममानः। 'अक्रोपनो भवति' इति स्थौलाष्टीविः, न क्रोपयति, न स्नेहयति। 'त्रिभ्य आख्यातेभ्यः जायते' इति शाकपूणिः—इतात्, अक्तात्, दग्धाद्वा, नीतात्; स खलु एतेः अकारमादत्ते, गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा, नीः परः। (निरुक्त ७।१४।६)

भावार्थ—'अग्नि' को अग्नि क्यों कहते हैं? यह अग्रणी होता है, क्योंकि यज्ञों में सब से आगे लाया जाता है। [अर्थात् अग्र + नी से अग्नि—शब्द बनता है।] स्वयं श्रुता हुआ अङ्ग=यज्ञ के अङ्ग, उपकारक घृतचरु आदि को ले जाता है। [अर्थात् अङ्ग + नी से अग्नि शब्द बनता है]। स्थौलाष्टीवि आचार्य का मत है कि 'अक्रोपन' = गीला न करने वाला (सुखाने वाला) होने से अग्नि को अग्नि कहते हैं। अर्थात् 'कनूयी उन्दने' धातु से पूर्व निषेधार्थक न=अ लगाने से अग्नि शब्द सिद्ध होता है। शाकपूणि आचार्य कहते हैं—अग्नि शब्द तीन धातुओं से सिद्ध होता है—१. इण् गतौ २. अङ्ग व्यक्तिप्रक्षणकान्तिगतिषु अथवा दह भस्मीकरणे और ३. 'णीञ्=नी प्रापणे। शाकपूणि जी इण् धातु से 'अ' अङ्ग अथवा दह से 'ग्'

और उसके आगे नी धातु रखकर 'अग्नि' शब्द बनाते हैं। निरुक्तकार यास्का-
चार्य जी ने अपना पक्ष दिखलाकर दो और आचार्यों के मत भी दे दिए हैं।
वे भी उनको स्वीकार है। किसी किसी को शाकपूणि जी का पक्ष अखरेगा और
विचित्र प्रतीत होगा, किन्तु वह पक्ष है सर्वथा निरुक्तसिद्धान्त-सम्मत। जैसा कि
निरुक्त के दूसरे अध्याय के आरम्भ में प्रकृति प्रत्यय, स्वरादि के विचार से, तथा
वृत्तिसामान्य से शब्दों के निर्वचन का विधान करके लिखा है—

अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्, न त्वेव न निर्ब्रूयात्
न संस्कारमाद्रियेत, विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति। यथार्थं विभक्तीः
संनमयेत् ॥

अर्थात्—जहां वृत्ति की समानता न हो, वहां अक्षर, और वर्ण की समानता
से निर्वचन करना चाहिए। निर्वचन अवश्य करना चाहिए। यदि प्रतीयमान
संस्कार से अर्थसिद्धि न होती हो, तो संस्कार की परवा न करे, उसकी उपेक्षा
कर दे, क्योंकि वृत्तियां प्रायः सन्देहजनक होती हैं। अर्थ के अनुसार विभक्तियों
का विपरिणाम=परिवर्तन कर ले।

संक्षेप में यास्काचार्य जी का मत है कि अर्थ प्रधान है, क्योंकि किसी
अर्थ को कहने के लिए ही शब्द की प्रवृत्ति होती है। अर्थसङ्गति जिस प्रकार बने,
उसी प्रकार का निर्वचन होना चाहिए। यह सिद्धान्त केवल यास्काचार्य ही का
नहीं, वरन् सभी नैरुक्तों का है। इस सर्व सम्मत नैरुक्त-सिद्धान्त को सामने रख
कर आचार्य शाकपूणि ने 'अग्नि' शब्द की सिद्धि पूर्वोक्त प्रकार से की है। उन
का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि अग्नि में गति, दाह, व्यक्ति (प्रकाशित करना)
और ले जाना यह मुख्य गुण मिलते हैं, अतः अग्नि शब्द के मुख्य अर्थ गतिदाता,
दाहक, प्रकाश और प्रापक होने चाहिए। और यह अर्थ किसी एक धातु के हैं
नहीं, अतः जिन जिन धातुओं में वे हैं, उन उन से क्रमशः एक अथवा अधिक
अक्षर लेकर वह शब्द बनाना चाहिए। आचार्य शाकपूणि के मन में इससे भी
गहरी बात है वह यह कि वैदिक संज्ञापद रूढ तो हैं नहीं, वे यौगिक हैं, अतः उनकी
यौगिक निष्पत्ति को सदा ध्यान में रखना चाहिए।

सारांश यह कि जिस पदार्थ में गति, दाह, व्यक्ति की शक्ति और प्रापण
मिलें, वह सब अग्नि है। इन गति आदि अर्थों की व्यापकता और विस्तार का
विचार करके ब्राह्मण ग्रन्थों में अग्नि शब्द के बहुत से अर्थ लिखे हैं। उनमें से कुछ
एक का निदर्शन हम यहां कराते हैं—

- ✓ १. विराडग्निः । शत० ६।२।२।३४ विराट् अग्नि है।
- ✓ २. अग्निर्वा अर्कः । शत० २।५।१।४ सूर्य अग्नि ही है।
- ✓ ३. पशुरेष यदग्निः । शत० ६।४।१।२ जो अग्नि है, वह पशु है।
- ✓ ४. अग्निर्वै देवानामवमः । शत० ३।१।३।१ अग्निदेवों में अवम=निचला है।

- ✓ ५. अग्निर्वै यज्ञस्यावराध्यः। शत० ३।१।३।१ अग्नि यज्ञका अवराध्य=निचला ठिकाना है।
- ✓ ६. अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः। ऐ० १।२८ अग्नि देवों में से सब से अधिक बसाने वाला है।
- ✓ ७. शिर एवाग्निः। शत० १०।१।२।५ शिर ही अग्नि है।
- ✓ ८. अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य। शत० १।५।२।११ यज्ञ का कारण अग्नि है।
- ✓ ९. आत्मैवाग्निः। शतः ६।७।१।२० आत्मा ही अग्नि है।
- ✓ १०. अग्निर्वै देवयोनिः। ऐ० १।२२ देवों का ठिकाना अथवा कारण अग्नि है।
- ✓ ११. अग्निर्वै देवानां सुहृदयतमः। शत० १।६।२।१० देवों=विद्वानों में सब से उत्तम हृदय वाला अग्नि है।
- ✓ १२. अन्नादोऽग्निः। शत० २।१।४।२८ अन्नाद=अन्न खाने वाला अग्नि है।
- ✓ १३. अग्निर्वै सर्वमाद्यम्। तां० २।५।६।३ सब आद्य=आद्य=खाने योग्य वस्तु अग्नि है।
- ✓ १४. अग्निर्वा अन्नानां शमयिता। कौ० ६।१४ अन्नों का शान्त करने वाला अर्थात् अन्न के दोषों को शान्त करने वाला अग्नि है।
- ✓ १५. अग्निः प्रजानां प्रजनयिता। तै० १।७।२।३ प्रजाओं=सन्तानों के उत्पन्न करने वाला अग्नि है।
- ✓ १६. अग्निर्वै रेतोधाः। तै० २।१।२।११ वीर्याधान करने वाला अग्नि है।
- ✓ १७. प्रजननं वा अग्निः। तै० १।३।१।४ सन्तान उत्पन्न करना अग्नि है।
- ✓ १८. अयं वा अग्निलोकः। शत० १।६।२।१३ यही लोक (पृथिवी) अग्नि है।
- ✓ १९. संवत्सरोऽग्निः। शत० ६।३।१।२५ संवत्सर अग्नि है।
- ✓ २०. वागेवाग्निः। शत० ३।३।२।१३ वाणी आग है।
- ✓ २१. तेजो वा अग्निः। तै० ३।३।४।३ तेज (अग्नि=भौतिक अग्नि) अग्नि है।
- ✓ २२. अग्निर्वै ज्योती रक्षोहा। शत० ७।४।१।३४ राक्षसों (रोगोत्पादक कीटाणुओं) का मारने वाला प्रकाश अग्नि है।
- ✓ २३. अग्निरु वै सर्वेषां पाप्मनामपहन्ता। शत० ७।३।२।१६ सभी पापों का नाशक अग्नि है।
- ✓ २४. तपो वा अग्निः। शत० ३।४।३।२ तप ही अग्नि है।
- ✓ २५. अग्निर्वै होता। शतः ६।४।२।६ होता=इवन करने वाला, लेन देन करने वाला, खाने वाला अग्नि है।

२६. अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः । शत० १।१।१।२ देवों=विद्वानों का व्रतरक्षक अग्नि है ।
२७. अग्निर्वै देवानां यष्टा । तै० ३।३।७।६ देवों=विद्वानों का यज्ञ कराने वाला अग्नि है ।
२८. अग्निर्मृत्युः । शत० १।४।६।२।१० मृत्यु अग्नि है ।
२९. पुरुषोऽग्निः । शत० १०।४।१।६ पुरुष अग्नि है ।
३०. योषा वा अग्निः । शतः १।४।६।१।१६ स्त्री अग्नि है ।
३१. अग्निरु सर्वे कामाः । शत० १०।२।४।१ सब कामनाएं अग्नि हैं ।
३२. मन एवाग्निः । शत० १०।१।२।३ मन ही अग्नि है ।
३३. प्राणो वा अग्निः । शत० ६।५।१।६।८ प्राण ही अग्नि है ।
३४. वीर्यं वा अग्निः । तै० १।७।२।२ वीर्य ही अग्नि है ।
३५. अग्निर्वै गायत्री । शत० ६।६।२।७ गायत्री अग्नि है ।
३६. ब्रह्म वा अग्निः । कौ० ६।१।५ ब्रह्म अग्नि है ।
३७. पर्जन्यो वा अग्निः । शत० १।४।६।१।१३ बादल अग्नि है ।
३८. अग्निर्वा अहः । शत० ३।४।४।१५ दिन अग्नि है ।
३९. दिशोऽग्निः । शत० ६।२।२।३४ दिशाएं अग्नि हैं ।
४०. अग्निर्वै स्वर्गस्य लोकस्याधिपतिः । ऐ० ३।४२ स्वर्गलोक का अधिपति अग्नि है ।
४१. अग्निर्वै सर्वा देवताः । ऐ० २।३ सब देवता अग्नि हैं ।
४२. आयुर्वा अग्निः । शतः ६।७।३।२ आयु=जीवन अग्नि है ।
४३. अग्निर्वा आयुष्मान् । शत० १३।८।४।८ आयुष्मान्=दीर्घ आयु वाला अग्नि है ।
४४. अयं वा अग्निर्ऋतम् । शत० ६।४।४।१० ऋत यह अग्नि है ।
४५. अग्निर्वै द्रष्टा । गो० उ. २।१६ द्रष्टा अग्नि है ।
४६. अग्निर्वा उपद्रष्टा । गो० उ० ४।६ समीप से देखने वाला अग्नि है ।
४७. अग्निर्हि स्विष्टकृत् । शत० १।५।३।२३ स्विष्टकृत् अग्नि है ।
४८. विश्वकर्मायमग्निः । शत० ६।२।२।२ विश्वकर्मा=सब कार्यों का साधक अग्नि है ।
४९. अग्निर्वै धाता । तै० ३।३।१०।२ धाता=निर्माता अग्नि है ।

- ✓ ५०. यो वै वरुणः सोऽग्निः । शतः । ५।२।४।१३ जो वरुण है, वही अग्नि है ।
- ✓ ५१. अग्निरेव सविता । जै० उ० ४।२७ सविता=सूर्य अग्नि है ।
- ✓ ५२. अग्निर्वै नमसस्पतिः । गों० उ० ४।६ आकाशाध्यक्ष अग्नि है ।
- ✓ ५३. अग्निर्वै वनस्पतिः । कौ० १०।६ वनस्पति अग्नि है ।
- ✓ ५४. अग्निर्वै भरतः स वै देवेभ्यो हव्यं भरति । कौ० ३।२ अग्नि का अर्थ भरत=पालक है, क्योंकि वह सब देवों को हवि देता है ।
- ✓ ५५. अग्निर्वै ब्रह्मा । ष० १।१ सर्ववेदवेता अग्नि है ।
- ✓ ५६. अग्निर्वै परिक्षित् । ऐ. ६।३२ परिक्षित=सबको क्षीण करने वाला अथवा सर्वत्र रहने वाला अग्नि है ।
- ✓ ५७. अग्निर्वै महान् । जै० उ० ३।४।७ महान् अग्नि है ।
- ✓ ५८. अग्निर्वै यज्ञः । तां ११।५।२ यज्ञ ही अग्नि है ।
- ✓ ५९. यजमानोऽग्निः । शतः ६।३।३।२१ यजमान अग्नि है ।
- ✓ ६०. अग्निर्वै पथिकृत् । कौ० ४।३ मार्ग बनाने वाला अग्नि है ।
- ✓ ६१. अग्निर्वा दाता । कौ० ४।२ दाता अग्नि है ।
- ✓ ६२. अग्निर्वा पुरोहितः । ऐ. ८।२७ पुरोहित अग्नि है ।
- ✓ ६३. अग्निर्वै वरेण्यम् । जै० उ० ४।२८।१ वरेण्य अग्नि है ।

इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि अग्नि शब्द 'आत्मा, परमात्मा, आग, विराट्, सूर्य, पशु, सिर, यज्ञ का कारण, देवों का कारण, देवों का ठिकाना, उत्तम हृदय वाला, अन्न खाने वाला, जाठराग्नि, सर्व प्रकार की भोजन सामग्री, अन्नदोषनाशक, सन्तानोत्पादक, सन्तानोत्पादन, वीर्याधान करने वाला, पृथिवी-लोक, संवत्सर, वाणी, प्राण, मन, रोगाणुनाशक प्रकाश=बिजली, सर्वपापनाशक, तप, होता, व्रतरक्षक, याजक, मृत्यु, पुरुष, स्त्री, सब अभिलाषाएँ, वीर्य, गायत्री, बादल, दिन, दिशाएँ, स्वर्गलोक का स्वामी, सब देवता, आयु=जीवन, दीर्घजीवी, ऋत=सृष्टिनियम, दर्शक, समीप होकर देखने वाला, स्विष्टकृत्=उत्तम रीति से यज्ञ करने वाला, उत्तम भलाई करने वाला, सर्वकार्यसाधक, निर्माता, वरुण, सविता, आकाशाध्यक्ष, वनस्पति, सर्वपालक, सर्ववेदवित्, सर्वत्र व्यापक, सर्वनाशक, महान्, यज्ञ, यजमान, मार्गनिर्माण करने वाला, पथप्रदर्शक, दाता, पुरोहित, चुनने योग्य' इत्यादि अर्थों का वाचक है ।

इन अर्थों पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि इनमें कई पदार्थ द्रव्य Substance हैं, कई गुण हैं, और कई कर्म हैं । यथा आत्मा, परमात्मा, आग द्रव्य हैं, तेज गुण है, प्रजनन कर्म है । दूसरी बात जो बहुत स्पष्ट है वह यह है कि इन अत्यन्त पुरातन, हमारी अपेक्षा वेद के अधिक समीपवर्ती विद्वानों के मत में

अग्नि का अर्थ केवल आग ही नहीं है, वरन् अन्य अनेक पदार्थ भी हैं। रुढिवाद में इतने अर्थ बन नहीं सकते, अतः अगत्या यौगिकवाद का सहारा लेना अनिवार्य हो जाता है। इनमें से कई अर्थ मुख्य हैं, कई लक्ष्य हैं, कोई कोई व्यंग्य है। इस में भी सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है, कि यह अर्थ कादम्पनिक मनगढ़न्त नहीं हैं, वरन् निरुक्तकार के बतलाए अर्थों का विस्तार हैं।

अग्नि शब्द के, ब्राह्मण-ग्रन्थों में अन्य भी अनेक अर्थ दिए गए हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने भाष्यों में इन अर्थों का उपयोग करते हुए मूल अर्थों का कुछ और भी विस्तार किया है। उन्होंने इन अर्थों के अतिरिक्त और अर्थ भी दिए हैं, जो मूल अर्थों से सर्वथा अविस्वादी हैं। हम उन अर्थों में से कुछ अर्थों को यहाँ दिखाते हैं। (सारे अर्थ जानने के लिए 'वेदार्थकोष' देखना चाहिए ।)
शरीरस्था विद्युत्=शरीर में रहने वाली बिजली, नेतारः=नेता लोग, Leaders, सत्यासत्यविभाजक=सच झूठ का विभाग करने वाला, इत्यादि इत्यादि।

[ख]

अब हम 'अग्नि' शब्द के विभिन्न रूपों के उदाहरणवाक्य अर्थसहित उद्धृत करते हैं। सावधान होकर इनका मनन करें, और पुनः पुनः इनका अर्थसहित पाठ करें, ताकि यह वैदिक वाक्य पाठकों को कण्ठस्थ हो जाएँ।

१. अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । स देवाँ एह वक्षति ॥ ऋ० १।१।२

(अग्निः) सर्वाग्रणी परमेश्वर (पूर्वेभिः) पहले, अथवा पूर्णज्ञानी (ऋषिभिः)

वेदद्रष्टा ऋषियों के द्वारा (उत) और (नूतनैः) नए अर्थात् विद्यार्थियों द्वारा (ईड्यः) स्तुति करने योग्य है (सः) वह परमेश्वर (इह) इस संसार में (देवान्) दिव्य गुणों को, दिव्यपदार्थों को (आ+वक्षति) सब प्रकार से प्राप्त कराता है, अथवा (सः) वह परमेश्वर ही (इह) इस संसार में (देवान्) दिव्यगुणों तथा पृथिव्यादि देवों को (आ) पूरी तरह (वक्षति) धारण करता है। इस मन्त्र में 'पूर्वेभिः' पद पूर्व का तृतीया बहुवचन है, जैसे देवेभिः।

२. अग्निर्होता कृविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः । देवो देवेभिरामगत् ॥

ऋ० १।१।५

(होता) दाता (कविक्रतुः) ज्ञानपूर्वक कर्म करने वाला (सत्यः) सच्चा, सत्यवादी, सत्यकारी अथवा तीनों कालों में एक रस रहने वाला तथा (चित्रश्रवस्तमः) अत्यन्त विचित्र कीर्ति वाला (देवः) दिव्य गुण कर्मस्वभाव वाला, प्रकाशकों का प्रकाशक, सर्वज्ञ (अग्निः) ज्ञानस्वरूप परमात्मा (देवेभिः) दिव्य गुणों के द्वारा (आ+गमत्) प्राप्त हुआ या होता है।

३. सत्ये अन्यः समाहितोऽप्स्वन्यः समिध्यते ।

ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ अ० १३।१।५०

(अन्यः) एक (सत्ये) सत्य में (सम्+आहितः) अच्छी तरह रखा हुआ है (अन्यः) दूसरा (अप्सु) जल में (सम्+इध्यते) भली प्रकार प्रदीप्त होता है । इस प्रकार (स्वर्विदः) आनन्द प्राप्त करने वाले (रोहितस्य) रोहित=उन्नत अवस्था को प्राप्त यह (ब्रह्मेद्धौ) परमात्मा से प्रदीप्त की गई, (अग्नी) दो अग्नियों (ईजाते) एक दूसरे के साथ संगत होती हैं ।

४. यं वातः परिशुम्भति यं वेन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः ।

ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ अ० १३।१।५१

(यम्) जिसको (वातः) वायु (परि+शुम्भति) सब प्रकार से अलंकृत करता है (वा) और (यम्) जिसको (ब्रह्मणः+पतिः) संसाररक्षक (इन्द्रः) इन्द्र=सूर्य शोभित करता है । (स्वर्विदः) आनन्द प्राप्त करने वाले (रोहितस्य) रोहित=उन्नतपदवीप्राप्त की ये (ब्रह्मेद्धौ) परमात्मा से प्रदीप्त (अग्नी) अग्नियां (ईजाते) एक दूसरे के साथ सङ्गत होती हैं ।

इस सूक्त के ४६।४७ मन्त्रों में 'हिम' तथा 'ग्रंस' को दो अग्नियों बताया गया है । 'हिम' शीत कारक 'पिंगला' और 'ग्रंस' गरमी पैदा करने वाली 'इडा' शक्ति है । योग की परिभाषा में इन्हें चन्द्र और सूर्य भी कहते हैं । वेद का कहना है, जो योग की उन्नत भूमि पर आरूढ़ होता है, उसकी ये दोनों अग्नियां समता से कार्य करती हैं ।

५. निरग्नयो रुरुचुः ॥ अ० ८।३।२०

(अग्नयः) अग्नियां (निर्+रुरुचुः) अत्यन्त चमकती हैं ।

६. हरयो धूमकेतवः वातजूता उप द्यवि । यतन्ते वृथगग्नयः ॥

अ० ८।४।४

(हरयः) हरण करने वाली; छिन्न भिन्न करने वाली (धूमकेतवः) धूम जिनका निशान है पेसी (वातजूताः) वायु से भड़कने वाली (अग्नयः) अग्नियां (द्यवि+उप) द्युलोक की ओर (वृथक्) पृथक् पृथक् (यतन्ते) यत्न करती हैं ।

इस मन्त्र में एक प्रकार से अग्नि का—भौतिक अग्नि का—लक्षण वर्णन किया गया है । 'धूमकेतवः=धूमलिङ्ग वाले' विशेषण 'पवंतो वह्निमान् धूमात्=पर्वत में आग है, धुआं दोखने से' अनुमान का स्मरण कराता है । अग्नि की ज्वाला ऊपर को जाती है, क्योंकि अग्नि का सब से बड़ा भण्डार सूर्य ऊपर को है । 'वातजूताः=वायु से भड़कने वाली, तेज होने वाली' विशेषण तो सर्वजनप्रत्यक्ष है, अतः लोक में 'अग्नि' को मरुत्सखा भी कहते हैं । जो वस्तु आग में डाली जाए, अग्नि उसे छिन्न भिन्न कर देती है । इस कारण उसे अर्द्धाहरयः' कहा है । 'हरयः' हरि

शब्द का प्रथमा बहुवचन है, जिस तरह 'अग्नयः' अग्नि का ।

७. अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ॥

ऋ० १।११

(पुरोहितम्) सब से पूर्व विद्यमान (यज्ञस्य) यज्ञ=जीवन यज्ञ के (देवम्) प्रकाशक (ऋत्विजम्) ऋतुओं की संगति करने वाले (होता) दाता (रत्नधातमम्) रत्नों के निर्माण करने वाले (अग्निम्) सर्वाग्रणी, ज्ञान-स्वरूप परमात्मा को (ईळ) मैं पूजता हूँ ।

८. कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे । देवममीवचातनम् ॥

ऋ० १।१२।७

(कविम्) क्रान्तदर्शी (सत्यधर्माणम्) अटल नियमों वाले (अमीव-चातनम्) रोगविनाशक, अज्ञाननाशक; (देवम्) स्तुति करने योग्य, सुखदायी (अग्निम्) अग्नि को [की] (अध्वरे) यज्ञ में (उप+स्तुहि) तू स्तुति कर, गुण वर्णन कर ।

'कविम्' अग्निम् की भांति द्वितीया का एक वचन है । 'कवि' का अर्थ होता है 'कौंति कवते यः शब्दान् करोति सः' । जो उपदेश करे वह कवि । कवि अपनी चमत्कारमयी प्रतिभा के बल से ऐसे पदार्थों का साक्षात् करता है, जो साधारण बुद्धि की पहुँच से बाहर होते हैं । इस भाव को लक्ष्य में रख कर श्री यास्काचार्य जी ने लिखा है—मेधावी कविः क्रान्तदर्शनो भवति, कवतेर्वा । निरुक्त १२।२।२ कवि का अर्थ है मेधावी=महाबुद्धिमान्, अथवा=क्रान्तदर्शन=व्यवहित पदार्थों को देखने दिखाने वाला । अथवा यह शब्द 'कु' या कुङ् धातु से बनता है, जिस का अर्थ होता है शब्द करना ।

९. उर्वीरासन्परिधयो वेदिर्भूमिरकल्पत । तत्रैवाग्नी आधत्त हिमं ग्रंसं च रोहितः ॥ अ० १३।१।४६

(उर्वीः) विशाल दिशापं (परिधयः) परिधि=घेरे (आसन्) थे, हैं (भूमिः) पृथिवी (वेदिः) वेदि (अकल्पत) बन गई, बनती है । (तत्र) उसमें=भूमि में (एव) ही (रोहितः) रोहित ने (हिमम्) हिम=पिगला तथा (ग्रंसम्) ग्रंस=इडा रूपी (अग्नी) दो अग्नियों को (आधत्त) धारण किया, स्थापन किया ।

१०. शिवानग्नीनप्सुषदो हवामहे मयि क्षत्रं वर्च आधत्त देवीः । अ० १६।१।१३
(शिवान्) सुखदायी (अप्सु-सदः) जल में रहने वाली (अग्नीन्) अग्नियों को (हवामहे) हम चाहते हैं, वे (देवीः) दिव्य गुण वाली अग्नि-शक्तिपं (मयि) मुझे में (क्षत्रं) क्षात्र (वर्चः) तेज (आ+धत्त) सब ओर से धारण करें ।

११. सेदग्निरग्नीरत्यस्त्वन्यान् ॥ ऋ० ७।१।१५

(सः + इत्) वही (अग्निः) अग्नि (अन्यान्) दूसरी (अग्नीन्) अग्नियों को [से] (अति + अस्तु) बढ़ कर होवे ।

१२. अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवेदिवे । यशसं वीरवत्तमम् ॥ ऋ० १।१।३

मनुष्य (अग्निना) अग्नि के द्वारा (दिवेदिवे) दिन दिन = प्रतिदिन (पोषम्) बढ़ने वाले (एव) ही (यशसम्) यश देने वाले (वीरवत्तमम्) अत्यन्त वीरों वाले (रयिम्) धन को (अश्नवत्) प्राप्त करे ।

इस मन्त्र में 'अग्नि' को प्रतिदिन अवश्य बढ़ने वाले, अर्थात् कभी न घटने वाले, धन का साधन बताया गया है ।

१३. अग्निनाग्निः समिध्यते । ऋ० १।१।२।६

(अग्निना) अग्नि के द्वारा (अग्निः) अग्नि (सम् + इध्यते) भली प्रकार प्रदीप्त किया जाता है ।

१४. त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय ॥ अ० २।२०।५

हे (अग्ने) अग्ने ! (त्वम्) तू (अग्निभिः) अग्नियों के द्वारा, ज्ञानियों के द्वारा (नः) हमारे (ब्रह्म) ज्ञान (च) और (यज्ञम्) यज्ञ को (वर्धय) बढ़ा ।

१५. अग्निं वो देवमग्निभिः सजोषा यजिष्ठं दूतमध्वरे कृणुध्वम् ॥ ऋ० ७।३।१

(वः) तुम्हारे, अपने (अध्वरे) यज्ञ में, हिंसशून्य व्यवहार में, मार्ग-प्रदर्शनकार्य में (सजोषाः) प्रेमयुक्त हुए [तुम्] (अग्निभिः) ज्ञानियों के साथ (देवम्) दिव्य स्वाभाव वाले, व्यवहारकुशल (यजिष्ठम्) सब से अधिक मेल जोल वाले (अग्निम्) ज्ञानी को, नेता को अपना (दूतम्) दूत (कृणुध्वम्) करो ।

इसमें अग्नि को दूत कहा गया है । दूत को 'यजिष्ठ' मिलने जुलने में सब से अधिक कुशल बताया गया है । यह विशेष ध्यान देने योग्य है । दूत को देव = व्यवहार कुशल भी अवश्य होना चाहिए । अग्नि हुए बिना तो दूत हो ही नहीं सकता ।

१६. उप प्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये ॥ ऋ० १।७।१

(अध्वरम्) यज्ञ, हिंसारहित व्यवहार को (उप + प्रयन्तः) समीप से भली प्रकार प्राप्त करते हुए [हम] (अग्नये) ज्ञानस्वरूप परमात्मा के लिए (मन्त्रम्) मन्त्र, वेदवचन (वोचेम) बोलें ।

१७. कथा दाशेमाग्नये कास्मै देवजुष्टोच्यते भामिने गीः ।

यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा होता यजिष्ठ इत्कृणोति देवान् ॥ ऋ० १।७।१

(अग्नये) ज्ञानस्वरूप के लिए (कथा) क्या (दाशेम) हम दें ।
 (अस्मै) इस (भामिने) तेजस्वी के लिए (देवजुष्टा) ज्ञानियों को
 पसन्द आने वाली (का) कौनसी (गीः) वाणी (उच्यते) कही जाती
 है । (यः) जो (मर्त्येषु) मरने वालों में (अमृतः) अविनाशी (ऋतावाः)
 ऋत वाला=अद्वैत नियमों वाला (होता) लेने देने वाला (यजिष्ठः) सब
 से अधिक यजनीय, (देवान्) देवों को, दिव्य गुणों वा पदार्थों को (इत्)
 ही (कृणोति) करता है, बनाता है, आविष्कार करता है ।

यह मन्त्र जीव और परमात्मा दोनों पर लगता है । मनुष्य परमात्मा को
 क्या दे सकता है ? किस वाणी से उसकी स्तुति कर सकता है ? गुरु या उपदेशक
 या सन्मार्ग दिखाने वाले महात्मा का बदला कौन चुका सकता है ? कौन उसके
 उपकारों का वर्णन कर सकता है ।

१८. तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् । अ० ३।२१।७

(तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) अग्नियों के लिए (पतत्) यह (हुतम्) होम
 (अस्तु) हो ।

अथर्ववेद के तीसरे काण्ड के इक्कीसवें सूक्त में नाना पदार्थों को अग्नि का
 नाम दिया गया है । वहाँ १ से ७ मन्त्र तक प्रत्येक के अन्त में 'तेभ्यो-तत्'
 पाठ है ।

यहाँ 'अग्निभ्यः' चतुर्थी का बहुवचन है ।

१९. तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत ।

इन्द्रस्य वज्रात्तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥ अ० ३।१९।४

में (येषाम्) जिनका (पुरोहितः) पुरोहित=अगुआ (अस्मि) हैं, वे
 (परशोः) कुल्हाड़े से, दूर से छेदन करनेवाले शस्त्र से (तीक्ष्णीयांसः)
 अधिक तीक्ष्ण होते हैं (उत) और (अग्नेः) अग्नि से भी (तीक्ष्णतराः)
 अधिक तेज़ होते हैं, और (इन्द्रस्य) इन्द्र के, बिजुली के (वज्रात्) वज्र
 से भी (तीक्ष्णीयांसः) अधिक तीक्ष्ण होते हैं ।

एक उत्तम शूरवीर नेता, लीडर ही ऐसा कह सकता है ।

यहाँ 'अग्नेः' पंचमी विभक्ति का एकवचन है ।

२०. प्र ते अग्नयोऽग्निभ्यो वरं निःसुवीरासः शुशुचन्त द्युमन्तः ।

यत्रा नराः समासते सुजाताः ॥ ऋ० ७।१।४

(यत्र) जहाँ, जब (सुजाताः) उत्तम कुलोत्पन्न (नराः) नर, नेता
 मनुष्य (सम्+आसते) एक भाव से मिलकर इकट्ठे बैठते हैं, वहाँ ही
 (अग्निभ्यः) अग्नियों से, अग्नि के परमाणुओं से (ते) वे (सुवीरासः)
 उत्तम वीरोंवाले (द्युमन्तः) तेजस्वी (अग्नयः) अग्निमय पदार्थ (वरम्)
 भली प्रकार (निः) सर्वथा (प्र+शुशुचन्त) खूब चमकते हैं ।

‘अग्निभ्यः’ पंचमी का बहुवचन है।

२१. अग्नेः सख्यं वृणीमहे । ऋ० ८।४४।२०

हम (अग्नेः) अग्नि की (सख्यम्) मित्रता (वृणीमहे) चाहते हैं।

२२. अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां चारु मनामहे देवस्य नाम । ऋ० १।२४।२
(वयम्) हम (अमृतानाम्) अविनाशियों में से (प्रथमस्य) प्रथम,
मुख्य (अग्नेः) सर्वांगी, (देवस्य) प्रकाशस्वरूप परमात्मा का
(चारु) सुन्दर (नाम) नाम (मनामहे) अभ्यास करते हैं।

२३. वातासो न ये धुनयो जिगत्नवोऽग्नीनां न जिह्वा विरोकिणः ।
वर्मण्वन्तो न योधाः शिमीवन्तः पितृणां न शंसाः सुरातयः ॥

ऋ० १०।७।३

(वातासः+न) वायुओं की भाँति (ये) जो (धुनयः) कंपानेवाले और
(जिगत्नवः) आगे बढ़नेवाले, और (अग्नीनाम्) अग्नियों की (जिह्वाः+
न) ज्वालाओं की भाँति (विरोकिणः) नाना प्रकार की दीप्तियों वाले
(वर्मण्वन्तः+न) कवचधारियों की भाँति (योधाः) योद्धा और (शिमी-
वन्तः) कर्मशील तथा (पितृणाम्) माता पिताओं के (शंसाः+न) उप-
देशों की भाँति (सुरातयः) उत्तम दानशील हैं।

यह मन्त्र मरुतों का वर्णन करता है। ‘मरुत्’ शब्द के अर्थ आगे अपने
उचित स्थल पर आएँगे। साधारण अर्थ इसका ‘मरने मारने वाला’ होता है।

‘न’ का अर्थ लौकिक संस्कृत में ‘नहीं’ होता है। वैदिक भाषा में निरुक्त के
अनुसार ‘नहीं’ के अतिरिक्त ‘इव’ भी होता है।

२४. समिद्धे अग्नावृतमिद्वदेम । ऋ० ३।५५।१

(अग्नौ) अग्नि के (समिद्धे) समिद्ध होने पर, भली प्रकार प्रकाशित
होने पर (ऋतम्) सत्य (इत्) ही (वदेम) हम बोलें।

अर्थात्—ज्ञानरूप अग्नि के बहुत चमकने पर=ज्ञान की उन्नति होने पर भी
सत्य ही बोलना चाहिये।

२५. अग्नौ मित्राय हविरा जुहोत ॥ ऋ० ३।५६।५

(मित्राय) मित्र=वृष्टि के हेतु के लिए (अग्नौ) आग में (हविः)
हवि=हवनसामग्री (आ+जुहोत) भली प्रकार डालो, छोड़ो।

२६. गीर्णं भुवनं तमसापगूढमाविः स्वरभवज्जाते अग्नौ । ऋ० १०।८८।२
(अग्नौ) अग्नि के (जाते) उत्पन्न होने पर (तमसा) अन्धकार से
(गीर्णम्) निगला हुआ (अप+गूढम्) बुरी तरह छिपा हुआ (भुवनं)
संसार (स्वः) प्रकाशमय (आविः+अभवत्) आविर्भूत हुआ, प्रकट
हुआ।

सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व यह संसार अन्धकाराच्छन्न था। सूर्य्य उत्पन्न हुआ, तो सर्वत्र प्रकाश फैल गया।

२७. प्रो त्ये अग्नयोऽग्निषु विश्वं पुष्यन्ति वार्यम् । ऋ० ५।६।६

(त्ये) वे (अग्नयः) अग्नियाँ (विश्वम्) संपूर्ण (वार्यम्) उत्तम पदार्थ समूह को (अग्निषु) अग्नियों में (उ) ही (प्र+पुष्यन्ति) उत्तम रीति से पुष्ट करती हैं।

‘त्ये’ सर्वनाम ‘त्यत्’=‘त्य’ का प्रथमा-बहुवचन है।

२८. मा नो अग्ने दुर्मृतये सचैषु देवेद्वेष्वग्निषु प्र वोचः । ऋ० ७।१।२२

हे (अग्ने) ज्ञानिन् ! (एषु) इन (देवेद्वेषु) विद्वानों से जलाए हुए, अथवा वायु से भड़काए हुए (अग्निषु) अग्नियों में (नः) हमको (सच) किसी संबन्ध से भी (दुर्मृतये) दुष्ट पालन के लिए (मा) मत (प्र+वोचः) कह।

२९. अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमउक्तिं विधेम ॥ य० ४०।१६
हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप ! सर्वप्रकाशक परमेश्वर ! (अस्मान्) हमको (राये) विज्ञान, मोक्ष, राज्यादि के लिए (सुपथा) उत्तम मार्ग से (नय) ले चल। हे (देव) सुखदातः प्रभो ! सर्वज्ञ स्वामिन् ! तू (विश्वानि) सब (वयुनानि) ज्ञानों और कर्मों को, विचारों और व्यवहारों को (विद्वान्) जानता है (अस्मत्) हमसे (जुहुराणम्) कुटिलतायुक्त (एनः) पाप को (युयोधि) दूर कर। हम (ते) तुझे (भूयिष्ठाम्) बहुत बड़ी (नमः-उक्तिम्) नमस्कार-उक्ति (विधेम) करते हैं।

कुरानशरीर की सूरते-फ़ातिह इस मंत्र का अक्षरशः अनुवाद है।

३०. अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि । स इहेवेषु गच्छति ॥ ऋ० १।१।४

हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (यम्) जिस (अध्वरम्) हिसारहित (यज्ञम्) यज्ञ को तू (विश्वतः) सब तरह से (परिभूः+असि) व्याप्त करता है (सः) वह (देवेषु) देवों में (इत्) ही (गच्छति) प्राप्त होता है।

३१. आ सूर्य्येन रश्मयो ध्रुवासो वैश्वानरे दधिरे ऽग्रा वसूनि ॥ ऋ० १।५।६।३

(न) जिस प्रकार (रश्मयः) किरणें (सूर्य्ये) सूर्य्य में (आ) सब ओर से (ध्रुवासः) निश्चल होती हैं, ऐसे ही (वसूनि) सब धन (वैश्वानरे) सब जगत-हितकारी (अग्रा) अग्नि में=विजुली में (दधिरे) धारण किए जाते हैं।

वैश्वानर के अनेक अर्थ हैं। उनका निरूपण देवता प्रकरण में किया जायगा।

‘वैश्वानर’ पद विशेषण है, यह सप्तमीविभक्ति का रूप है, अतः उसके सहचार से अग्ना पद भी सप्तमी का एक वचन है ।

३२. ते राया ते सुवीर्यैः ससवांसो वि शृण्विरे । ये अग्ना दधिरे दुवः ॥

ऋ० ४।८।६

(ये) जो (अग्ना) विद्युत् में (दुवः) सेवा, अभ्यास (दधिरे) धारण करते हैं (ते) वे (राया) धन के द्वारा तथा (ते) वह (सुवीर्यैः) उत्तम पराक्रमों के द्वारा (ससवांसः) आनन्दपूर्वक विश्राम करने वाले या समादरणीय (वि+शृण्विरे) विशेषरूप से सुने जाते हैं ।

यहाँ भी ‘अग्ना’ सप्तमी विभक्ति के एकवचन का रूप है । विद्युद्विद्या के अभ्यासी ही धन और शक्ति के स्वामी बनते हैं ।

३३. प्रियः सूर्य्ये प्रियो अग्ना भवाति य इन्द्राय सुतसोमो ददाशत् ॥

ऋ० ५।३७।५

वह (सूर्य्ये) सूर्य्य में (प्रियः) प्यारा, कमनीय होता है वह (अग्ना) अग्नि में (प्रियः) प्रिय (भवाति) होता है (यः) जो (सुतसोमः) संग्रह किया है सोम जिसने ऐसा जन (इन्द्राय) ऐश्वर्य्य की वृद्धि के लिए, परमात्मा के मार्ग में, जीवों के लिए (ददाशत्) बार बार देता है ।

जो अपना ऐश्वर्य्य धन सम्पत्ति ससार की धनसम्पत्ति की वृद्धि के लिए देता रहता है, वह सूर्य्य=सूर्य्यविद्या के ज्ञानियों तथा अग्नि=अग्निविद्या के ज्ञानियों का प्यारा होता है ।

यहाँ भी अग्ना सप्तमी का एक वचन है ।

३४. अग्ना यो मर्त्यो दुवो धियं जुजोष धीतिभिः ।

भसन्नु ष पूर्य्य इषं वुरीतावसे ॥ ऋ० ६।१४।१

(यः) जो (मर्त्यः) मनुष्य (धीतिभिः) विचार पूर्वक अंगुली-आदि शरीरावयवों से (दुवः) कर्म और (धियम्) बुद्धि को (अग्ना) अग्नि में (जुजोष) प्रीतिपूर्वक लगाता है (सः) वह (पूर्य्यः) सब से मुखिया (जु) सचमुच (प्र) बहुत (भसत्) चमकता है और (अवसे) रक्षा आदि के लिए (अन्नम्) अन्न, भोग्यपदार्थ, खाद्य सामग्री (वुरीत) प्राप्त करता है ।

यहाँ भी अग्ना सप्तमी का एक वचन है । इसके अतिरिक्त अन्य कई स्थानों में वेद में यह अग्ना पद मिलता है । सर्वत्र सप्तमी-एकवचन ही मिला है । कहीं कहीं वेद में अग्नि शब्द का संबोधन में अग्नाइइ रूप भी मिलता है ।

[ग]

‘अग्नि’ शब्द की भाँति समस्त ह्रस्व इकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के रूप चलते हैं। यथा—कवि, हरि, ऋषि, मुनि, पवि, आदि।

‘हरि’ शब्द और ऋषि ‘शब्द’ के तृतीया-एक वचन में और षष्ठी-बहुवचन में ‘नृ’ को ‘ण्’ हो जाता है। यथा—

अग्निना	हरिणा	ऋषिणा
अग्नीनाम्	हरीणाम्	ऋषीणाम्

पाणिनि जी ने इसके लिये दो सूत्र लिखे हैं। पाठक यदि उन सूत्रों को अर्थसहित कण्ठस्थ कर लें, तो उनको बहुत सुविधा हो। वे सूत्र यह हैं—

१. रषाभ्यां नो णः समानपदे ॥८॥४॥१

एक पद में ‘रू’ अथवा ‘षू’ से परे ‘नृ’ के स्थान में ‘ण्’ हो जाता है।

२. अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेपि ॥८॥४॥२

‘रू’ और ‘नृ’ के बीच में, इसी प्रकार ‘पू’ और ‘नृ’ के बीच में यदि अट् (सारे स्वरों और य् रू, लृ, व् और ह्) कु (क्, ख्, ग्, घ्, ङ्) पु (प्, फ्, ब्, भ्, म्) आङ् (आ) और नुम् (ँ) का व्यवधान भी हो, चाहे इनमें से कई मिले हुआँ का व्यवधान हो या अकेले अकेले का व्यवधान हो, तो भी ‘नृ’ को ‘ण्’ हो जाता है।

उदाहरण—पुरुष शब्द की तृतीया के एक वचन में ‘पुरुषेन’ रूप बनना चाहिए जैसे देव का देवेन। ऊपर उल्लिखित पाणिनि मुनि जी के दूसरे सूत्र ‘अट्कुप्वा०’ से ‘नृ’ को ‘ण्’ हो गया। पुरुषेन में ‘षू’ और ‘नृ’ के बीच में ‘पू’ (अट्) है। इस ‘पू’ की रुकावट होने पर भी ‘नृ’ को ‘ण्’ हो जाता है। इसी प्रकार ‘रुद्रेन’ से ‘रुद्रेण’ होता है। और इसी नियम से ‘रुद्रानाम्’ से ‘रुद्राणाम्’ ‘पुरुषानाम्’ से ‘पुरुषाणाम्’, ‘ऋषिना’ से ‘ऋषिणा’, ‘ऋषीनाम्’ से ‘ऋषीणाम्’ ‘हरिना’ से ‘हरिणा’, ‘हरीनाम्’ से ‘हरीणाम्’ बनते हैं। पाठक इन दो सूत्रों को भली भाँति कण्ठस्थ कर लें, इनसे बड़ा काम होता है,

अब इकारान्त शब्दों के कुछ और उदाहरण लीजिए—

१. पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत।

इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः ॥ ऋ० १।११।४

(इन्द्रः) इन्द्र=सूर्य (पुराम्) बहुतों का (भिन्दुः) तोड़नेवाला (युवा) संयोग और विभाग करनेवाला (कविः) गुप्त पदार्थों तक को दिखलानेवाला (अमितौजाः) अनन्त बलवाला (विश्वस्य+कर्मणः+धर्ता) सब कर्मों का धारण करनेवाला (वज्री) बिजली वाला, और (पुरुष्टुतः=पुरु-स्तुतः) अनेकों से स्तुति किया जाता हुआ (अजायत) पैदा हुआ है, है।

इन्द्र शब्द के अनेक अर्थ हैं। हमने यहाँ उसका अर्थ ‘सूर्य’ किया है।

इस मन्त्र में संक्षेप में सूर्य के गुणों का वर्णन किया गया है ।

२. अग्निनाग्निःसमिध्यते कविर्गृहपतिर्युवाहव्यवाड् जुह्वास्यः॥ ऋ० १।१२।६

(अग्निना) अग्नि=बिजली से (कविः) क्रान्तदर्शन=[जिस पर दृष्टि स्थिरता से न लग सके] (गृहपतिः) शरीररक्षक, गृहपालक (युवा) पदार्थों में संयोग-विभाग करा सकनेवाला (हव्यवाड्) हवन किए पदार्थों को दूसरे स्थान में ले जाने वाला (जुह्वास्यः) ज्वालारूप मुखवाला (अग्निः) अग्नि=भौतिक अग्नि (सम्+इध्यते) भली प्रकार प्रकाशित होता है । 'अग्निनाग्निः समिध्यते=आग आग से प्रकाशित होती है' इस तत्त्व पर दृष्टि देने की आवश्यकता है ।

३. कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया । दधं दधाते अपसम् ॥

ऋ० १।२।६

(कवी) सब पदार्थों के दर्शनादि व्यवहार के हेतु (तुविजाता) बहुतों से अथवा बहुतों में उत्पन्न होने वाले अथवा बहुत प्रसिद्ध (उरुक्षया) अनेकों में रहने वाले (मित्रावरुणा) मित्र=प्राण, और वरुण=अपान [मित्र=Oxygen, वरुण=Hydrogen] (नः) हमारे (अपसम्) कर्म, कर्म-सम्बन्धी (दक्षम्) बल, उत्साह को (दधाते) धारण करते हैं । मित्रावरुणा, तुविजाता और उरुक्षया प्रथमा के द्विवचन के रूप हैं । लौकिक संस्कृत में यह मित्रावरुणौ, तुविजातौ, उरुक्षयौ होते हैं ।

४. मन्द्रजिह्वा जुगुर्वणी होतारा दैव्या कवी ।

यज्ञं नो यक्षतामिमं सिध्रमघ दिविस्पृशम् ॥ ऋ० १।१४।८

(मन्द्रजिह्वा) मधुर वाणी वाले (जुगुर्वणी) अत्यन्त पुरुषार्थी (कवी) प्रबल बुद्धि वाले (दैव्या) दिव्य गुण वाले (होतारा) लेने वाले, देने वाले, हवन यज्ञादि कराने वाले (नः) हमारे (इमम्) इस (सिध्रम्) सिद्धिदायक (दिविस्पृशम्) दिव्यप्रकाश से संबन्ध कराने वाले (यज्ञम्) यज्ञ को, विद्याप्राप्ति परोपकारादि को (यक्षताम्) सुसंगत करें ।

'मन्द्रजिह्वा, होतारा, दैव्या पद लौकिक संस्कृत में मन्द्रजिह्वौ, होतारौ, दैव्यौ होते हैं । जुगुर्वणी 'जुगुर्वणि' का द्विवचन है ।

५. त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा ।

तव व्रते कवयो विब्रनापसोऽजायन्त मरुतो आजदृष्टयः ॥ ऋ० १।३।१

हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (त्वम्) तू (प्रथमः) सब से उत्तम (अङ्गिराः) आनन्द, रस, (ऋषिः) सर्वद्रष्टा (देवः) आनन्द-दाता और (देवानाम्) विद्वानों का, निष्काम महात्माओं का (शिवः) कल्याणकारी (सखा) सखा, मित्र, सहायता करने वाला (अभवः)

हैं। (तव) तेरे (व्रते) व्रत में [रहते हुए] (विघ्ननापसः) ज्ञानयुक्त कर्म करने वाले (मरुतः) मनुष्य (कवयः) मेधावी और (आजदृष्टयः) प्रकाश-युक्त दृष्टिवाले अर्थात् सूक्ष्म विवेचनाशक्ति वाले (अजायन्त) होजाते हैं।

इस मन्त्र में 'ऋषिः' पद प्रथमा विभक्ति का एकवचन है। 'आजदृष्टयः' भी 'कवयः' की भांति प्रथमा का बहुवचन है। 'प्रथमः' 'देवः' 'देवानाम्' शिवः' की विभक्तियाँ तो पाठक जान ही गए होंगे।

६. ह्ये नरो मरुतो मृळता नस्तुविमघासो अमृता ऋतज्ञाः ।

सत्यश्रुतः कवयो युवानो बृहद्गिरयो बृहदुक्षमाणाः ॥ ऋ० ५।५।७।८
(ह्ये) हे (मरुतः) मरणशील (नरः) मनुष्यो ! [तुम] (तुविमघासः) बहुत धनवाले (अमृताः) जीवनयुक्त अथवा जीवन्मुक्त (ऋतज्ञाः) यथार्थज्ञानी (सत्यश्रुतः) सत्य सुनने सुनानेवाले (कवयः) विद्वान्(युवानः)जवान्(बृहद्गिरयः) बहुत यश वाले और (बृहत्) बहुत (उक्षमाणाः) सत्कृत होते हुए (नः) हमें (मृळत) सुखी करो।

'बृहद्गिरयः' 'बृहद्गिरि' का प्रथमा-बहुवचन है, जिस प्रकार 'कवयः' 'कवि' का। 'तुविमघासः' 'तुविमघ' का प्रथमा-बहुवचन है, जिस प्रकार 'देवासः' देव का। 'तुवि' शब्द का अर्थ बहुत और मघ का धन है। 'अमृताः' 'ऋतज्ञाः' और 'उक्षमाणाः' की विभक्ति और वचन तो पाठक जान ही गये होंगे।

७. मधुमन्तं तनूनपाद्यज्ञं देवेषु नः कवे । अद्या कृणुहि वीतये ॥

ऋ० १।१३।२

हे (कवे) क्रान्तदर्शिन ! सर्वज्ञ प्रभो ! हे (तनूनपात्) शरीरों की न्यूनता की रक्षा करने वाले भगवन् ! (अद्य) आज (नः) हमारे (मधुमन्तम्) मधुर-रसयुक्त (यज्ञम्) यज्ञ को (देवेषु) विद्वानों में (वीतये) सुख प्राप्ति के लिए (कृणुहि) तू कर।

अर्थात् हमारा यज्ञ परोपकारी महात्माओं को सुखकारी हो।

८. वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुषे कवे ॥ ऋ० १०।१४०।१

हे (कवे) सर्वज्ञ ! तू (दाशुषे) दाता को (उक्थ्यम्) प्रशंसा के योग्य (वाजम्) अन्न, बल, ज्ञान (दधासि) देता है।

९. आ यातमश्विना रथेन सूर्यत्वचा ।

भुजी हिरण्यपेशसा कवी गम्भीरचेतसा ॥ ऋ० ८।८।२

हे (भुजी) भोग का साधन सम्पादन करने कराने वाले (हिरण्यपेशसा) तेजोमय रूप वाले (गम्भीरचेतसा) गम्भीर चित्त वाले (कवी) क्रान्तदर्शी (अश्विना) अश्वियो ! तुम दोनों (सूर्यत्वचा) सूर्य के समान त्वचा वाले

अर्थात् बाहर से सूर्य के समान चमकने वाले (रथेन) रथ के द्वारा (आ + यातम्) आओ, अथवा सब ओर जाओ ।

१०. युवं कवी षुः ॥ ऋ० १०।४०।६

(युवम्) तुम दोनों (कवी) कवि, क्रान्तदर्शी (षुः=स्थः) हो ।

११. महत्तद्वयः कवयश्चारु नाम यद्व देवा भवथ विश्व इन्द्रे । ऋ० ३।५४।१७

हे (कवयः) विज्ञानी मनुष्यो ! (तत्) वह (वः) तुम्हारा (महत) बड़ा (नाम) यज्ञ है (यत्) जो [तुम्] (विश्वे) सब (इन्द्रे) इन्द्र=प्रभु के आश्रय से (देवाः) देव, विद्वान्, दिव्यगुणयुक्त, निष्काम (ह) ही (भवथ) होते हो ।

१२. कतरा पूर्वा कतरापरायोः कथा जाते कवयः को विवेद ।

विश्वं त्मना विभृतो यद्व नाम विवर्त्तेते अहनी चक्रियेव ॥ ऋ० १।१८५।१

हे (कवयः) ज्ञानियो ! (अयोः) इन दो में से (कतरा) कौन सी (पूर्वा) पहली है और (कतरा) कौनसी (अपरा) पिछली है [और यह दोनों] (कथा) किस प्रकार (जाते) उत्पन्न हुए हैं, [इस बात को] (कः) कौन जानता है । (यत् + ह) यह जो (विश्वम्) संसार (नाम) प्रसिद्ध है, उसको (त्मना) अपनी शक्ति से (विभृतः) धारण करते हैं और (अहनी) दिन रात (चक्रिया + इव) चाक में पड़े हुए के समान (विवर्त्तेते) घूमते रहते हैं ।

‘आत्मना’ के स्थान में ‘त्मना’ भी होता है । ‘कतरा’ ‘किम्’ शब्द का ‘इत्तर’-प्रत्ययान्त रूप है ।

मन्त्र का देवता ‘धावापृथिवी’ है । कितना मार्मिक प्रश्न है ! पृथिवी से पहले द्यौः=सूर्य, अथवा सूर्य से पूर्व पृथिवी ? कार्य्य से पूर्व कारण अथवा कारण से पूर्व कार्य्य ? यह गहन प्रश्न है । इसको कौन मनुष्य जानता है ? अर्थात् साधारण मनुष्यों की बुद्धि से यह बात बाहर की है । वेद के इस प्रश्न का तात्पर्य यह है कि यदि तुम किसी एक को पहला मान लोगे, तो वहीं विश्रान्ति माननी पड़ेगी, किन्तु उसके साथ ही प्रश्न उत्पन्न होगा, कि उससे पूर्व क्या था । यदि उससे पूर्व कुछ नहीं था, तो क्यों ? इस दुरुत्तर प्रश्न का समाधान विधान करने के लिए भगवान् न आदेश किया, कि यह चक्र में पड़े पदार्थों की भांति सदा एक दूसरे के पश्चात् घूमते रहते हैं । अर्थात् यह कार्य्य कारण का क्रम प्रवाह से अनादि है; अतः कौन पहले और कौन पीछे, यह कहना असङ्गत है ।

१३. त्वेषं वयं रुद्रं यज्ञसाधं वङ्कुं कविमवसे नि ह्वयामहे ।

आरे अस्मद् दैव्यं हेळो अस्यतु सुमतिमिद् वयमस्या वृणीमहे ॥

ऋ० १।११४।४

(वयम्) हम (अवसे) रक्षादि के लिए (वृणीमहे) प्रकाशयुक्त (यज्ञ-

साधम्) यज्ञ को सिद्ध करने कराने वाले (वङ्कुम्) बाँके (कविम्) ज्ञानी (रुद्रम्) दुष्टों को रुलाने वाले [सभाध्यक्ष] को (नि+ह्वयामहे) बुलाते हैं, निवेदन करते हैं। वह (दैव्यम्) दैवी (हेळः) अनादर, आपत्ति को (अस्मत्) हम से (आरे) दूर (अस्यत्) फेंके। (ययम्) हम (अस्य) इसकी (सुमतिम्) सुमति=सदिच्छा best wishes को (इत्) ही (आ+वृणीमहे) सब ओर से चाहते हैं, स्वीकार करते हैं।

१४. अग्निं होतारं प्र वृणे मियेधे गृत्सं कविं विश्वविदममूरम्।

स नो यच्चद् देवताता यजीयान् राये वाजाय वनते मघानि ॥

ऋ० ३।१६।१

(अहम्) मैं (मियेधे) घृतादि से होने योग्य हवनयज्ञ में [के लिए] (गृत्सम्) बोल सकने में समर्थ (कविम्) विक्रान्त बुद्धि वाले (विश्वविदम्) सब शास्त्रों को जानने वाले, सबका विचार करने वाले (अमूरम्) अमूढ=मूढतारहित (होतारम्) हवन कराने वाले (अग्निम्) अग्नि के समान वर्त्तमान विद्वान् को (प्र+वृणे) उत्तम रीति से स्वीकार करता हूँ। (सः) वह (यजीयान्) सर्वश्रेष्ठ यजनकर्त्ता (नः) हमें (राये) धनप्राप्ति के लिए (वाजाय) विज्ञानलाभ के लिए (तथा) (वनते) संभाग, समादरप्राप्ति के लिए (मघानि) पूजित धनों को [=से] तथा (देवताता) विद्वानों, गुणियों को [=से] (यक्षत्) सिलाए, संगत कराए। यह मन्त्र बहुत विचारने योग्य है। जो लोग कहते हैं कि 'अग्नि' शब्द का अर्थ केवल भौतिक अग्नि=आग है, वे इस मन्त्र का मनन करें। इस मन्त्र में 'अग्नि' का एक विशेषण कवि है। यह विशेषण जड़ चेतन सभी के साथ लगता है। एक विशेषण 'विश्वविदम्' है। जो सब को जानता हो, विचारता हो, उसे 'विश्वविद' कहते हैं। जड़ आग 'विश्वविद' नहीं हो सकती। कोई कोई सज्जन 'विश्वविदम्' का अर्थ 'सर्वत्र प्राप्त' अर्थात् 'सब पदार्थों में प्राप्त होने वाला' कहते हैं और कहते हैं कि भौतिक अग्नि बिजली के रूप में सब जगह मिलती है। शायद पेशों के समाधान के लिए ही भगवान् ने इस मन्त्र में अग्नि के 'गृत्सम्'='बोल सकने में समर्थ, मेधावी' और 'अमूरम्'='मूढता रहित' यह दो विशेषण दिए हैं। बोल सकना और अमूढत्व चेतन के अतिरिक्त और कहीं नहीं पाये जाते।

१५. ता सुजिह्वा उपह्वये होतारा दैव्या कवी।

यज्ञं नो यक्षतामिमम् ॥ ऋ० १।१३।८ ॥

(ता) उन दो (सुजिह्वा) उत्तम जिह्वावाले [भौतिक पक्ष में उत्तम ज्वालाओं वाले] (कवी, क्रान्तदर्शी (दैव्या) दिव्य पदार्थों का उपयोग करने कराने वाले (होतरा) होताओं को (उपह्वये) समीप बुलाता हूँ। वे (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ को (यक्षताम्) संगत करें कराएँ।

१६. कवीरिच्छामि सन्दशे सुमेधाः ॥ ऋ० ३।३८।१ ॥

मैं (सुमेधाः) उत्तमबुद्धिमान् (सन्दशे) अच्छी प्रकार देखने के लिए (कवीन्) कवियों को (इच्छामि) चाहता हूँ ।

अर्थात् समदर्शी होने के लिए कवियों=क्रान्तदर्शियों का सङ्ग करना चाहिए ।

१७. अचिकित्वाश्चितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्वान् न विद्वान् ॥

ऋ० १।१६४।६

(न) जैसे (विद्वान्) ज्ञानवान् मनुष्य (विद्वान्) विशेष ज्ञान के लिए [विशेषज्ञ विद्वानों से पृच्छता है; वैसे मैं] (अचिकित्वान्) अज्ञानी (कवीन्) महाबुद्धिमान् (चितुषः) ज्ञानियों को (चित्) ही (पृच्छामि) पृच्छता हूँ ।

१८. बृहन्तमृष्वमजरं सुषुम्नमृधगुवेम कविनेषितासः ॥ ऋ० ६।४६।२

(कविना) कवि से, ज्ञानी से (इषितासः) प्रेरित हुए [हम] (ऋधक्) सचमुच (बृहन्तम्) वृद्धि करने वाले (ऋष्वम्) महान् (अजरम्) अजर, जीर्ण न होने वाले (सुषुम्नम्=सु+सुम्नम्) अत्यन्त सुखी को (हुवेम) बुलाएँ । 'इषितासः' 'देवासः' की भाँति प्रथमा-बहुवचन है । 'ऋष्वम्, अजरम्, सुषुम्नम्' 'देवम्' की भाँति द्वितीया-एकवचन के रूप हैं ।

१९. स देवः कविनेषितोऽभि द्रोणानि धावति ॥ ऋ० ६।३७।६

(कविना) सर्वज्ञ भगवान् से (इषितः) प्रेरित हुआ (सः) वह (देवः) विद्वान् (द्रोणानि) द्रोणों को, शरीरों को, ठिकानों को (अभि) दोनों ओर से=अन्दर बाहर से (धावति) पवित्र करता है ।

२०. यथा विप्रस्य मनुषो हविर्भिर्देवां अयजः कविभिः कविः सन् ।

एवा होतः सत्यतर त्वमद्याग्ने मन्द्रया जुह्वा यजस्व ॥ ऋ० १।७६।५
हे (सत्यतर) अत्यन्त सत्यनिष्ठ (होतः) याज्ञिक (अग्ने) अग्रणी विद्वन् ! (यथा) जैसे (त्वम्) तू (कविभिः) कवियों=क्रान्तदर्शियों के द्वारा (कविः) कवि=क्रान्तदर्शी (सन्) होकर (विप्रस्य) मेधावी (मनुषः) मनुष्य की (हविर्भिः) हवियों से (देवान्) देवों को, विद्वानों को, दिव्यगुणों वा पदार्थों को (अयजः) सङ्गत करता है, इकट्ठा करता है (एवा) ऐसे ही (अद्य) आज (मन्द्रया) मधुर, आनन्द देने वाली (जुह्वा) होमसाधन से, [हमको भी] (यजस्व) संगत कर ।

२१. पुरः पुरोहा सखिभिः सखीयन् दृढा रुरोज कविभिः कविः सन् ॥

ऋ० ६।३२।३

(पुरोहाः) नगरों का नाश करने वाला (सखिभिः) मित्रों के साथ (सखीयन्) मित्रों का सा व्यवहार करता हुआ और (कविभिः) कवियों के साथ (कविः) कवि (सन्) होता हुआ (दृढा) दृढ़ (पुरः) नगरों को (रुरोज) तोड़ देता है ।

२२. एता ते अग्ने उचथानि वेधोऽवोचाम कवये ता जुषस्व ।

उच्छ्रोचस्व कृणुहि वस्यसो नो महो रायः पुरुवार प्र यन्धि ॥ ऋ० ६।२।२०
हे (वेधः) शुभगुणविधातः ! महाबुद्धिमन् ! (अग्ने) अग्रणी राजन् !
(एता) यह (उचथानि) उचित वचन (ते) तुझ (कवये) ज्ञानी के
लिये (अवोचाम) हमने कहे हैं (ता) उनको (जुषस्य) प्रीतिपूर्वक
सेवन कर=प्रेम से सुन । (उत्+शोचस्व) उत्तम रीति से सोच । (कृणुहि)
कर और (नः) हमको (वस्यसः) पूजनीय (कृणुहि) कर । हे
(पुरुवार) अनेक प्रकार से स्वीकार करने योग्य । हम को (महः) बड़ा
(रायः) धन (प्र) उत्तम रीति से (यन्धि) दे ।

२३. निवचना कवये काव्यान्यशंसिषम् ॥ ऋ० ४।३।१६

मैं ने (कवये) कवि के लिए (निवचनानि) सार्थक (काव्यानि)
काव्यमय वचन (अशंसिषम्) कहे ?

२४. कवेरपत्यमा दुहे ॥ ऋ० ६।१०।८

(कवेः) कवि से (अपत्यम्) सन्तान को (आ+दुहे) पूर्ण करता हूँ ।

अर्थात् विद्वान् से सन्तान को ज्ञानदान दिला कर पूर्ण बनाता हूँ ।

२५. मद्रस्य कवेर्दिव्यस्य वह्नेर्विप्रमन्मनो वचनस्य मध्वः ।

अपा नस्तस्य सचनस्य देवेषो युवस्व गृणते गोअग्राः ॥ ऋ० ६।४६।१

(मन्द्रम्य) आनन्दित करने वाले (कवेः) विद्वान् (दिव्यस्य) चाहने
योग्य (वह्नेः) संसारभार के वहन करने वाले (विप्रमन्मनः) विद्वानों
के से विचार आचार वाले के (मध्वः) मीठे (वचनस्य) वचन की
(अपाः) तृ रक्षा कर । हे (देव) देव ! (नः) हमारे (तस्य) उस
(सचनस्य) सब में धुल-मिल कर रहने वाले की (गृणते) स्तुति करने
वाले के लिए (गोअग्राः) गौर्ष हैं मुख्य जिनमें पेसी (इषः) इच्छाओं को
(युवस्य) युक्त कर, पूर्ण कर ।

२६. दिवः शशासुर्विदथा कवीनाम् ॥ ऋ० ३।१।१

(कवीनाम्) कवियों के (दिवः) प्रकाश से (विदथा) विज्ञानों को
(शशासुः) सिखावें ।

२७. उदीरय कवितमं कवीनाम् ऋ० ५।४२।३

(कवीनाम्) कवियों में से (कवितमम्) कवितम=श्रेष्ठ कवि को (उत्+
ईरय) प्रेरणा कर ।

अर्थात् भगवान् से प्रार्थना कर ।

२८. पूष्णश्चक्रं न रिष्यति न कोशोऽव पद्यते । नो अस्य व्यथते पविः ॥

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection. ऋ० ६।५।४३

(पूष्णः) पुष्टिकारक शिल्पी विद्वान् का (चक्रम्) कलायन्त्रादि (न) नहीं (रिष्यति) हिंसा करता है, टूटता है और (न) ना ही (अस्य) इसका (कीशः) धन, खज़ाना (अव + पद्यते) घटता है । और (नो) नहीं (अस्य) इसका (पविः) वज्र, शस्त्रास्त्रसमुदाय (व्यथते) विचलित होते हैं ।

बुद्धिमान् व्यवहारकुशल के सब पदार्थ ठीक रहते हैं ।

‘नो’ No अंग्रेज़ी में इसी रूप और अर्थ में प्रयुक्त होता है ।

२६. त्रयः पवयो मधुवाहने रथे ॥ ऋ० १।३४।२

(मधुवाहने) मधुरता प्राप्त कराने वाले (रथे) -रथ में (त्रयः) तीन (पवयः) वज्रसमान चलने वाले कलायन्त्र हैं ।

३०. सुकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून् ताडि वि मृधो नुदस्व ॥

ऋ० १०।१८०।२

(तिग्मम्) तीक्ष्ण तथा (सुकम्) चलायमान करने वाले (पविम्) वज्र को (सं + शाय) तेज़ कर (शत्रून्) शत्रुओं को (वि + ताडि) मार और (मृधः) युद्धों को (वि + नुदस्व) दूर कर ।

[घ]

१. स वाज्यर्वा स ऋषिर्वचस्यया स शूरो अस्ता पृतनासु दुष्टरः ।

स रायस्पोषं स सुवीर्यं दधे यं वाजा विभ्वाँ ऋभवो यमाविषुः ॥

ऋ० ४।३६।५

(यम्) जिसको (वाजः) विज्ञान, उद्देश अथवा विज्ञानी [प्रेम करता है रक्षा करता है] (यम्) जिसको (ऋभवः) ऋभु=महाबुद्धिमान् विद्वान् (विभ्वा) विभूति के द्वारा (आविषुः) रक्षा करते हैं (सः) वह (वाजी) विज्ञानी और (अर्वा) शुभ गुणों का प्राप्त करने वाला होता है (सः) वह (वचस्यया) प्रशंसनीय [वेद] वाणी से युक्त हुआ (ऋषिः) वेदार्थवेत्ता, परमात्मसाक्षात्कारी होता है (सः) वह (शूरः) वीर (अस्ता) शस्त्रास्त्र का प्रयोक्ता (पृतनासु) युद्धों में (दुष्टरः) दुर्लभ्य होता है । (सः) वह (रायः + पोषम्) धन की वृद्धि को और (सः) वही (सुवीर्यम्) उत्तम बल पराक्रम को (दधे) धारण करता है ।

ऋषि-शब्द के अर्थ निरुक्त में इस प्रकार लिखे हैं—

“ऋषिर्दर्शनाम् । ‘स्तोमानन्ददर्शी’ इत्यौपमन्यवः । ‘तद्यदेनांस्तपस्यमानान्

ब्रह्म स्वयम्भभ्यानर्षत्, त ऋषयोऽभवन्; तद्वशीणामृषित्वम्’ इति विज्ञायते ॥”

(निरुक्त २।११)

दर्शन के कारण ऋषि होता है । औपमन्यव आचार्य कहते हैं कि ‘स्तोमो=

वेदमन्त्रसमूहों के दर्शन किए, इस लिए ऋषि कहलाया। औपमन्यव जी के अर्थ की पुष्टि में यास्क जी तैत्तिरीयारण्यक २।६ 'तद्...त्वम्' को उद्धृत करते हैं— 'चूँकि तपस्या करते हुए इनको स्वयम्भुं ब्रह्म परमात्मा अथवा अपौरुषेय वेद प्राप्त हुआ, अतःएव वे ऋषि हुए, यही ऋषियों का ऋषिपन है।' ऐसा ब्राह्मण में कहा जाता है।

एक बात यहाँ स्मरण करने योग्य है कि जहाँ जहाँ निरुक्त में 'इति विज्ञायते' पाठ हो, वहाँ समझना चाहिए कि निरुक्तकार किसी ब्राह्मण ग्रन्थ का प्रमाण दे रहे हैं।

निरुक्त में दूसरे स्थान पर (१.२०) लिखा है—

साक्षात्कृतधर्माणिः ऋषयो बभूवुः ।

धर्म का साक्षात् करने वाले ऋषि होते हैं।

'ऋभु' शब्द का अर्थ निरुक्त में ऐसा लिखा है—

'उरु भान्ति' इति वा । 'ऋतेन भान्ति' इति वा, 'ऋतेन भवन्ति' इति वा ।

(११.१५)

जो बहुत चमकते हैं, अथवा जो ऋत=सत्यज्ञान और तदनुसार आचार से चमकते हैं, अथवा जो ऋत में [रत] रहते हैं।

इसके भाव को लेकर हमने 'ऋभवः' का अर्थ 'महाबुद्धिमान् विद्वान्' किया है।

२. तुभ्यं स्तोका घृतश्चुतोऽग्रे विप्राय सन्त्य ।

ऋषिः श्रेष्ठः समिध्यसे यज्ञस्य प्राविता भव ॥ ऋ० ३।२।१३

हे (अग्रे) ज्ञानप्रधान (सन्त्य) सन्त ! (घृतश्चुतः) घृत सींचन करने वाले या घृत से सींचे हुए (स्तोकाः) स्तुति करने वाले लोग अथवा स्तुति करने योग्य पदार्थ (तुभ्यम्) तुझ (विप्राय) मेधावी के लिए हैं। तू (श्रेष्ठः) सर्वोत्तम (ऋषिः) मन्त्रार्थ का जानने वाला (सम्+इध्यसे) भली प्रकार प्रकाशित हो रहा है, अतः (यज्ञस्य) संगति के योग्य व्यवहार का (प्राविता) अत्यन्त रक्षक (भव) हो।

'सन्त्य' शब्द का विकृत रूप संस्कृत से भिन्न अन्य भारतीय भाषाओं में 'सन्त' हो गया है। वेदानभिन्न संस्कृतज्ञ इसे 'सन्तः' का विकृत रूप समझते हैं, यह उनकी आन्ति वेदज्ञानविहीनता के कारण है।

३. ऋषी बोधप्रतिबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः ।

तौ ते प्राणस्य गोप्सरो दिवा नक्तं च जागृताम् ॥ ऋ० ५।३०।१०

(बोधप्रतिबोधौ) बोध और प्रतिबोध (ऋषी) ऋषि=यथार्थ ज्ञान कराने वाले हैं। (यः) जो (अस्वप्नः) न सोने वाला=प्रमादशून्य (च) और जो (जागृविः) जागरणशील=सदा सावधान है। (तौ) वे दोनों (ते) तेरे (प्राणस्य) प्राण के (जीवस्य) जीव के (गोप्सरो) रक्षक (दिवा)

दिन (च) और (नक्तम्) रात्रि (जागृताम्) जागते रहें, सावधान रहें । सामान्य ज्ञान को बोध कहते हैं और विशेष ज्ञान को प्रतिबोध कहते हैं । यह दोनों ऋषि=यथार्थ ज्ञान के देने वाले हैं ।

४. अन्वेनं विप्रा ऋषयो मदन्ति ॥ ऋ० १।१६२।७ ॥

(एनम्) इसकी (अनु) अनुकूलता में (विप्राः) मेधावी और [ऋषयः] वेदार्थवेत्ता (मदन्ति) आनन्दित होते हैं ।

५. यस्तत्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण ।

तं प्रत्नासः ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम् ॥ ऋ० ४।५०।१॥

(यः) जो (त्रिषधस्थः) तीनों स्थानों में रहने वाला=त्रिलोकी में व्याप्त (बृहस्पतिः) बृहस्पति=महान् भगवान् (सहसा) अपने वास्तविक बल से तथा (रवेण) उपदेशों के द्वारा (ज्मः) पृथिवी के=ब्रह्माण्ड के (अन्तान्) सिरों को (वि) विशेष रूप से (तस्तम्भ) थाम के रखता है (दीध्यानाः) ध्यानशील (प्रत्नासः) पुरातन विद्या के अभ्यासी (विप्राः) मेधावी (ऋषयः) साक्षात्कारी महात्मा (तम्) उस (मन्द्रजिह्वम्) मधुर उपदेशों को (पुरः) आगे (दधिरे) धारण करते हैं ।

जड़ और चेतन को अपनी स्वाभाविक शक्ति से और मनुष्यों को ज्ञानदान से भगवान् थामते हैं=व्यवस्था में रखते हैं । ज्ञानी लोग सदा उस त्रिलोकीनाथ का ध्यान करने हैं ।

‘ बृहस्पतिः ’ ‘ अग्नि ’ की भांति प्रथमा-एकवचन का रूप है ।

६. ये ऋष्या ऋष्टिविद्युतः कवयः सन्ति वेधसः ।

तमृषे मारुतं गणं नमस्या रमया गिरा ॥ ऋ० ५।५२।१३॥

(ये) जो (ऋष्याः) बड़े महाशय (ऋष्टिविद्युतः) ज्ञान में बिजली के समान, अथवा विद्युद्-विद्या के ज्ञानी (कवयः) क्रान्तदर्शी, सम्पूर्ण शास्त्रों के पण्डित और (वेधसः) मेधावी, नए नए पदार्थों के निर्माण में समर्थ (सन्ति) हैं । हे (ऋषे) वेदार्थवित् महात्मन् ! (मारुतम्) विद्वान् मनुष्यों के (तम्) उस (गणम्) समूह को (नमस्य) नमस्कार कर, और (गिरा) वाणी से (रमय) आनन्दित कर ।

७. मिमातु द्यौरदितिर्वीतयं नः सं दानुचित्रा उपसो यतन्ताम् ।

आचुच्युवुर्दिव्य कोशमेत ऋषे रुद्रस्य मरुतो गृणानः ॥ ऋ० ५।५६।८ (अदितिः) माता के समान (द्यौः) ज्ञानप्रकाश (वीतये) विज्ञान प्राप्ति के लिए (नः) हमारा (मिमातु) मान करे (दानुचित्राः) अद्भुत दानवाली (उपसः) उषाएं=कमनीय देवियां (सम्) समताके भाव के लिए (यतन्ताम्) यत्न करें । हे (ऋषे) वेदार्थवेत्ता ! (रुद्रस्य) रुद्र के=प्राणाधार पर-

मात्मा के (गृणानाः) स्तुति कर्त्ता (एते) यह (मरुतः) प्राणवान् मनुष्य (दिव्यम्) दिव्य (कोशम्) कोश को, खजाने को (आ+चुच्युवुः) सब ओर से प्राप्त करते हैं।

८. अयं नाभा वदति वल्गु वो गृहे देवपुत्रा ऋषयस्तच्छृणोतन ।
सुब्रह्मण्यमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृम्णीत मानवं सुमेधसः ॥

ऋ० १०।१६२।४

(अयम्) यह (नाभा) स्तुति करनेवाला वल्गु (वः) तुम्हारे (गृहे) घर में= हृदय में (वल्गु) उत्तम रीति से (वदति) बोलता है। हे (देवपुत्राः) देव-पुत्रो ! (ऋषयः) ऋषियो ! (तत) वह (शृणोतन) तुम सुनो ! हे (अङ्गिरसः) प्राणशक्तिसंपन्न महात्माओ ! (वः) तुम्हारा (सुब्रह्मण्यम्) उत्तम ब्रह्मण्य (अस्तु) हो। हे (सुमेधसः) महामेधाशक्ति वालो ! (मानवम्) मानव शरीर को (प्रति) फिर से, लौट कर (गृम्णीत) ग्रहण करो।

इस मन्त्र की विशेष व्याख्या हमारे लिखे 'वैदिक धर्म' के 'मुक्ति से पुनरावृत्ति' नामक प्रकरण में देखिये।

९. ऋषिं नरावंहसः पाञ्चजन्यमृषीसादत्रि मुञ्चथो गणेन ॥ ऋ० १।११७।३
हे (नरौ) दो नेताओ ! (पाञ्चजन्यम्) पंचजन-गोरे, काले, लाल, पीले और गेहुएँ रङ्गवाले—अर्थात् मनुष्य मात्र के हितकारी (अत्रिम्) आत्मिक, मानसिक, शारीरिक दुःखों से रहित, अथवा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तापों से शून्य (गणेन) गण=छात्र समूह के साथ वर्त्तमान (ऋषिम्) वेदपारगामी उपदेशक अध्यापक को (ऋषीसात्) विद्या-नाशक (अंहसः) दोष से (मुञ्चथः) तुम दोनों छुड़ाते हो।

गृहस्थों का कर्त्तव्य है कि वेदोपदेशक या वेदाध्यापक के मार्ग में जो विद्या-विनाशकारी विघ्न हों, उन्हें दूर करें।

'ऋषीस' का अर्थ निरुक्तकार ने इस प्रकार लिखा है—

‘ऋषीसम्=अपगतभासम् अपहृतभासं अन्तर्हितभासं गतभासं वा ॥’ (नि. ६।३५)

ऋषीस का अर्थ 'प्रकाशशून्य,' अथवा जिसका प्रकाश हटा लिया गया हो या छिपा लिया गया हो।

१०. वृषभोसि स्वर्गं ऋषीनार्षेयान् गच्छ ॥ अ० १।१।३५

तु (स्वर्गः) स्वः=सुख प्राप्त कराने वाला (वृषभः) शक्तिवाला, सुखवर्षक है, अतः (आर्षेयान्) ऋषियों के हितकारी (ऋषीन्) ऋषियों को (गच्छ) प्राप्त हो।

११. तस्माद् जज्ञ इदं सर्वं यत्किं चेदं विरोचते रोहितेन ऋषिणाभृतम् ॥

अ० १३।१।५५

(इदम्) यह (सर्वम्) सब (तस्मात्) उससे (ह) ही (जज्ञे) उत्पन्न हुआ,

(यत्) जो (किं+च) कुछ भी (इदम्) यह (रोहितेन) रोहित=उज्जत अवस्था वाले (ऋषिणा) ऋषि से (आभृतम्) धारण किया हुआ (विरोचते) चमक रहा है ।

१२. यः पावमानीरध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम् ।

सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना ॥ ऋ० ६।६७।३१

(यः) जो (पावमानीः) पावमानी=पवित्र वैदिक ऋचाओं को (अधि+एति) विचार पूर्वक मनन करता है (सः) वह (ऋषिभिः) ऋषियों से (संभृतम्) भली प्रकार धारण किए गए और (मातरिश्वना) मातरिश्वना=जगन्माता के सहारे बढ़ने वाले से (स्वदितम्) भोगे जाते हुए (सर्वम्) सारे (पूतम्) पवित्र (रसम्) रस को=आनन्द को (अश्नाति) भोगता है ।

१३. पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम् ।

तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सपिर्मधूदकम् ॥ ऋ० ६।६७।३२

(यः) जो (पावमानीः) पवित्र वैदिक ऋचाओं को (अधि+एति) विचार पूर्वक मनन करता है । (सरस्वती) धाराप्रवाह रूप में चले आते ज्ञान का अधिष्ठाता परमदेव परमात्मा (तस्मै) उसके लिए (ऋषिभिः+संभृतम्+रसम्) ऋषियों से धारण किये हुए रस को, (क्षीरम्) दूध को (घृतम्) घृत को (मधु) मधु को (उदकम्) जल को (दुहे) भरपूर करता है ।

इन दो मन्त्रों में वेदविचार की महिमा गाई गई है ।

१४. भीताय नाधमानाय ऋषये सप्तवध्रये ।

मायाभिरश्विना युवं वृक्षं सं च विचाचथः ॥ ऋ ५।७८।६

हे (अश्विनौ) अध्यापक और उपदेशक जनो! (युवम्) तुम दोनों (मायाभिः) बुद्धियों से, युक्तियों से, (भीताय) डरे हुए, संसार से भयभीत [अतएव] (नाधमानाय) उपतप्यमान और (सप्तवध्रये) सात=पंच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि वश में प्राप्त हैं जिसके ऐसे (ऋषये) वेदार्थप्रचारक के लिए (वृक्षम्) संसार-रूपी वृक्ष को (सम्) भली प्रकार (च+च) और विशेष प्रकार से (अचथः) प्राप्त कराते हो और काटते हो ।

१५. इदं नम ऋषिभ्यः ॥ अ० १८।२।२

(ऋषिभ्यः) ऋषियों के लिए [को] (इदम्) यह (नमः) नमस्कार ।

१६. इन्द्रावरुणा यदृषिभ्यो मनीषां वाचो मतिं श्रुतमदत्तमग्रे ।

यानि स्थानान्यसृजन्त धीरा यज्ञं तन्वानास्तपसाभ्यपश्यम् ॥

ऋ० ८।५६।६

हे (इन्द्रावरुणा) इन्द्र और वरुण ! (यत्) जो, तुम ने (ऋषिभ्यः) ऋषियों

से (मनीषाम्) बुद्धि को (वाचः) वाणियों को (मतिम्) विचार को, कर्म को (श्रुतम्) सुना और (अग्रे) आगे (अदत्तम्) दिया। और (यज्ञम्) यज्ञ को (तन्वानाः) करने वाले (धीराः) ध्यानियों ने (यानि) जिन (स्थानानि) स्थानों को (असृजन्त) बनाया, (तपसा) तप के द्वारा [उन सब को] (अभि+अपश्यम्) मैंने भली प्रकार देख लिया है।

इस मन्त्र में तप का महत्त्व बतलाया गया है।

१७. माकिर्न एना सख्या वि यौषुस्तव चेन्द्र विमदस्य च ऋषेः ॥

ऋ० १०।२३।७

हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् ! (नः) हमारी (एना) यह (सख्या) मैत्रियों (माकिः) नहीं (वि+यौषुः) वियुक्त हों, नष्ट हों (च) और हे इन्द्र ! (तव) तेरी और (विमदस्य) मदरहित, अहङ्काररहित (ऋषेः) वेदज्ञ की (च) भी [मैत्री नष्ट न हो]

१८. तदतं पृथिवि बृहच्छ्रव एष ऋषीणाम् ॥ ऋ० ५।६६।५

(पृथिवि) पृथिवी की भांति दृढ़शीले ! (ऋषीणाम्) ऋषियों के (बृहत) बड़े (अवः) यश को (एषे) प्राप्त करने के लिए (तत) वह, प्रसिद्ध (ऋतम्) सृष्टिनियम [ही साधन है]।

१९. तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् ॥ ऋ० १०।७१।३

(ताम्) उस वाणी को (ऋषिषु) ऋषियों में (प्रविष्टाम्) प्रविष्ट (अनु+अविन्दन्) उन्होंने जाना।

२०. द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्या वत्समुपधापयेते ।

हरिरन्यस्यां भवति स्वधावाञ्छुक्रो अन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः ॥

ऋ० १।९५।१

(द्वे) दो (विरूपे) परस्पर विरुद्ध रूपों वाले—रात दिन (स्वर्थे) उत्तम प्रयोजन के लिए (चरतः) चलते हैं। वे दोनों (अन्यान्या) परस्पर मिलकर (वत्सम्) संसार-रूप बच्चे को (उप+धापयेते) पालन करते हैं। (अन्यस्याम्) इनमें से एक में—रात्रि में (हरिः) चन्द्र (स्वधावान्) अपनी शक्ति वाला (भवति) होता है और (अन्यस्याम्) दूसरी बेला में—दिन में (शुक्रः) सूर्य (सुवर्चाः) उत्तम प्रकाशवाला (ददृशे) दीखता है।

२१. युजन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे । शोणा धृष्ण नृवाहसा ॥

ऋ० १।६।३

(अस्य) सूर्य या अग्नि के (काम्या) सबसे चाहनेयोग्य (विपक्षसा) नाना प्रकार के कलायन्त्रादि पक्षों से युक्त (शोणा) लाल रङ्ग वाले (धृष्ण) दृढ़ (नृवाहसा) मनुष्यों को ले जाने वाले (हरी) हरणशील-आकर्षण और

वेग को (रथे) रथ में, यान में (युञ्जन्ति) जोड़ते हैं।

२२. इमा धाना घृतस्नुवो हरी इहोपवचतः । इन्द्रं सुखतमे रथे ॥ ऋ० १।१६।२
(हरी) आकर्षण और वेग (इमाः) इन (घृतस्नुवः) जल चुवानेवाली (धानाः) दीप्तियों को (इह) इस संसार में (उपवचतः) समीप लाते हैं, और (इन्द्रम्) सूर्य को मानो (सुखतमे) अतिशय सुखदायी (रथे) रमण साधन के निमित्त [यहाँ लाते हैं] ।

२३. पुनानः वरिवस्कृष्यूर्जे जनाय गिर्वणः । हरे सृजान आशिरम् ॥

ऋ० १।६४।१४

हे (गिर्वणः) वेद वाणी के उपासक (हरे) हरण शील ! (पुनानः) पवित्र होता हुआ तू (जनाय) लोगों के लिए (आशिरम्) भोजन सामग्री को (सृजानः) सिरजन करता हुआ, (वरिवः) सेवा (कृधि) कर और (ऊर्जम्) बल [कृधि=पैदा कर] ।

२४. अप्सु त्वा मधुमत्तमं हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः ॥ ऋ० १।३०।५॥

(त्वा) तुझ (मधुमत्तमम्) अत्यन्त मधुर (हरिम्) हरणशील को (अद्रिभिः) बादलों के द्वारा (अप्सु) जलों में (हिन्वन्ति) प्रेरित करते हैं ।

२५. याति शुभ्राभ्यां यजतो हरिभ्याम् । ऋ० १।३५।३

(यजतः) सब पदार्थों को संगत करने वाला [सूर्य] (शुभ्राभ्याम्) शुद्ध (हरिभ्याम्) हरियों—दक्षिणायन और उत्तरायण—के द्वारा (याति) गति करता है ।

२६. उप नः सुतमागहि हरिभिरिन्द्र कोशिभिः । सुते हि त्वा हवामहे ॥

ऋ० १।१६।४

हे (इन्द्र) इन्द्र ! (केशिभिः) प्रकाशयुक्त (हरिभिः) दीप्तियों के साथ (नः) हमारे (सुतम्) निर्मित वस्तु को, यज्ञ को (उप) समीप से (आ+गहि) प्राप्त कर (हि) क्योंकि (सुते) यज्ञ में (त्वा) तुझको (हवामहे) हम चाहते हैं ।

२७. प्र पस्त्यमसुर हर्यतं गोराविष्कृधि हरये सूर्याय ॥ ऋ० १०।१६।११

हे (असुर) प्राणाधार या बादल ! (गोः) गौ के=पृथिवी के (हर्यतम्) कमनीय (पस्त्यम्) रूप को (हरये) हरण शील (सूर्याय) सूर्य के लिए (प्र+आविः+कृधि) उत्तम रीति से प्रकट कर ।

‘असुर’ शब्द का अर्थ बादल भी होता है। उसको संबोधन किया जाता है, इससे उसमें चेतनत्व के आरोप की कल्पना करना अयुक्त है, क्योंकि लोक में भी अचेतन पदार्थों को संबोधन करने की शैली है। सूर्य और पृथिवी के मध्य में आप हुप घने बादल से पृथिवी पर अन्धकार छा जाता है, बादल के हटने पर प्रकाश

हो जाता है। इस स्वाभाविक प्राकृतिक घटना को कवित्तम ने कविता में कहा है।

२८. सहस्राह्वयं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हसस्य पततः स्वर्गम् । अ० ८।२।१८
(हरेः) हरण शील (अस्य) इस (हंसस्य) सूर्य के (वियतौ) आकाश में [फैले हुए] (पक्षौ) पक्ष—आकर्षण-धारण (सहस्राह्वयम्) हजारों दिनों (स्वर्गम्) स्वर्ग=आनन्द के साधन को (पततः) प्राप्त कराते हैं।

२९. यासि कुत्सेन सरथमवस्युस्तोदो वातस्य हयोरिशानः । ऋ० ४।१६।११
(अवस्युः) रक्षाभिलाषी (तोदः) शत्रुघाती तू (वातस्य) वायु का और (हयोर्योः) घोड़ों का (ईशानः) स्वामी होता हुआ भी (कुत्सेन) निन्दित के साथ (सरथम्) एक रथ पर, या रथादि के साथ (यासि) जाता है !

३०. वायो शतं हरीणां युवस्व पोष्याणाम् ।

उत वा सहस्रिणो रथ आ यातु पाजसा ॥ ऋ० ४।४८।५

हे (वायो) वायु के समान बलवन् ! (पोष्याणाम्) पोषण करने योग्य (हरीणाम्) मनुष्यों के (शतम्) सैकड़ों को (युवस्व) प्रेरणा करो, इकट्ठा करो। (उत + वा) अथ च (ते) तुझ (सहस्रिणः) अनन्तशक्ति वाले के (पाजसा) बल से (रथः) रमणसाधन (आ + यातु) सब ओर से प्राप्त होवे।

३१. पृष्ठं धावन्तं हयोरौचैःश्रवसमब्रुवन् ।

स्वस्त्यश्च जैत्रायेन्द्रमा वह सुस्रजम् ॥ अ० २०।१२।८।१५

(हयोर्योः) दो घोड़ों में से (पृष्ठं + धावन्तम्) पीछे दौड़ते हुए (औचैः-श्रवसम्) अत्यन्त प्रसिद्ध अथवा खड़े कानों वाले को (अब्रुवन्) वे बोले, हे (अश्व) घोड़े ! (जैत्राय) विजयशीलता के लिए (सुस्रजम्) उत्तम माला वाले (इन्द्रम्) शत्रुविदारक को (आ + वह) उठा, लेजा।

‘हरि’ शब्द के सम्बन्ध में निरुक्त में यह लिखा है—

‘हरिः सोमो हरितवर्णः । अयमपीतरो हरिरेतस्मादेव । निरु० ४।१६

हरि सोम को कहते हैं, क्योंकि वह हरित रंग वाला होता है। यह दूसरा हरि—वानर आदि भी इसी कारण से ‘हरि’ कहलाता है।

हरयः—हरणा आदित्यरश्मयः (नि० ७।२४)

हरयः (हरि का बहुवचन) का अर्थ सूर्य-किरणें हैं।

निघण्टु (२-३) में ‘हरि’ का अर्थ मनुष्य लिखा है।

‘हरि’ द्विमचनान्त का इन्द्र के साथ बहुत वर्णन आता है, उसका रहस्य तथा अन्य अर्थ देवताप्रकरण में निरूपण किए जायेंगे।

चतुर्थः पाठः

[क]

सभी इकारान्त शब्दों के रूप अग्नि शब्द के रूपों की भांति चलते हैं, यह बताया जा चुका है। और अग्नि के अतिरिक्त कवि पवि ऋषि और हरि शब्दों के कुछ उदाहरण भी दिखाए जा चुके हैं। इस उत्सर्ग=साधारण नियम का अपवाद भी है। 'पति' और 'सखि' शब्दों के रूप इससे भिन्न चलते हैं। उन दोनों शब्दों के रूप तथा उदाहरण यहां दिये जाते हैं। सब से पूर्व 'पति' शब्द के रूप देखिए—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	पतिः	पती	पतयः
सं०	पते	पती	पतयः
द्वितीया	पतिम्	पती	पतीन्
तृतीया	पत्या, पतिना	पतिभ्याम्	पतिभिः
चतुर्थी	पत्ये, पतये	पतिभ्याम्	पतिभ्यः
पंचमी	पत्युः, पतेः	पतिभ्याम्	पतिभ्यः
षष्ठी	पत्युः, पतः	पत्योः	पतीनाम्
सप्तमी	पत्यौ, पतौ	पत्योः	पतिषु

सामान्य नियम से इसका तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी और सप्तमी विभक्तियों के एक वचन में भेद है। यथा—

तृतीया	अग्निना	पत्या
चतुर्थी	अग्नये	पत्ये
पंचमी	अग्नेः	पत्युः
षष्ठी	अग्नेः	पत्युः
सप्तमी	अग्नौ	पत्यौ

लौकिक संस्कृत में 'पति' के रूप इसी प्रकार आते हैं। किन्तु वेद में दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। अतः हमने रूप देते हुए दोनों प्रकार के रूप दिखाए हैं। अब इन रूपों के उदाहरणों को देखिये और अर्थ सहित मनन कीजिए। अब तक जितने वाक्यों का आपने अभ्यास किया है, उनके आधार पर कहा जा सकता है कि वेद अत्यन्त सरल हैं। और सरल होने के साथ अत्यन्त उच्च भावों की शिक्षा से भरा हुआ है। अस्तु।

१. पतिर्ध्वराणामग्ने दूतो विशामसि ।

उर्बुध आ वह सोमपीतये देवाँ अद्य स्वर्दशः ॥ ऋ० १।४४।६

हे (अग्ने) विद्वान् ! (हि) यतः त्व (अध्वराणाम्) यज्ञों का (पति!)

पालक, रक्षक है और (विशाम्) प्रजाओं का (दूतः) विघ्ननाशक (असि) है । [अतः] त्व (अद्य) आज (सोमपीतये) सोमपान के लिए, अमृत-

रसपान के लिए (उपबुधः) उपः काल में जागने वाले (स्वर्द्धशः) आनन्द को जानने वाले, जनाने वाले (देवान्) विद्वानों को, दिव्य गुणों को (आ + वह.) पूरी तरह प्राप्त हो ।

विद्वान् ही यज्ञरक्षक तथा यज्ञों के विघ्नों का नाशक होता है, विद्वान् ही प्रजापालन और प्रजा के दुःखों को दूर कर सकता है । जो महापुरुष उपःकाल में जागने वाले, निरालस्य, सदा आनन्दानुभव करते हैं, उनके सत्सङ्ग से मनुष्य को आनन्द-रस प्राप्त हो सकता है । अतः उनका सत्सङ्ग सदा करना चाहिए ।

‘दूत’ शब्द दु-‘दु’ उपतापे धातु से बनता है । जिसका अर्थ ‘अपनी युक्तियों से शत्रुओं को तपाने वाला, अतएव स्वपक्ष के विघ्नों का दूर करने वाला’ होता है ।

ब्राह्मणग्रंथों में अग्नि का अर्थ दूत (अग्निरेव देवानां दूत आस शं० ३।५.१।१२) भी लिखा है, यह मन्त्र उस अर्थ का मूल है ।

२. त्वं भुवः प्रतिमानं पृथिव्या ऋष्ववीरस्य बृहतः पतिर्भूः ।

विश्वमाप्रा अन्तरिक्षं महित्वा सत्यमद्वा नकिरन्यस्त्वावान् ॥

ऋ० १।५२।१३

हे परमेश्वर ! (त्वम्) तू (पृथिव्याः) अत्यन्त विस्तृत (भुवः) भूमि का (प्रतिमानम्) निर्माणकर्त्ता है और (बृहतः) महान् (ऋष्ववीरस्य) बड़े बड़े वीरों वाले का (पतिः) स्वामी (भूः) है । तू (महित्वा) महत्ता के कारण (विश्वम्) सम्पूर्ण (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (सत्यम्) सचमुच (अद्वा) साक्षात् (आप्राः) भरता है, पूर्ण करता है, व्याप्त करता है । (त्वावान्) तुझ जैसा (अन्यः) दूसरा (नकिः) नहीं है ।

३. ये त्रिपसाः परियन्ति विश्वारूपाणि बिभ्रतः ।

वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ अ० १।१।१.

(विश्वा) संपूर्ण (रूपाणि) रूपों को (बिभ्रतः) धारण करते हुए (ये) जो (त्रिपसाः=त्रिसप्ताः) तीन सात (परि यन्ति) सर्वत्र प्राप्त हो रहे हैं (वाचः) वाणीका (पतिः) पति, परमेश्वर (तेषाम्) उनके (तन्वः) विस्तार के (बला) बलों को, शक्तियों को (अद्य) आज (मे) मुझे (दधातु) देवे, धारण कराए ।

इसके ३०, ४० अर्थ हैं । यह जगत् तीन और सात का=सत्त्व, रजः, तमः और महत्त्व, अहङ्कार, शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा का खेल हैं । इस मन्त्र की पूरी व्याख्या ‘अनेकार्थक मन्त्र’ प्रकरण में की जाएगी ।

४. तद् पु वामजिरं चेति यानं येन पती भवथः सूर्यायाः ॥ ऋ० ४।४३।६

(तत् + उ) वही (वाम्) तुम दोनों का (यानम्) यान, तुम्हारे (अजिरम्) आङ्गण को, अथवा क्षेपण-बल को, चालन शक्ति को (पु=सु) भली प्रकार

(चेति) जानता है (येन) जिस यान के कारण, तुम दोनों (सूर्यायाः) सूर्या=सौर तेज के (पती) स्वामी अथवा रक्षक (भयथः) होते हो ।

५. ता सम्राजा घृतासुती आदित्या दानुनस्पती ।

सचेते अनवह्वरम् ॥ ऋ० २।४१।६

(सम्राजा) भली भांति प्रकाशमान, अथवा चक्रवर्ती सम्राट् के समान वर्तमान (घृतासुती) जल के उत्पन्न करने वाले (दानुनः) दान के, दानी के (पती) रक्षक (तौ) वे दोनों (आदित्या) आदित्य=मित्र और वरुण (अनवह्वरम्) सरलता से (सचेते) एक दूसरे से मिलते हैं ।

इस मन्त्र का देवता=मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय 'मित्रावरुणौ' है । मित्र और वरुण को वेद में अनेक स्थलों पर जल बनाने वाला कहा है, अतः मुनिवर गुरुदत्त जी ने इनका अर्थ (Oxygen और Hydrogen) ओषजन तथा आर्द्रजन किया है ।

६. एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः ।

बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ऋ० ४।५०।६

(एवा) इसी प्रकार [हम] (पित्रे) पालक, पिता (विश्वदेवाय) सब के प्रकाशक, सब से चाहने योग्य (वृष्णे) सुख की वृष्टि करने वाले के लिए (यज्ञैः) यज्ञों के द्वारा (नमसा) नमस्कार के द्वारा और (हविर्भिः) हवियों=श्रद्धाभक्ति के भावों के द्वारा (विधेम) परिचर्या करें । हे (बृहस्पते) बड़ों से बड़ों के भी पालक ! (वयम्) हम (सुप्रजाः) उत्तम सन्तानों वाले (वीरवन्तः) वीरों वाले और (रयीणाम्) धनों के (पतयः) पति=स्वामी (स्याम) हों ।

७. शन्नः सत्यस्य पतयो भतन्तु शन्नो अर्वन्तः शम्भु सन्तु गावः ।

शन्न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शन्नो भवन्तु पितरो हवेषु ॥ ऋ० ७।३५।१२

(हवेषु) उत्तम कार्य्यों में, (सत्यस्य) सत्य के (पतयः) रक्षक (नः) हमारे लिए (शम्) सुखदायी (भवन्तु) हों (अर्वन्तः) उत्तम घोड़े (नः) हमारे लिए (शम्) सुखदायी हों, (गावः) गौएँ (उ) भी (शम्) सुखदायी हों (सुकृतः) धर्मात्मा (सुहस्ताः) अच्छे हाथों वाले=निपुण (ऋभवः) मेधावी कारीगर (नः) हमारे लिए (शम्) सुखदायी हों । (पितरः) पितृजन (नः) हमारे लिए (शम्) सुखदायी (भवन्तु) हों ।

८. रायः स्याम पतयो वाजरत्नाः ॥ ऋ० ५।४६।४

(वाजरत्नाः) ज्ञानरूपी रत्नों वाले हम (रायः) ऐश्वर्य के (पतयः) रक्षक, स्वामी (स्याम) होंगे ।

९. सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥ ऋ० ४।५१।१०

[हम] (सुवीर्यस्य) उत्तम शक्ति के (पतयः) स्वामी (स्याम) होंगे ।

१०. प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ऋ० १०।१२१।१०
हे (प्रजापते) सम्पूर्ण प्रजाओं के स्वामिन् ! (त्वत्) तुझ से (अन्यः) भिन्न (ता) उन (पतानि) इन विश्वा सम्पूर्ण (जातानि), उत्पन्न हुआ को (न) नहीं (परि+बभूव) तिरस्कार करता है, वा दवाता है । (यत्कामाः) जिस अभिलाषा वाले हुए हम(ते) तुझे (जुहुमः) पुकारते हैं (तत्) वह (नः) हमारा (अस्तु) हो जावे (वयम्) हम (रयीणाम्) धनों के (पतयः) स्वामी (स्याम्) होंगे ।

११. क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्च । मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृळयन्तु ॥ ऋ० ४।५७।२
हे (क्षेत्रस्य) क्षेत्र=खेत के (पते) स्वामिन् ! रक्षक ! (इव) जिस प्रकार (धेनुः) गौ (पयः) दूध [देती है] उसी प्रकार तू (अस्मासु) हममें=हमारे निमित्त (मधुमन्तम्) मधुराली=मीठी (ऊर्मिम्) जल की लहर (धुक्च) दुहा, पूर्ण कर । (घृतम्+इव) घृत के समान (मधुश्चुतम्) मधु चुआने वाले, मधुरता देने वाले (सुपूतम्) अत्यन्त पवित्र [ज्ञान को प्राप्त करके] (ऋतस्य) ऋतके, सत्यके, सृष्टि नियम के (पतयः) पालक (नः) हमें (मृळयन्तु) सुखी करें ।

१२. वसिष्वा हि मियेध्य वस्त्राण्यूर्जा पते । सेमं नो अध्वरं यज ॥

ऋ० १।२६।१

हे (ऊर्जाम्) बलों, पराक्रमों और अन्नों के (पते) स्वामिन् ! पालक ! रक्षक ! हे (मियेध्य) यज्ञ द्वारा पदार्थों को आकाश की ओर फेंकनेवाले विद्वन् ! (वस्त्राणि) वस्त्रों को, कपड़ों को (वसिष्वा=वसिष्वा) पहिन (हि) ही । (सः) वह तू (नः) हमारे (इमम्) इस (अध्वरम्) हिंसा रहित यज्ञ को (यज) यजन कर, संगत कर ।

यज्ञसमय याज्ञिक को कपड़े पहिनने का आदेश है ।

अश्विना यज्वरीरिषो द्रवत्पाणी शुभस्पती । पुरुषुजा चनस्यतम् ॥

ऋ० १।३।१

हे (द्रवत्पाणी) तेज़ हाथों वाले (शुभः) शुभ के (पती) रक्षक (पुरुषुजा) अनेक भोग्य पदार्थों के सम्पादक—(अश्विना) दो अश्वियो ! (यज्वरीः) संगत करने योग्य, शिल्प व्यवहार के साधक (इषः) अभीष्ट क्रियाओं को, अथवा अन्नों को (चनस्यतम्) अन्नसमान सेवन करो ।

‘अश्विनौ’ के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक तो ‘देवता’-प्रकरण में लिखेंगे । यहाँ संक्षेप से कुछ संकेत कर देते हैं । यास्कमुनि जी ने निरुक्त के १२।१ में इस प्रकार लिखा है—

अथातो द्युस्थाना देवताः । तासामश्विनौ प्रथमगामिनौ भवतः । अश्विनौ-
यद्व्यश्नुवाते सर्वम्, रसेनान्यो ज्योतिषान्यः । अश्वैराश्विनावित्यौर्णवामः ।
तत्कावश्विनौ ? द्यावापृथिव्यौ इत्येके ; अहोरात्रौ इत्येके ; सूर्याचन्द्रमसौ इत्येके ॥

अर्थात्—अब यहाँ से द्युस्थानी=प्रकाश में रहनेवाले देवतों का अनुक्रम करते हैं। उनमें 'अश्विनौ' मुख्य हैं। चूँकि सबको व्याप्त करते हैं, अतः 'अश्विनौ' कहलाते हैं, एक रस=जल के द्वारा, दूसरा ज्योतिः=प्रकाश के द्वारा। 'और्णवाम' आचार्य का मत है, अश्ववाले होने के कारण वे 'अश्विनौ' कहलाते हैं। तो वे 'अश्विनौ' क्या हैं ? कईयों का मत है कि द्यावापृथिवी=द्युलोक और पृथिवीलोक 'अश्विनौ' हैं। कईयों के मत में दिन रात 'अश्विनौ' हैं। कईयों के मत में सूर्य और चन्द्र 'अश्विनौ' हैं।

निरुक्तकार का यह सन्दर्भ बतलाता है कि आग पानी, सूर्य चन्द्र, पृथिवी-आकाश, दिन रात आदि जोड़ों का नाम 'अश्विनौ' है। इसी प्रकार जो जोड़े कभी वियुक्त न होते हुए संसार के=सृष्टिकार्य के साधक हों, वे 'अश्विनौ' कहलाएँगे।

१३. इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः ।

रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥ ऋ० १।११।१

(विश्वाः) सब (गिरः) वाणियाँ (समुद्रव्यचसम्) अन्तरिक्ष तक में व्यापक (रथीनाम्) रथ=रमणसाधन वालों में से (रथीतमम्) सर्वोत्तम रमणसाधन वाले (सत्पतिम्) सच्चे मालिक, सज्जनपालक (वाजानाम्) ज्ञान, क्रिया और अन्न के (पतिम्) पालक स्वामी (इन्द्रम्) अखिलैश्वर्यसम्पन्न भगवान् को (अवीवृधन्) लगातार बढ़ाती हैं।

अर्थात्—सृष्टि के सब पदार्थ मानो अपनी वाणी से भगवान् की महिमा गा रहे हैं।

१४. सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् । सनिं मेधामयासिपम् ॥

ऋ० १।१८।६

मैं (इन्द्रस्य) इन्द्र=जीव के (काम्यम्) चाहने योग्य (सनिम्) संभाग करने वाले, अर्थात् पाप पुण्य का फल देने वाले (अद्भुतम्) अद्भुत, अभूत-पूर्व (सदसः) संपूर्ण स्थान के (पतिम्) स्वामी परमेश्वर को और (मेधाम्) मेधा=धारणावती बुद्धि को (अयासिपम्) प्राप्त हुआ हूँ।

१५. क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि ।

गामश्चं पोषयित्वा स नो मृळातीदृशे ॥ ऋ० ४।५७।१

(वयम्) हम (हितेन+इव) हितकारी के समान (क्षेत्रस्य) क्षेत्र=शरीर के (पतिना) स्वामी परमेश्वर से युक्त होकर (पोषयित्वा) पुष्टि करने वाले (गाम्) गौ (अश्वम्) अश्व की (जयामसि) जीतते हैं, अधिकार

में करते हैं। (सः) वह क्षेत्रपति (ईदृशे) ऐसे कार्य्यों में (नः) हमें (आ+मृच्छाति) सब प्रकार से सुखी करता है।

'क्षेत्र' शब्द का अर्थ खेत के अतिरिक्त शरीर भी होता है। इसके लिए हमारी लिखी 'ब्रह्मोद्योपनिषत्' देखिए।

१६. उपस्पतिर्वाचस्पतिना संविदानो वाचस्पतिरुपस्पतिना संविदानः ॥

अ० १६।६।६

(उपः+पतिः) उपा का=ज्ञान-प्रकाश का स्वामी (वाचः) वाणी के (पतिना) पति के साथ (संविदानः) एकता को प्राप्त किए हुए है और (वाचः+पतिः) वाणी का पति (उपः) ज्ञानप्रकाश के (पतिना) पति के साथ (संविदानः) एकता प्राप्त किए हुए है।

१७. सं जायां पत्या सृज ॥ ऋ० १०।८५।२२

(जायाम्) पत्नी को (पत्या) पति से (सम्+सृज) भली प्रकार मिला।

१८. गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। ऋ० १०।८५।६

(सौभगत्वाय) सौभाग्य के लिए (ते) तेरे (हस्तम्) हाथ को (गृभ्णामि) मैं पकड़ता हूँ, (यथा) जिससे तू (मया) मुझ (पत्या) पति के साथ (जरदष्टिः) वृद्धावस्था को प्राप्त होने वाली (असः) हो। विवाह को पाणिग्रहण इसी मन्त्र के आधार पर कहा जाता है।

२०. इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि।

एना पत्या तत्त्वं संसृजस्वाधा जित्री विदथमा वदाथः॥ ऋ० १०।८५।२७

(इह) इस संसार में (प्रजया) सन्तान के साथ (ते) तेरा (प्रियम्) प्रिय=प्रभीष्ट (समृध्यताम्) बढ़े, समृद्ध होवे। (अस्मिन्) इस (गृहे) घर में (गार्हपत्याय) गार्हपत्य के लिए, गृहरक्षा के लिए (जागृहि) तू जागती रह, सावधान रह। (एना) इस (पत्या) पति के साथ (तन्मम्) शरीर को (सं+सृजस्व) अच्छी प्रकार मिला। (अध) इसके बाद (जित्री) बढ़े हुए तुम दोनों (विदथम्) ज्ञानवार्त्ता (वदाथः) बोलो।

अर्थात्—वृद्धावस्था में गृहस्थाश्रम छोड़ कर ज्ञानचर्चा में लग जाओ।

२१. नमः क्षेत्रस्य पतये ॥ अ० २।८।५

(क्षेत्रस्य) क्षेत्र के (पतये) स्वामी के लिए (नमः) नमः हो।

२२. ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः।

धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे ॥ अ० ३।१०।१०

(ऋतुभ्यः) ऋतुओं के लिए (आर्तवेभ्यः) ऋतुसम्बन्धी पदार्थों के लिए (माद्भ्यः) मासों के लिए (संवत्सरेभ्यः) संवत्सरों=वर्षों के लिए (धात्रे) धात्री के लिए (विधात्रे) विधाता के लिए (समृधे) समृद्धि

के लिए (भूतस्य) भूत=प्राणिमात्र के (पतये) स्वामी के लिए (त्वा) तुझको (यजे) मैं संगत करता हूँ ।

२३. इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रतनाय पत्ये । धियो मर्जयन्त ॥

ऋ० १।१६।१२

(हृदा) हृदय से (मनसा) मन से, विचार से (मनीषा) बुद्धि से (प्रतनाय) पुरातन (पत्ये) स्वामी (इन्द्राय) दुःखनिवारक के लिए (धियः) बुद्धियों को वे (मर्जयन्त) शुद्ध करते हैं ।

२४. पत्ये विश्वस्य भूमनो जुहोमि विश्वकर्मणो । विश्वाहादाभ्य० हविः ॥

य० १७।७८

(विश्वस्य) संपूर्ण (भूमनः) सत्पदार्थ के (पत्ये) स्वामी (विश्वकर्मणो) विश्वकर्मणो=सृष्टिरचनादि संपूर्ण कार्य्यों में समर्थ भगवान् के लिए (विश्वाहा) सब दिन=सर्वदा (अदाभ्यम्) नष्ट न होने वाली (हविः) हवि=श्रद्धाभक्ति को (जुहोमि) होमता हूँ ।

२५. पर्याणद्धं विश्वरूपं यदस्ति स्योनं पतिभ्यः । सविता तत्कृणोति ॥

अ० १४।२।१२

(पर्याणद्धम्=परि-आनद्धम्) सब ओर से खूब बंधा हुआ (यत्) जो (विश्वरूपम्) विश्वरूप=संसार का रूप (अस्ति) है । (सविता) सर्वोत्पादक (तत्) उसको (पतिभ्यः) पतियों के लिए, पति और उसके संबन्धियों के लिए (स्योनम्) सुखकारी (कृणोति) करता है ।

२६. यजस्व वीर प्रविहि मनायतो भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये ।
हविष्कृणुष्व सुभगो यथाससि ब्रह्मणस्पतेरव आ वृणीमहे ॥

ऋ० २।२६।२

हे (वीर) वीर ! (यजस्व) यज्ञ कर । (प्र+विहि) उत्तम पदार्थों को प्राप्त कर (वृत्रतूर्ये) शत्रुनाश के लिए (मनायतः) अपने अनुकूल मन वाले के (मनः) मन को (भद्रं) भला (कृणुष्व) कर । (हविः) हवन (कृणुष्व) कर, (यथा) जिससे तू (सुभगः) उत्तमैश्वर्य वाला, सौभाग्यशील (अससि) होवे । (ब्रह्मणः) वेद के (पतेः) रक्षक, पालक का (अयः) रक्षण (आ+वृणीमहे) हम सब तरह चाहते हैं ।

२७. विश्वो यस्य व्रते जनो दाधार धर्मणस्पतेः । पुनानस्य प्रभूवसोः ॥

ऋ० ६।३५।६

(विश्वः) सारा (जनः) जन, संसार (यस्य) जिस (पुनानस्य) पवित्र-कारक (प्रभूवसोः) अनन्त ऐश्वर्य वाले (धर्मणः) धर्म के, सृष्टि नियम के (पतेः) रक्षक के (व्रते) व्रत में (दाधार) जीता है ।

२८. उदीर्घ्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।

हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि संवभूथ ॥ ऋ० १०।१८।८
हे (नारि) . नारि ! (जीवलोकम्) जीव लोक की (अभि) तरफ़
(उत्त+ईर्ष्व) उत्तम रीति से प्रेरित हो । तू (पतम्) इस (गतासुम्)
प्राणरहित के (उप) पास (शेषे) रीति रही है । (एहि) इधर आ ।
(तव) तेरे (हस्तग्राभस्य) पाणि-ग्रहण करने वाले (दिधिषोः) दिधिषु=
भरण पोषण करने वाले (पत्युः) पति की (इदम्) यह (जनित्वम्)
सन्तान है । इसकी (अभि) ओर (सम्) भली प्रकार (वभूथ) हो ।

२९. मम पुत्राः शशुहणोऽथो मे दुहिता विराट् ।

उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः ॥ ऋ० १०।१५।३
(मम) मेरे (पुत्राः) पुत्र (शशुहणः) शशुघाती हैं (अथो) और (मे)
मेरी (दुहिता) पुत्री (विराट्) गुणों से विराजमान हैं । (अहम्) मैं
(उत) भी (संजया) उत्तम जययुक्ता (अस्मि) हूँ (मे) मेरे (पत्यौ)
पति में (उत्तमः) उत्तम (श्लोकः) यश है ।
एक वीर स्त्री के हार्दिक भाव ऐसे ही चाहिएँ ।

३०. नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन् रमसे पतौ । अ० ३।१८।३

वह (ते) तेरा (नाम) नाम (नहि) नहीं (जग्राह) लेता और तू
(अस्मिन्) इस (पतौ) पति में (नो) नहीं (रमसे) रमण करती ।
अर्थात् इस पति से प्रसन्न नहीं होती ।

महाराज पाणिनि जी ने अपने 'शब्दानुशासन' (अष्टाध्यायी) नामक ग्रन्थ
में 'सखि' शब्द को छोड़ कर समस्त इकारान्त उकारान्त पुंलिङ्ग और
नपुंसक लिङ्ग शब्दों की 'धि' संज्ञा की है । और 'पति' शब्द के लिए नियम
किया है कि 'पति' शब्द यदि समास का अन्त अवयव हो, तब इसकी 'धि'
संज्ञा हो—'पतिः समास एव' (अ० १।४।८) । इस कारण अग्नि आदि शब्दों से
'पति' शब्द के रूप कुछ भिन्न होते हैं । और 'प्रजापति' 'बृहस्पति' आदि शब्दों के
रूप 'अग्नि' की भाँति चलते हैं । हमने इस पाठ के आरम्भ में तृतीया, चतुर्थी,
पंचमी, षष्ठी, और सप्तमी विभक्तियों के रूप 'अग्नि' शब्द के रूपों की भाँति भी
दिखलाए हैं । अर्थात् इन विभक्तियों में 'पति' की 'धि' संज्ञा होती भी है और नहीं भी ।
पाणिनि जी ने इसके लिए सूत्र लिखा है—'षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा' (अ. १।४।६) ।
अर्थात् छन्दसि=वेद में षष्ठी विभक्ति वाले पद से युक्त पति शब्द विकल्प करके 'धि'
होता है । जितने भी 'अग्नि' शब्द की भाँति 'पति' शब्द के रूप हैं, उन सबके
साथ अवश्य षष्ठ्यन्त-पद है । यथा—क्षेत्रस्य पतिना (१६) क्षेत्रस्य पतये (२१)
ब्रह्मणस्पतेः (२६), इत्यादि ।

[ख]

अब 'सखि' शब्द के रूप और उदाहरण लीजिए—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
१.	सखा	सखायौ, सखाया	सखायः
सं०	सखे	सखायौ, सखाया	सखायः
२.	सखायम्	सखायौ, सखाया	सखीन्
३.	सख्या	सखिन्याम्	सखिभिः
४.	सख्ये	सखिन्याम्	सखिभ्यः
५.	सख्युः	सखिभ्यम्	सखिभ्यः
६.	सख्युः	सख्योः	सखीनाम्
७.	सख्यौ	सख्योः	सखिषु

१. यो रायोऽवनिर्महान्सुपारः सुन्वतः सखा । तस्मा इन्द्राय गायत ऋ० १।४।१०
(यः) जो (रायः) धन का (अवनिः) रक्षक (महान्) महान्, सब से बड़ा (सुपारः) उत्तमता से पार ले जाने वाला, अथवा उत्तमता से अभिलाषाओं की पूर्ति करने वाला (सुन्वतः) सवन करने वाले का, यज्ञ करने वाले का (सखा) सखा है (तस्मै) उस (इन्द्राय) अखिलैश्वर्यसंपन्न भगवान् को (गायत) तुम पूजो ।

निघण्टु (३. १४) में, जो वेदों का एक प्रामाणिक कोष है, 'गायति' (गायत भी उसका रूप है) को 'अचंति=पूजा-अर्थ वाले शब्दों में पड़ा है, अतः हमने 'गायत' का अर्थ 'तुम पूजो' किया है। 'गायत' का अर्थ 'तुम गाओ' भी यहां सुसङ्गत है। पीछे हम पृष्ठ २२ पर निरुक्त का एक वचन 'यथार्थ विभक्तीः अनभेद' (अर्थ के अनुसार विभक्तियों का विपरिणाम=परिवर्तन करले) लिख आये हैं। यहां अर्थ के अनुगोच से वैसा करना पड़ा है। 'इन्द्राय' चतुर्थी विभक्ति के एकवचन का रूप है, किन्तु अर्थ के अनुरोध से इसे द्वितीया का एक वचन माना जाता है। इस प्रकार 'तस्मै' में भी 'इन्द्राय' का विशेषण होने के कारण विभक्ति-विपरिणाम हुआ है। विभक्तिविपरिणाम के उदाहरण बहुत हैं। सभी भाष्यकारों ने विभक्ति-विपरिणाम को माना है। इसके बिना वेदार्थ में कठिनता होती है।

विभक्तिविपरिणाम का यह अर्थ नहीं, कि वेद में विभक्तियों का अशुद्ध प्रयोग हुआ है, वरन् लौकिक संस्कृत में सामान्यतः कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति आती है वेद में द्वितीया के अतिरिक्त चतुर्थी भी आती है। इसलिये अर्थ करते समय वैदिक चतुर्थीविभक्ति को लौकिक नियमानुसार द्वितीयाविभक्ति में कर दिया जाता है, इसी को विभक्तिविपरिणाम कहते हैं। अर्थात् विभक्ति-विपरिणाम का अर्थ है वैदिक भाषा की विभक्तियों को लौकिक संस्कृत के अनुसार करना ।

२. विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥

(विष्णोः) विष्णु=सर्वव्यापक परमेश्वर के (कर्माणि) कर्मों को (पश्यत) तुम देखो, (यतः) जिनसे, जीव, (व्रतानि) नियमों को (पस्पशे) प्राप्त होता है। वह परमेश्वर (इन्द्रस्य) जीव का (युज्यः) सर्वत्र सब पदार्थों में विद्यमान, वियुक्त न होने वाला (सखा) सखा है।

३. अव ज्यामिव धन्वनो मन्युं तनोमि ते हृदः ।

यथा संमनसौ भूत्वा सखायाविव सचावहै ॥ अ० ६।४२।१

(इव) जिस प्रकार (धन्वनः) धनुष्य से (ज्याम्) प्रत्यञ्चा, डोरी को [खींचते है, वैसे मैं] (ते) तेरे (हृदः) हृदय से (मन्युम्) विचार को अव+तनोमि) खींचता हूँ, विस्तृत करता हूँ, या (मन्युम्) क्रोध को (अवतनोमि) बाहर करता हूँ। (यथा) जिससे [हम दोनों] (संमन-सौ) एक मन वाले (भूत्वा) होकर (सखायौ+इव) सखाओं की भाँति (सचावहै) मिलकर रहें।

४. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समाने वृक्षे परिपस्वजाते । तयोरन्यः

पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥ ऋ० १।१६।२०

(द्वा) दो (सुपर्णा) सुन्दर पालन शक्तियाँ वाले (सयुजा) सदा युक्त रहने वाले, कभी वियुक्त न होने वाले (सखाया) दो सखा (समाने) एक (वृक्षे) प्रकृति अथवा संसार-रूपी वृक्ष पर (परि+सस्वजाते) पूरी तरह से आलिङ्गन किए हुए हैं। (तयोः) उन दो में से (अन्यः) एक=जीव (पिप्पलम्) फल को (स्वादु) स्वाद से (अत्ति) खाता है। और (अन्यः) दूसरा=परमात्मा (अनश्नन्) न खाता हुआ (अभि+चाक-शीति) सब ओर देखता है।

संसार वृक्ष पर या देहरूपी वृक्ष पर आत्मा और परमात्मा—दोनों एक दूसरे से कभी वियुक्त न होते हुए रहते हैं। जीव संसार का स्वाद लेता है। परमेश्वर तटस्थ है।

इसमें परमात्मा, आत्मा तथा प्रकृति तीन अनादि तत्त्वों का वर्णन है।

५. सखाया सख्याय सोमैः सुतेभिः सुप्रयसा मादयैते । ऋ० ४।४१।३

(सखाया) दो मित्र (सख्याय) मैत्री के लिए (सुप्रयसा) उत्तम प्रयत्न से (सुतेभिः) तैयार किए हुए (सोमैः) सोमों के द्वारा (मादयैते) मस्त होते हैं।

६. य उदचीन्द्र देवगोपाः सखायस्ते शिवतमा असाम । ऋ० १।५३।११

हे (इन्द्र) इन्द्र ! परमेश्वर ! (ये) जो हम (उदचि) उत्तम ऋचाओं वाले वेदाध्ययन में (देवगोपाः) देवों से रक्षित अथवा दिव्य गुणों के रक्षक हैं। वे हम (ते) तेरे (शिवतमाः) अत्यन्त गुप्त-कर्म करने वाले

(सखायः) सखा होवें ।

७. सखायस्त्वा ववृमहे देवं मर्त्तासि ऊतये । ऋ० ३।१।१

हम (मर्त्तासः) मनुष्य (सखायः) मित्र होते हुए (ऊतये) रक्षा के लिए (त्वा) तुझ (देवम्) देव को (ववृमहे) चुनते हैं ।

८. इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः सुन्वन्ति सोमं दधति प्रयांसि ।

तितिक्षन्ते अभिशस्तिं जनानामिन्द्र त्वदा कश्चन हि प्रकेतः ऋ० ३।३०।१
(त्वा) तुझको (सोम्यासः) सोम्य-सुशील (सखायः) सखा (इच्छन्ति) चाहते हैं, वे (सोमम्) सोम को (सुन्वन्ति) कूटते हैं, अर्थात् सोमयाग करते हैं (प्रयांसि) प्रयत्न, परिश्रम (दधति) धारण करते हैं (जनानाम्) लोगों की (अभिशस्तिम्) सख्ती को, निन्दा को, आक्षेप को (तितिक्षन्ते) सहन करते हैं । हे (इन्द्र) इन्द्र ! परमेश्वर ! [इतने पर भी] (त्वत्) तेरे पास से (कश्चन) कोई ही (आ) भली प्रकार (प्रकेतः) उत्तम ज्ञान प्राप्त करने वाला होता है ।

भगवान् को सभी प्राप्त करना चाहते हैं । उसके लिए यज्ञ जप तप आदि विविध साधनों का उपयोग करते हैं, लोगों की सख्ती भी सहते हैं, किन्तु किसी किसी की ही अभीष्ट सिद्धि होती है, क्योंकि यथार्थ ज्ञान के बिना उसकी प्राप्ति दुर्घट-सी है ।

९. तं त्वा वयं विश्ववारा शास्महे पुरुहूत । सखे वसो जरितृभ्यः ॥

ऋ० १।३०।१०

हे (विश्ववार) सबसे चाहने योग्य ! सब का समुचित संभाजन करने वाले ! (पुरुहूत) अनेकों से स्तुयमान ! (वसो) सबके अन्दर बाहर बसने वाले अथवा सबको बसाने वाले परमेश्वर ! हे (सखे) सखे=मित्र !

(वयम्) हम (जरितृभ्यः) स्तोताओं से (तम्) [पूर्व मन्त्रों में वर्णित]

उस (त्वा) तुझको (आ+शास्महे) चाहते हैं, आशा करते हैं ।

अर्थात् भक्तों से हमारी यही आशा है कि वे हमें तेरा स्वरूप बताएँ ।

१०. तथा तदस्तु सोमपाः सखे वज्रिन् तथा कृणु ।

यथा त उश्मसीष्टये ॥ ऋ० १।३०।१२

हे (सोमपाः) जगद्रक्षक (सखे) मित्र परमेश्वर ! (यथा) जैसा हम (इष्टये) इष्ट सुख की सिद्धि के लिए (ते) तुझसे (उश्मसि) चाहते हैं (तत्) वह (तथा) वैसा होवे । हे (वज्रिन्) सर्वदुःखनाशक ! विघ्न-निवारक प्रभो ! उसको (तथा) वैसा (कृणु) कर ।

११. सखे वसो जरितृभ्यो वयो धाः ॥ ऋ० ३।५।६

हे (सखे) मित्र ! (वसो) सबको बसाने वाले प्रभो ! (जरितृभ्यः) स्तोताओं की (वयः) जीवन, कान्ति (धाः) द ।

१२. आ त्वेता निषीदतेन्द्रमभि प्रगायत । सखायः स्तोमवाहसः॥ ऋ० १।५।१
हे (स्तोमवाहसः) स्तुति प्राप्त कराने वाले, या स्तुति करने वाले (सखायः) मित्रो ! (आ+इत) आओ (तु) तो ! (आ+निषीदत) अच्छी तरह बैठो । (इन्द्रम्) परमेश्वर को (अभि) सब प्रकार से (प्र+गायत) अच्छी तरह पूजो ।

१३. कथा राधाम सखायः स्तोमं मित्रस्यार्यम्णः । महि प्सरो वरुणस्य ॥

ऋ० १।४।७

हे (सखायः) मित्रो ! (मित्रस्य) सर्वश्रेही (अर्यम्णः) न्यायकारी प्रभु के (स्तोमम्) स्तोत्र को (कथा) कैसे (राधाम) सिद्ध करें (वरुणस्य) वरुण=सर्वश्रेष्ठ भगवान् का (प्सरः) पसारा (महि) बड़ा है ।

१४. सखे सखायमभ्या ववृत्स्व । ऋ० ४।१।३

हे (सखे) सखे ! (सखायम्) सखा को, मित्र को (अभि+आ+ववृत्स्व) संमुख होकर, सब तरह, चाह ।

१५. कृणोत्यस्मै वरिवो य इत्थेन्द्राय सोममुशते सुनोति ।

सध्रीचीनेन मनसाविवेनन्तमित्सखायं कृणुते समत्सु ॥ ऋ० ४।२।६
(यः) जो (सोमम्) सोम=पेथ्य्य को (उशते) चाहने वाले (अस्मै) इस (इन्द्राय) इन्द्र=राजा के लिए (वरिवः) सेवा करता है । और (सध्रीचीनेन) सीधे, अनुष्ठानतत्पर (मनसा) मन से (अविवेनन्) निष्काम होकर (सुनोति) यज्ञादि करता है, वह (समत्सु) युद्धों में (तम्) उसको (इत्) ही (सखायम्) मित्र (कृणुते) करता है ।

१६. ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनज्मि हरी सखाया सधमाद आशू ।

स्थिरं रथं सुखमिन्द्राधितिष्ठन् प्रजानन् विद्वाँ उपयाहि सोमम् ॥

ऋ० ३।३।४

हे (इन्द्र) इन्द्र ! मैं (ब्रह्मणा) अन्न के साथ वर्तमान (ब्रह्मयुजा) धन से युक्त कराने वाले (आशू) शीघ्र चलने वाले (सखाया) मित्र समान (हरी) दो हरियों—अग्नि और जल को (सधमादे) बराबर के स्थान में (युनज्मि) जोड़ता हूँ । तू (विद्वान्) विद्वान् उस (स्थिरम्) स्थिर (सुखम्) आकाश मार्ग के लिए सुखदायी (रथम्) रथ पर (अधि+तिष्ठन्) बैठ कर (प्रजानन्) अपने कर्त्तव्य को जानता हुआ (सोमम्) पेथ्य्य को (उप+याहि) प्राप्त कर ।

१७. सखा सखीन्त्सुमना यक्ष्ये ॥ ऋ० ३।४।१

हे (अग्ने) अग्नि के समान प्रकाशमान विद्वन् ! तू (सुमनाः) उत्तम मन-वाला (सखा) मित्र होकर (सखीन्) मित्रों को (यक्षि) संगत करता है ।

१८. प्र यातन सखीरच्छा सखायः । ऋ० १।१६५।१३

हे (सखायः) मित्रो! (सखीन्) मित्रों को (अच्छी) अच्छी प्रकार (प्र+यातन) प्राप्त होओ।

१९. अभि त्वा पाजो रक्षसो वितस्थे महि जज्ञानमभि तत्सु तिष्ठ ।

तव प्रत्नेन युज्येन सख्या वज्रेण धृष्णो अप ता नुदस्व ॥ ऋ० ६।२१।७
हे (धृष्णो) शत्रुओं को दलन करने वाले वीर! (त्वा+अभि) तेरी-ओर से (जज्ञानम्) सर्वत्र प्रकट, अथवा सुख देने वाला, प्रकट होने वाला (महि) महान् (पाजः) बल (रक्षसः) राक्षसों पर (वि+तस्थे) विशेष रूप से स्थित हुआ है। (तत्) उसको (सु+तिष्ठ) उत्तमतया अधिष्ठित कर, वश में कर। तू (तव) तेरे=अपने (प्रत्नेन) पुराने (युज्येन) युक्त रखने योग्य (सख्या) मित्र (वज्रेण) वज्र से (ता) उनको, राक्षसों को (अप+नुदस्व) दूर भगा।

२०. उत घा स रथीतमः सख्या सत्पतिर्युजा । इन्द्रो वृत्राणि जिघ्रते ॥

ऋ० ६।५६।२

(उत) और (युजा) साथ लगे रहने वाले (सख्या) मित्र के साथ (सः) वह (घा=घ) ही (रथीतमः) श्रेष्ठ रथ वाला (सत्पतिः) सज्जन-रक्षक (इन्द्रः) इन्द्र=राजा, सूर्य (वृत्राणि) पापियों को, कृमियों को, बादलों को (जिघ्रते) मारता है।

२१. उत ऋतुभिर्ऋतुपाः पाहि सोममिन्द्र देवेभिः सखिभिः सुतं नः ॥

ऋ० ३।४७।४

हे (इन्द्र) दुःखविदारक सज्जन! तू (ऋतुभिः) ऋतुओं के साथ (ऋतुपाः) ऋतु-रक्षक सूर्य की भाँति (देवेभिः) दिव्य-गुण वाले (सखिभिः) मित्रों के साथ (सुतम्) निष्पादित (सोमम्) संसार की और (नः) हमारी (पाहि) रक्षा कर।

२२. सो अङ्गिरोभिरङ्गिरस्तमो भूद्वृषा वृषभिः सखिभिः सखा सन् ।

ऋग्मिभिर्ऋग्मी गातुभिर्ज्येष्ठो मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ॥ ऋ० १।१००।४

(सः) वह (अङ्गिरोभिः) अङ्गिरों=प्राणों के साथ (अङ्गिरस्तमः) सर्व-श्रेष्ठ-प्राणवान् (भूत) है। (वृषभिः) सुखवर्षकों के साथ (वृषा) सुख-वर्षक, और (सखिभिः) मित्रों के साथ (सखा) सखा (सन्) है। (ऋग्मिभिः) ऋचाओं वालों के साथ (ऋग्मी) ऋचाओं वाला (गातुभिः) यज्ञ वालों के साथ (ज्येष्ठः) सर्वश्रेष्ठ है। वह (मरुत्वान्) प्रजास्वामी (इन्द्रः) इन्द्र (नः) हमारी (ऊती) रक्षा के लिए (भवतु) हो।

कई लोग वेद में आप 'अंगिरा' आदि शब्दों को व्यक्तिवाचक समझते हैं और इस प्रकार वेद में इतिहास देखने का वृथा प्रयास करते हैं। ऐसे लोग इस

मन्त्र में आप 'अङ्गिरस्तमः' शब्द पर ध्यान देने की कृपा करें। 'तम'—प्रत्यय गुण के अतिशय को घोषित करता है। 'तर' और 'तम' प्रत्यय गुणवाची शब्दों के साथ लगा करते हैं। यथा भद्रतर, भद्रतम, विद्वत्तर, विद्वत्तम, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम। संज्ञावाची शब्दों के साथ यह प्रत्यय नहीं लगा करते। आज तक वेदानन्दतरः, वेदानन्दतमः, देवदत्ततरः, देवदत्ततमः कहीं नहीं सुना गया। इस वास्ते 'अङ्गिरस्तमः' शब्द भी गुणवाची है, न कि संज्ञावाची।

२३. आ हिष्म सूनवे पितापिर्यजात्यापये। सखा सख्ये वरेण्यः॥ऋ० १।२६।३
(पिता) पिता (हि) सचमुच (सूनवे) सन्तान के लिए, पुत्र के लिए (आ+यजाति+स्म) उत्तम रीति से यज्ञ किया ही करता है (आपिः) संबन्धी (आपये) संबन्धी के लिए, और (वरेण्यः) श्रेष्ठ, उत्तम (सखा) मित्र (सख्ये) मित्र के लिए, [यजन करता ही है]।

'आपये' 'आपि' का चतुर्थी—एकवचन का रूप है, जैसे 'अग्नि' का 'अग्नये'। सूनु का अर्थ पुत्र है। इसी का विकार अंग्रेज़ी का Son सन् शब्द है।

२४. अस्मै बहूनामवमाय सख्ये यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः।

सं सानु मार्जिम दिधिषामि बिल्मैर्दधाम्यन्नैः परिवन्द ऋग्भिः॥

ऋ० २।३५।१२

(बहूनाम्) बहुतों के (अवमाय) रक्षक (अस्मै) इस (सख्ये) सखा के लिए (यज्ञैः) यज्ञों से, (नमसा) नमस्कार से, अन्न से और (हविर्भिः) हवियों से (विधेम) पूजा करें। मैं (सानु) उच्च स्थान को (सम्) भली प्रकार (मार्जिम) साफ़ करता हूँ। (बिल्मैः) प्रकाश-साधनों से (दिधिषामि) धारण करता हूँ (अन्नैः) अन्नों के द्वारा (दधामि) पुष्ट करता हूँ, पालता हूँ। (ऋग्भिः) ऋचाओं द्वारा, मन्त्रों से (परि+वन्दे) सर्वथा नमस्कार करता हूँ।

२५. त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः। सखा सखिभ्य ईड्यः॥

ऋ० १।७५।४

हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! (त्वं) तू (जनानाम्) लोगों का (जामिः) जल की भाँति शान्ति देने वाला और (प्रियः) प्यारा (मित्रः) है। अतः तू (सखिभ्यः) मित्रों के लिए (ईड्यः) पूजनीय (सखा) मित्र है।

२६. परेहि विग्रमस्तुतमिन्द्र पृच्छा विपश्चितम्। यस्ते सखिभ्य आवरम्॥

ऋ० १।४।४

हे (इन्द्र) ज्ञानाभिलाषिन् ! (परा+इहि) दूर जा। (यः) जो (ते) तुझे और (ते) तेरे (सखिभ्यः) मित्रों को (वरम्) श्रेष्ठ ज्ञान (आ) सब तरह [देता है,] उस (विग्रम्) मेधावी, महाबुद्धिमान् (अस्तुतम्) हिंसा न करने वाले (विपश्चितम्) विद्वान् की (पृच्छा=पृच्छ) पूछ।

२७. नाहमिन्द्राणि रारण सख्युवृषाकपेर्ऋते । ऋ० १०।८६।१२
हे (इन्द्राणि) इन्द्राणि ! (अहम्) मैं (सख्युः) मित्र (वृषाकपेः)
वृषाकपि=वृष्टिप्रेरक से (ऋते) विना (न) नहीं (रारण) रमण करता ।
'ऋते' के योग में पंचमी विभक्ति आती है ।
२८. तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः ॥ ऋ० १।२४।४
हे (शोचिष्ठ) अत्यन्त प्रकाशमान (दीदिवः) सत्य प्रकाशक ! (तम्)
उस (त्वा) तुझ को (सखिभ्यः) मित्रों से (सुम्नाय) सुख के लिए (नूनम्)
सचमुच (ईमहे) हम चाहते हैं ।
२९. परायद्वभ्योऽव हीये सखिभ्यः ॥ ऋ० १०।३४।५
(परायद्वभ्यः) दूर गए हुए (सखिभ्यः) मित्रों से (अव+हीये) मैं छूट
जाता हूँ ।
३०. सखा सख्युर्न प्रमिनाति सङ्गिरम् । ऋ० ९।८६।१६
(सखा) मित्र (सख्युः) मित्र के (सङ्गिरम्) उत्तम वचन, प्रण को
(न) नहीं (प्र+मिनाति) नाश करता है ।
३१. अभी षु णः सखीनामविता जरितृणाम् । शतं भवास्यूतिभिः ॥ ऋ० ४।३१।३
तु (नः) हम (जरितृणाम्) स्तुति करने वाले (सखीनाम्) मित्रों का
(ऊतिभिः) रक्षाओं के द्वारा (शतम्) सैंकड़ें (भवासि) होता है ।
अतः तु (अभि) सब ओर हमारा (सु) अच्छा (अविता) रक्षक है ।
३२. परा णुदस्व मघवन्नमित्रान्त्सुवेदा नो वसू कृधि ।
अस्माकं बोध्यविता महाधने भवा वृधः सखीनाम् ॥ ऋ० ७।३२।२५
हे (मघवन्) धनवन् ! (अमित्रान्) शत्रुओं को (परा+नुदस्व) दूर
भगा । और तू (सुवेदाः) उत्तम धनयुक्त होकर (नः) हमारे लिए
(वसू=वसु) धन को (कृधि) कर । (महाधने) महाधन के साधन में
(अस्माकम्) हमारा (अविता) रक्षक होकर (बोधि) जान, जता और
(सखीनाम्) मित्रों की (वृधे) वृद्धि के लिए (भवा=भव) हो ।
इस पाठ को समाप्त करते करते 'सखा' शब्द के अर्थ बताना उचित है ।
'सखा' शब्द का अर्थ मित्र है, किन्तु मित्र और सखा में भेद है । निरुक्त ७।३० में
'सखायः' शब्द का अर्थ 'समानख्यानाः' किया गया है । अर्थात् जिनकी प्रसिद्धि
एकसी हो, जिनके गुण कर्म स्वभाव परस्पर मिलते हों, वे परस्पर सखा कहलाते
हैं । मित्र का अर्थ स्नेह करने वाला होता है । परस्पर गुणादिक की समानता के
कारण स्नेह हो सकता है, हो जाता है । मित्रता की जड़ सखिता में है । पहिले सखा
हो, तब मित्र बन सकता है ।

पञ्चमः पाठः (उपसर्गः)

पिछले पाठों में पाठकों ने देखा होगा, कि 'प्र' 'सु' कई ऐसे शब्द आप हैं, जो किसी धातु आदि के साथ लग कर ही प्रयुक्त हुए हैं। ये 'प्र' आदि शब्द संख्या में २२ बाईस हैं। इनका नाम उपसर्ग है। यह अव्यय हैं। जिन शब्दों के आगे विभक्ति नहीं आती, जिनमें एकवचन आदि के कारण रूपभेद नहीं होता, और जिनमें स्त्रीलिङ्ग आदि के कारण कोई भेद नहीं होता, उन शब्दों को अव्यय कहते हैं। जैसाकि महामुनि पतंजलि जी ने महर्षि पाणिनिकृत शब्दानुशासन (अष्टाध्यायी) के भाष्य में लिखा है—

सदृशं त्रिषु लिङेषु सर्वासु च विभक्तिषु । वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥

१।१।३७

तीनों लिङ्गों और सब विभक्तियों में जो शब्द एक सा रहे, और सभी वचनों में जो अविकृत रहे, उसे अव्यय कहते हैं।

अव्यय बहुत से हैं। पाणिनि जी ने उनके लिए पाँच सूत्र लिखे हैं। वह हम आगे चल कर बताएँगे। यहाँ हमें केवल 'अव्यय' का लक्षण बताना था, ताकि पाठक जान सकें, कि पिछले पाठों में 'प्र' आदि शब्द क्यों विभक्ति के बिना प्रयुक्त हुए हैं। यह अव्यय हैं, और अव्यय तीनों लिङ्गों, सातों विभक्तियों और तीनों वचनों में एक रस रहते हैं, उनमें किसी भी प्रकार का विकार नहीं होता।

'प्र' आदि की उपसर्ग-संज्ञा करने वाला सूत्र यह है—

प्रादय उपसर्गाः क्रियायोगे । शब्दा० १।४।५७

क्रिया (क्रियावाची पद) के योग में 'प्र' आदि निपात उपसर्ग कहलाते हैं।

इन 'प्र' आदि की पाणिनि जी ने गति—संज्ञा भी की है। यथा—

'गतिश्च' (शब्दा० १।४।५८)

'प्र' आदि क्रिया के योग में 'गति' भी कहलाते हैं। निरुक्तकार यास्कमुनि लिखते हैं—

न निर्वद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुः इति शाकटायनः । नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति ॥ उच्चावचाः पदार्था भवन्ति इति गार्ग्यः । तद्य एषु पदार्थाः प्राहुरिमे तं नामाख्यातयोरर्थविकरणम् ॥ निरु० १।३

अर्थात्—उपसर्ग पृथक् प्रयुक्त होकर अर्थों को नहीं बताते। वरन् नाम और आख्यात के अर्थ—संबन्ध के प्रकाशक होते हैं, ऐसा वैयाकरण शाकटायन का मत है। निरुक्त गार्ग्य कहते हैं, शब्दों (नामों और आख्यातों) के अनेकविध अर्थ होते हैं। अथवा इन उपसर्गों के अनेकविध अर्थ होते हैं। तो इनमें—नामों और आख्यातों में—जो विशेष अर्थ होता है, नाम और आख्यात के उस अर्थवैशिष्ट्य को यह उपसर्ग बतलाते हैं।

भात्र यह है, कि उपसर्गों का अकेला प्रयोग नहीं होता, किसी नाम या क्रिया-पद के साथ इनका सम्बन्ध होना अत्यन्त आवश्यक है, वैयाकरण ऐसा मानते हैं। इस कारण श्री पाणिनि जी ने 'क्रियायोगे' का प्रयोग किया। वैयाकरणों का सिद्धान्त है—'यत्क्रियायुक्ताः प्रादयस्तं प्रति गत्युपसर्गसंज्ञा भवन्ति' जिस क्रिया के साथ 'प्र' आदि का संबन्ध होता है, उसी के प्रति इनकी गति या उपसर्ग संज्ञा होती है। लौकिक संस्कृत साहित्य में अकेले उपसर्ग का—किसी नाम या क्रिया से असंबद्ध उपसर्ग का—प्रयोग कहीं भी नहीं मिलता। अतएव वैयाकरणों का यह सिद्धान्त लौकिक संस्कृत पर पूरी तरह से लागू है। वैदिक संस्कृत में अर्थात् वेद में ऐसे उपसर्ग भी मिलते हैं, जो अकेले प्रयुक्त हुए हैं, जिनके आस-पास, आगे-पीछे कोई क्रिया आदि प्रयुक्त हुई नहीं दीखती। इस वास्ते नैरुक्तों का सिद्धान्त है कि उपसर्ग अकेले भी प्रयुक्त होते हैं, जैसा कि 'याः प्रवतो निवतउद्वतः' ऋ० ७।५०।४। यहाँ 'प्र' 'उत्' और 'नि' उपसर्ग हैं किन्तु किसी क्रिया या नाम के साथ संबद्ध नहीं हैं। इसी वास्ते उपसर्गों के उपर्युक्त उत्सर्ग नियम का वेद में अपवाद भी मिलता है। इसी बात को लक्ष्य में रख कर निरुक्ताचार्य्य श्री गार्ग्य का कहना है कि इनके बहुत अर्थ हैं। नामों और आख्यातों के भी अर्थ अनेक होते हैं। उपसर्ग उन समस्त अर्थों का प्रकाश कर देते हैं। उपसर्गों का अकेला प्रयोग=क्रियादि से असम्बद्ध प्रयोग नहीं होता, ऐसा मानने वालों के मत में उपसर्गों का अपना निज का कोई अर्थ नहीं होता। वरन् वे जिस नाम या आख्यात के साथ संबद्ध होते हैं, उसी के अर्थविशेष का द्योतन करते हैं। तभी तो कहा—नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति। गार्ग्य जी कहते हैं। न, भाई ! यह बात नहीं, इनका अपना भी अर्थ होता है—'उच्चावचाः पदार्था भवन्ति'। जब इनके अपने अर्थ होते हैं, तो इनका पृथक् प्रयोग भी हो सकता है। यहाँ एक बात ध्यान में रखनी चाहिए, यद्यपि निरुक्त का विषय भाषाविज्ञान Philology तथा भाषा शास्त्र Science of Language दोनों हैं, और इस कारण समस्त-शब्दों की चीरफाड़ करना और शब्दों का जीवन-चरित बताना इस शास्त्र का काम है, तथापि वेदाङ्ग होने के कारण इसका मुख्य लक्ष्य वेद है। अतएव उपसर्गों के संबन्ध में गार्ग्य महाराज का सिद्धान्त वेद में ही लागू होता है। इसी कारण एक पदकार ने लिखा है—

'उपसर्गाश्च एवमात्मकाः, यत्र क्रियावाची शब्दः प्रयुज्यते तत्र क्रियाविशेष-माहुः। यत्र न प्रयुज्यते तत्र ससाधनां क्रियामाहुः।' (स्कन्द स्वामी का नि० भा० १।३)

अर्थात्—उपसर्गों का यह स्वभाव है कि जहाँ क्रियावाची शब्द का प्रयोग होता है, वहाँ ये क्रियाविशेष को कहते हैं। जहाँ नहीं होता, वहाँ साधनयुक्त क्रिया को बताते हैं।

इनके प्रयोग के लिए वैयाकरणों ने स्थाननियम भी किया है। यथा—

ते प्राग् धातोः । (शब्दा० १।४।१२६)

वे गति और उपसर्ग-संज्ञक शब्द धातु से पूर्व प्रयुक्त होते हैं। जैसे-उपयाहि।
छन्दसि परेपि । (शब्दा० १।४।८०)

वेद में धातु से परे भी प्रयुक्त होते हैं। जैसे—हन्ति नि मुष्टिना। यहाँ 'नि' 'हन्ति' से परे प्रयुक्त होने पर भी अर्थ करते समय 'हन्ति' के साथ संबद्ध हो जाता है।

व्यवहिताश्च (शब्दा० १।४।८१)

वेद में व्यवहित होकर भी प्रयुक्त होते हैं। अर्थात् पूर्व सूत्र में वेदों में उपसर्गों के धातु से पूर्व और पर प्रयोग की खुली छुट्टी दी हुई है, तो भी उसमें एक प्रतिबन्ध अवश्य है कि चाहे उपसर्ग धातु से पूर्व प्रयुक्त हो और चाहे परे प्रयुक्त हो, क्रियापद और उपसर्ग के बीच में अन्य कोई पद नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार के उदाहरण दिए गए हैं। 'व्यवहिताश्च' उसका अपवाद बतलाता है कि ऐसे भी प्रयोग वेद में मिलते हैं जहाँ उपसर्गों और क्रियापदों के बीच में कोई अन्य पद भी प्रयुक्त हुआ है। जैसा कि—“आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्वाहि मयूररोमभिः” (ऋ० ३।४५।१) हे (इन्द्र) इन्द्र (मयूररोमभिः) मोरों के से बालों वाले (मन्द्रैः) मस्त (हरिभिः) हरियों के साथ, घोड़ों के साथ (आ+याहि) तु आ।

यहाँ यद्यपि 'आ' उपसर्ग और 'याहि' क्रिया के बीच में 'मन्द्रैः' 'इन्द्र' और 'हरिभिः' पदों का व्यवधान है। तो भी 'आ' का संबन्ध 'याहि' से ही है। कहा भी तो है—

“यस्य येनार्थसंबन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः ।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ।”

जिसका जिसके साथ अर्थ द्वारा संबन्ध है, वह दूर होता हुआ भी उसी का है। इसके विपरीत जिनका परस्पर अर्थ संबन्ध नहीं है, वे समीप होते हुए भी परस्पर संबद्ध नहीं होते। यह वचन न्यायदर्शन के १।२।१० सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने उद्धृत किया है।

वे 'प्र' आदि २२ उपसर्ग निम्नलिखित हैं—

प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्=
आ, नि, आधि, अपि, अति, सु, उत्, अभि, प्रति, परि, उप।

अब इनका निरुक्त (यास्ककृत) के अनुसार अर्थ दिखाते हैं—

आ इत्यवगिर्थे । प्र परा इत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । अभि इत्याभिमुख्यम् ।
प्रति इत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । अति सु इत्यभिपूजितार्थे । निर् दुर् इत्येतयोः
प्रातिलोम्यम् । नि अव इति विनिग्रहार्थीयौ । उद् इत्येतयोः प्रातिलोम्यम् । सम्
इत्येकी भावम् । वि अप इत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । अनु इति सादृश्यापरभावम् ।
'अपि' इति संसर्गम् । उप इत्युपजनम् । परि इति सर्वतोभावम् । आधि इत्युपरि-

भावमैश्वर्यं वा । एवमुच्चावचानर्थान् प्राहुः । त उपेक्षितव्याः ॥ (नि० १।३)

अर्थात्—आ का अर्थ अर्वाक्=समीप, पास पीछे । प्र, परा इस 'आ' से उल्टे अर्थ में प्रयुक्त होते हैं । अभि=सामने । अति, सु=अभिपूजित सत्कार आदि । निर् दुर्=अति सु इन दोनों के विपरीत अर्थों में । नि, अव=विनिग्रह दवाने, हटाने, उलटने अर्थ में ही । उद् इन दोनों से विरुद्ध अर्थों में । सम्=एकीभाव, अच्छी तरह । वि, अप, उद् से विपरीत अर्थ में । अनु=सदृश, पश्चात् । अपि=संसर्ग, साथ, भी । उप=समीप । परि=सब तरह से । अधि=ऊपर तथा स्वामित्व । इस प्रकार अनेक अर्थों को कहते हैं । उनका विचार कर लेना ।

निरुक्त के इस संदर्भ में 'निस् और निर्' को एक मान कर 'निर्' लिखा गया है । इसी प्रकार 'दुस्' और 'दुर्' को एक मानकर 'दुर्' लिखा गया है । जितने अर्थ निरुक्तकार ने दिखाए हैं, यह उपलक्षण=नमूनामात्र हैं । इन उपसर्गों के और भी अर्थ हैं, जो कोषों और वेदभाष्यों में मिलते हैं ।

अब इन उपसर्गों के कुछ उदाहरण अर्थ सहित दिए जाते हैं । पाठक इन का भली भाँति अभ्यास करें ।

१. परायाहि मघवन्ना च याहीन्द्र आतरुभयत्रा ते अर्थम् ॥ ऋ० ३।५३।५

हे (मघवन्) धनसम्पन्न (इन्द्र) शत्रुविदारक ! (परा+याहि) दूर जा । (च) और (आ+याहि) समीप आ । हे (आतः) भाई ! (उभयत्र) दोनों स्थानों में (ते) तेरा (अर्थम्) प्रयोजन है ।

इस मन्त्र में 'आ' और 'प्र' दोनों उपसर्गों का प्रयोग है । 'आ' का अर्थ समीप है, तो 'परा' का अर्थ दूर । 'व्यवहिताश्च' का उदाहरण भी इस मन्त्र में है । 'आ च याहि' में 'आ' उपसर्ग और 'याहि' क्रिया के बीच में 'च' पद पड़ा है । इसी प्रकार उत्सर्ग नियम 'ते प्राग्धातोः' का उदाहरण भी है—'परयाहि' ।

२. अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यति । ऋ० १०।१४६।१

(असौ) यह (अरण्यानी+अरण्यानी) जंगल ही जंगल है । (या) जो (प्र) दूर से (नश्यति+इव) मानो अदृष्ट हो जाता है ।

यहां भी 'प्र' और 'नश्यति' के बीच में 'इव' पद पड़ा है । अर्थात् 'व्यवहिताश्च' का उदाहरण है ।

३. अभि त्वा देव सवितरीशानं वाय्याणाम् । सदावन् भागमीमहे ॥ १।२४।३

हे (देव) सर्व प्रकाशक ! (सवितः) जगदुत्पादक ! (अवन्) सर्वरक्षक ! सर्वार्थसाधक प्रभो ! हम (सदा) सदा (त्वा) तुझ (वाय्याणाम्) उत्तम पदार्थों के (ईशानम्) स्वामी (भागम्) भजनीय से (अभि+ईमहे) अभि-मुख होकर याचना करते हैं ।

यहां भी 'अभि' और 'ईमहे' के मध्य में अनेक पदों का व्यवधान है । अतः यह भी 'व्यवहिताश्च' का उदाहरण है ।

४. ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान् प्रतीचो बाहून् प्रति भङ्ग्येषाम् ।

ऋ० १०।८७।४।

(ताभिः) उन बाणों से (यातुधानान्) यातुधानों को=राक्षसों को (हृदये) हृदय में (विध्य) बींघ और (एषाम्) इन की (प्रतीचः) विरोध करने वाली (बाहून्) भुजाओं को (प्रति भङ्ग्येषाम्) उलट्टा करके तोड़ दे ।

५. प्रति गृम्णीत मानवं सुमेधसः ।

ऋ० १०।६२।१

हे (सुमेधसः) उत्तमबुद्धिवालो ! (मानवम्) मानवशरीर को (प्रति+गृम्णीत) फिर से लौट कर ग्रहण करो ।

६. यो मर्त्यः शिशीते अति ।

ऋ० ११।३६।७॥

(यः) जो (मर्त्यः) मर्त्य (अति+शिशीते) बहुत अधिक, अतिशय मारता है ।

७. अग्ने त्व ॐ सुजागृहि वय ॐ सु मन्दिषीमहि । य० ४।१४।

हे (अग्ने) ज्ञानी, नेतः ! (त्वम्) तू (सु+जागृहि) अच्छीतरह जाग, [ताकि] (वयम्) हम (सु+मन्दिषीमहि) खूब आनन्द करें ।

८. यदामयति निष्कृथ ।

य० ५।३६।

(यत्) जो (आमयति) रोग उत्पन्न करता है, उसको (निर्+कृथ) निकाल दो ।

निर्=निस्=निः का अर्थ नितराम=सर्वथा भी होता है । यथा—

९. निर्वरुणस्य पाशान्मुच्ये ।

य० ५।३६।

मैं (वरुणस्य) वरुण के (पाशात्) पाशसे=फन्दे से (निः+मुच्ये) नितरां छूट जाऊं ।

१०. अम्ब ! निष्पर ।

य० ११।३६।

हे (अम्ब) मां ! (निः+पर) नितरां पाल ॥

दुर्=दुस्=दुःका समास में प्रयोग मिलता है—

११. विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद् भद्रं तन्न आ सुव ॥

य० ३०।३।

हे (सवितः) सर्वोत्पादक (देव) प्रभो, (विश्वानि) सब (दुर्+इतानि) दुर्गति यां, दूरवस्थापं (परा+सुव) दूर प्रेरं । (यत्) जो (भद्रम्) भला है (तत्) वह (नः) हमारे (आ+सुव) समीप प्रेर ।

दुरितानि 'दुर्' और 'इतानि' का समास है । इस मन्त्र में 'आ' और 'परा' के उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं ।

१२. उदग्ने तिष्ठ प्रत्यातनुष्व न्यमित्राँ ओषतात्तिग्महेते । ऋ० ४।४।४

हे (अग्ने) वीरनेतः ! (उत्+तिष्ठ) ऊपर की उठ । (प्रति+आ+तनुष्व) ।

[शत्रुओं पर] सब तरह [अपने शस्त्रों का] (तनुष्व) विस्तार कर। और हे (तिग्महेते) तेज़ हथियारों वाले ! (अभिज्ञान्) शत्रुओं को (नि+ओषतात्) दबा के जला।

इस मन्त्र में 'नि' के अतिरिक्त 'उत्' 'प्रति' और 'आ' भी हैं।

१३. त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेलोऽव यासिसीष्टाः । यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेपांसि प्रमुमुग्ध्यस्मत् । ऋ० ४।१।४
हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप ! (त्वम्) तू (विद्वान्) जानकर, समझता हुआ (वरुणस्य) वरुण (देवस्य) देव के (नः) हमारे प्रति (हेळः) अनादर, तिरस्कार को (अव+यासिसीष्टाः) दूर, पृथक् कर। तू (यजिष्ठः) अत्यन्त यजनशील (वह्नितमः) सब से अधिक भार उठाने वाला और (शोशुचानः) निरन्तर प्रकाशमान हैं, अतः (अस्मत्) हम से (विश्वा) सम्पूर्ण (द्वेपांसि) द्वेपों को (प्र+मुमुग्ध्य) अच्छी तरह छुड़ा।

'वह्नितमः' में 'तमप्' प्रत्यय बता रहा है कि वह्निशब्द रुढ़ नहीं है, वरन् यौगिक है। यौगिक होने के कारण प्रकृति-प्रत्यय के अनुसार इस के अर्थ किए जाएंगे। यौगिक होने के कारण यह विशेषणवाचक भी हो सकता है। अतः इससे अतिशय अर्थ वाला 'तमप्' प्रत्यय भी लग सकता है।

१४. उच्छ्रयस्व महते सौभगाय । ऋ० ३।८।२

(महते) महान् (सौभगाय) सौभाग्य के लिए (उद्+अयस्व) ऊपर का आश्रय कर।

१५. संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।

देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ ऋ० १०।१०१।२

तुम (सं+गच्छध्वम्) एक साथ चलो (सं+वदध्वम्) एक साथ बोलो (सं+जानताम्) एक समान ज्ञानवान् (वः) तुम लोगों के (मनांसि) मन भी हों। (यथा) जिस तरह (सं-जानानाः) एक समान ज्ञानवान् (पूर्वे) पूर्ण (देवाः) विद्वान् (भागम्) भजनीय भगवान् को ही (उपासते) उपासते हैं, पूजते हैं।

१६. वि शत्रून् ताडि । ऋ० १०।१८०।२।

(शत्रून्) शत्रुओं को (वि+ताडि) विरोध से मार।

१७. आराच्छत्रुमपबाधस्व । ऋ० १०।८२।६।

(शत्रुम्) शत्रु को (आरात्) दूर से (अप+बाधस्व) दूर से रोक।

१८. ग्रीवायां बद्धो अपि कक्ष आसनि । ऋ० ४।४०।४।

(ग्रीवायाम्) ग्रीवामें (अपि) और (कक्षे) बगल में और (आसनि) मुख में (बद्धः) बंधा हुआ (अपि कक्षे आसनि) बगल, मुख (ग्रीवायाम्)

ग्रीवा=गर्दन में (अपि) भी बंधा हुआ ।

१६. उप च यज्ञस्य शिवे सं तिष्ठस्व । य० २ । १६ ।

(च) और (यज्ञस्य) यज्ञ के (शिवे) भले के निमित्त (उप+सं तिष्ठस्व) समीप में एकता से बैठ ।

२०. परि भूष । ऋ० १ । १५ । ४ ।

(परि) सब तरह से (भूष) सजा ।

२१. इन्द्रायेन्दो परिस्रव । ऋ ६ । ११३ । ११ ।

हे (इन्द्रो) परमेश्वर ! (इन्द्राय) जीवके लिए (परि) सर्वतः (स्रव) आ-
र्द्रहो, दया कर ।

२२. इमे सोमास इन्द्रवः सुतासो अधि बर्हिषि । तौ इन्द्र सहसे पिब ॥

ऋ० १ । १६ । ६ ।

(इमे) ये (इन्द्रवः) पेशवर्ग्य बढ़ाने वाले (सोमासः) आनन्द देने वाले
रस (बर्हिषि+अधि) आकाश में (सुतासः) तैय्यार किये गए हैं । हे
(इन्द्र) इन्द्र=जीव ! (सहसे) बल के लिए (तान्) उनको (पिब) तू पी ।

२३. पृथिव्या अधि सानवि । ऋ० ६ । ६३ । २७ ।

(पृथिव्याः) पृथिवी की (सानवि+अधि) चोटी पर ।

२४. सर्वं यश्चाधितिष्ठति ॥ अ० १०. ८ । १

(च) और (यः) जो (सर्वम्) सब का (अधि+तिष्ठति) स्वामी होकर
रहता है ।

२५. अविन्द उस्त्रिया अनु ॥ ऋ० १ । ६ । ५

(उस्त्रियाः) किरणों को (अनु+अविन्दः) पीछे से प्राप्त किया ।

२६. ब्राह्मणादिन्द्र राधसः पिबा सोमम् ऋतूरनु ॥ ऋ० १ । १५ । ५

हे (इन्द्र) जीव ! प्राणिन् ! (ब्राह्मणात्) ईश्वर के दिए (राधसः) धन से
(ऋतून्+अनु) ऋतुओं के अनुकूल (सोमम्) सोम को (पिब) पी ।

यह दिग्दर्शनमात्र है । निरुक्त का उद्धरण दे कर हम बता चुके हैं कि कोई
उपसर्गों को द्योतक मानता है, अर्थात् जिस क्रिया-पद के साथ उपसर्ग लगाकर
एक नूतन अर्थ की सृष्टि कर देता है, वह अर्थ वास्तव में उस क्रियापद का
ही होता है, उपसर्ग आकर केवल उसको प्रकट कर देता है । कोई-कोई आचार्य
उपसर्गों को वाचक मानते हैं । अर्थात् उपसर्ग के संसर्ग से क्रियापद में जिस नए
अर्थ की प्रतीति हुई है, वह वास्तव में उपसर्ग का है । यह द्योतक तथा वाचकपक्ष
साथ-साथ चलते रहे हैं । अब भी चले आ रहे हैं । इनमें से कोई सा पक्ष स्वी-
कार किया जाए, इतना दोनों पक्षवालों को अवश्य मानना पड़ता है कि उपसर्ग

के कारण धातु के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। जैसा कि एक विद्वान् का कथन है—

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यः प्रतीयते, प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत् ।

अर्थात्—उपसर्ग के संसर्ग के कारण धातु का अर्थ बलात् दूसरा प्रतीत होने लगता है। जैसे प्रहार, आहार, संहार, विहार और परिहार ॥

तात्पर्य यह है कि 'हृञ्' (हृ) धातु का अर्थ हरण=छीनना है किन्तु उपसर्ग के संसर्ग से इस धातु के अर्थ विलक्षण-विलक्षण प्रतीत होने लगते हैं, जैसे 'प्र' उपसर्ग के लगने से प्रहार बनता है, इसका अर्थ है चोट करना, हमला करना। आङ्=आ उपसर्ग के मेल से बने 'आहार' शब्द का अर्थ 'भोजन' और प्राप्त्य भाग होता है। विहार का अर्थ सैर करना; संहार का अर्थ नाश करना समाप्त करना; 'परिहार' का अर्थ हटाना, दूर करना होता है। यह सब अर्थ उपसर्ग-संसर्ग की महिमा को बतलाते हैं।

आगे धातुप्रकरण में सकर्मक अकर्मक धातुओं की चर्चा आएगी। उपसर्ग की यह शक्ति है कि अपने संसर्ग से यह अकर्मक धातु को सकर्मक बना देता है। 'भू' धातु अकर्मक है किन्तु उपसर्ग अर्थ परिवर्तन के साथ इस अकर्मक को सकर्मक बना देता है। यथा—'अनुभवति' का अर्थ होता है—'अनुभव करता है।' 'परिभवति' का अर्थ है 'दबाता है।' 'परिभवति'=तिरस्कार करता है। अभिभवति=दबाता है। 'भू' धातु का अर्थ सत्ता='होना' है किन्तु 'अनुभवति' आदि में वह अर्थ नहीं रहा। इसी प्रकार 'प्रभवति', 'पराभवति', 'संभवति' 'उद्भवति' यद्यपि अकर्मक हैं, किन्तु 'सत्ता' अर्थ की सत्ता भी इन में नहीं रही। प्रभवति=उत्पन्न होता है, प्रभावशाली होता है। पराभवति=हारता है। संभवति=संभव होता है, सुमकिन है। उद्भवति=उत्पन्न होता है। देखिए, उपसर्गों ने कितना अन्तर अर्थों में कर दिया है। उपसर्गों की इस शक्ति को सदा ध्यान में रखना चाहिए।

षष्ठः पाठः

आरंभ में बतलाया जा चुका है कि नैरुक्तों के मत में चार प्रकार के पद होते हैं—१. नाम, २. आख्यात, ३. उपसर्ग और ४. निपात। यह भी वहाँ बतला दिया गया था, कि पाणिनि जी आदि वैयाकरणों के मत में सुबन्त और तिङन्त दो प्रकार के पद होते हैं। नैरुक्तों के अभिमत उपसर्ग और निपात अव्ययों के अन्तर्गत होते हैं, और अव्यय सुबन्तों के अन्तर्गत हैं। अतः वैयाकरणों की दृष्टि से उपसर्ग और निपात सुबन्तों का ही प्रपञ्च है। वैयाकरणों के मत में निपात उन शब्दों को कहते हैं, जो उनके व्याकरण के सूत्रों के सांचे में पूरी तरह न ढलते हों किन्तु हों वे शिष्टसम्मत। वे सुबन्त, तिङन्त आदि सभी हो सकते हैं। वेदभाष्यों में इन के उदाहरण अनेक मिलते हैं। वैयाकरणों के इस विशिष्ट निपात—(निपातित—)

समुदाय में से एक बहुत बड़ा भाग 'अव्यय' संज्ञक है। आचार्य पाणिनि जी ने अपने आठ अध्यायों वाले शब्दानुशासन (इसे आठ अध्याय होने के कारण अष्टाध्यायी भी कहते हैं) में निम्नलिखित सूची में 'निपात' गिनाए हैं—

चादयो ऽ सत्वे ॥ १।४.५७॥

'च' आदि शब्द निपात होते हैं यदि वे किसी द्रव्य के वाची न हों।

च=और। वा=या। ह=ही। अह=ही। एव=ही। एवम्=ऐसा। नूनम्=सचमुच। जश्नत्=सदा। युगपत्=एक साथ। सुपत्=बहुत अच्छा। कूपत्=क्या, अच्छा। कुवित्=क्या, बहुत, अच्छा, खराब। नेत्=ऐसा न हो कि। चेत्=यदि। चण (च)=यदि। कश्चित्=क्या। यत्र=जहां। नह=नहीं, उलटना। हन्त=अहह, हाय। माकिम्=नहीं। नकिम्=नहीं। माङ्=नहीं। मा=नहीं। नञ् (न)=न। यावत्=ज्यों। तावत्=त्यों। त्वा=तोई। त्वै=विशेष, शायद। द्वै=शायद। रे=अरे। औपट्=हवि डालना। वौपट्=हवि डालना। स्वधा=हवि डालना। ओम्=परमात्मा का निज नाम। किल=प्रसिद्ध, ही। तथा=वैसा, और। अध=अब, और। सु=अच्छा। स्म=अतीत। अस्मि=(मैं)हूँ। अ=प्रीति, निषेध, हे। आ=स्मरण कराना। इ=हे। ई=हे। उ=हे। ऊ=हे। ऋ=हे। लु=हे। ए=हे। पे=हे। ओ=हे। औ=हे। अम्=हां। तक=दुःख। उञ् (उ)=ही, उकञ् (उक)=अवश्य। वेलायाम्=समय। मात्रायाम्=मात्र। यथा=जैसे। यत्=जो, जैसे। यम्=जो। तत्=वह, प्रसिद्ध। किम्=क्या। पुरा=पहले। अद्वा=विश्वास, सच्चाई पर दृढ़ आस्था। धिक्=धिक्कार। हाहा=हाहा। हे=हे। है=हे। प्याट्=हे। पाट्=हे। थाट्=हे। अहो=अहो। उताहो=अथवा। हो=हे। तुम्=तिरस्कार। तथाहि=जैसा कि। खलु=हि, निश्चयपूर्वक, तो। आम्=हां। आहो=आहो, हां (पंजाबी में यह आज तक 'हां' अर्थ में प्रयुक्त होता है। अथो=और। ननु=सन्देहार्थक। मन्ये=मेरे विचार से। मिथ्या=झूठ। असि=है। ब्रूहि=बोल। तु=तो। नु=प्रश्नार्थक। इति=समाप्ति सूचक। इव=जैसा। वत्=समान (वत् प्रत्यय है)। चन=जो कुछ, भी। वत=शोक। इह=यहां। शम्=शान्त। कम्=आनन्द, मौज। अनुकम्=अनुकूल। नहिकम्=नहीं। हिकम्=ही। सुकम्=अच्छी तरह। सत्यम्=सचमुच। ऋतम्=सचमुच। इद्वा=इस प्रकार। नाकिर्=नहीं। नकिर्=नहीं। आङ् (आ)=नहीं। अ=नहीं। मा=नहीं। नो=नहीं। ना=नहीं। उत=और, भी। दह=जलाना, ही। मुधा=व्यर्थ। नोचेत्=नहीं तो। नचेत्=नहीं तो, अन्यथा। नहि=नहीं। जातु=रुभी। कथम्=कैसे। कुतः=क्यों। कुत्र=रुहां। अव=निचला। अनु=अनुकूल। हाहौ=हाहा। हैहा=हाहा। ईहा=यत्र। आहोस्वित्=अथवा। छम्बट्=सामने। खम्=सुख। दिष्ट्या=भाग्य से। पशु=भली प्रकार। वट्=वट्। सह=साथ। आनुषक्=अनुक्रम से। अङ्ग=प्यारे। फट्=फट्। अये=अये। अरे=अरे। चटु=अच्छा। बाट्=भला। कुम्=हुंकार। खुम्=हुंकार। घुम्=हुंकार। हुम्=हुंकार। नांम्=सर्वत्र। सांम्=सर्वत्र। वै=ही।

इसके आगे आचार्य ने अनेक सूत्रों में (६० से ६७ तक) निपात गिनाए हैं।

उनमें से कई एक का हम यहाँ निर्देश कर देते हैं ।

सत्=आदर । असत्=अनादर । अलम्=सजाना । अन्तः=बीच । पुरः=पहले ।
अच्छ=अच्छा । तिरः=छिपा हुआ । साक्षात्=साक्षात् ।

श्रीयास्काचार्य अव्यय-निपातों के तीन वर्ग करते हुए लिखते हैं—

अथ निपाता उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति । अप्युपमार्थे । अपि कर्मोपसंग्रहार्थे ।

अपि पदपूरणाः । (नि० १।४)

अब निपात—यह विविध अर्थों में प्रयुक्त होते हैं । उपमार्थक भी होते हैं ।
अर्थ के उपसंग्रहक भी होते हैं । और पद=पाद या वाक्य की पूर्ति करने वाले भी होते हैं ।

कविता करते हुए छन्दों में अक्षरों की न्यूनता दूर करने के लिए जिन ननु, खलु आदि शब्दों को कवि-जन अपने छन्दों में भरती कर लिया करते हैं, वे पदपूरक कहलाते हैं । पहले बताया जा चुका है कि निरुक्त का विषय सम्पूर्ण वाङ्मय है । लौकिक कवियों की कविता में ऐसे प्रयोग बहुतायत से मिलते हैं किन्तु वेद में कोई पद भरती का नहीं है । सोच समझ कर लिखे ग्रन्थों में कोई वचन व्यर्थ नहीं होता । देखिए, महामुनि पतंजलि जी अपने महाभाष्य में पाणिनि-महर्षि के ग्रन्थ के संबन्ध में 'वृद्धिरादैच्' सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

प्रमाणभूत आचार्यों दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म । तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम्, किं पुनरियता सूत्रेण ॥

अर्थात् प्रमाणभूत आचार्य (पाणिनिजी) हाथ में दर्भ लेकर, पवित्रस्थान में पूर्वाभिमुख बैठकर बड़े प्रयत्न से सूत्र बनाते थे । उनमें तो एक अक्षर भी व्यर्थ नहीं हो सकता, इतना बड़ा सूत्र तो कैसे ?

पाणिनि जी अद्भुत मेधाबुद्धि के धनी थे । उन की अप्रतिहत आर्पणदृष्टि थी । किन्तु अन्ततोगत्वा थे तो मनुष्य ही ना । जब उनकी रचना में एक वर्ण भी निरर्थक नहीं हो सकता तो ऋषियों के ऋषि, परमज्ञानी, भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों से सर्वथाविरहित एकर्षि परमात्मा की कल्याणी वाणी में कैसे कोई अक्षर या अक्षरसमुदाय व्यर्थ हो सकता है । यास्क जी ने जो दो चार उदाहरण पादपूरण के दिखाए हैं, उनका तात्पर्य लौकिक दृष्टि वालों को लौकिकदृष्टि से समझाना है । पादपूर्ति भी एक प्रयोजन ही है ।

अब यास्क-प्रदर्शित कुछ निपातों को अर्थ और उदाहरण समेत दिखाते हैं—

तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्ति ॥ (निर० १।४)

उनमें से यह चार (इव, न, चित्, नु) उपमार्थक होते हैं ।

इव इति भाषायां च, अन्वधायां च ॥ (नि० १।४)

'इव' भाषा (संस्कृत) में और वेद में उपमार्थक है । जैसे— अग्निरिव

(ऋ० १०.८४।२)=अग्नि के समान, इन्द्र इव (ऋ० १०।८४।५)=इन्द्र की भांति ।

‘न’ इति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्, उभयमन्वध्यायम् । नेन्द्रं देवममंसत (ऋ० १०।८६।१) इति प्रतिषेधार्थीयः । पुरस्तादुपचारस्तस्य यत्प्रतिषेधति॥ (निरु० १।४)

‘न’ यह भाषा में निषेधार्थक (‘नहीं’) है । वेद में उपमार्थक और निषेधार्थक दोनों हैं । ‘नेन्द्रं देवममंसत’=वे इन्द्र को देव नहीं मानते । इसमें ‘न’ निषेधार्थक है । जिसका निषेध किया जाता है, उसके पूर्व निषेधार्थक ‘न’ का प्रयोग किया है ।

‘दुर्मदासो न सुरायाम्’ (ऋ० ८।२।१२) इत्युपमार्थीयः । उपरिष्ठादुपचारस्तस्य येनोपमिमीते । (निरु० १।४) ॥

‘दुर्मदासो न सुरायाम्’ शराव में उन्मत्तों की भांति । इसमें ‘न’ उपमार्थक है । जिससे उपमा दी जाती है, उसका उपमार्थक ‘न’से पूर्व प्रयोग होता है ।

यहां निरुक्तकार ने एक अत्यन्त आवश्यक संकेत किया है, उसे पाठक अवश्य हृदयङ्गम कर लें । ‘न’ के दो अर्थ हैं । प्रश्न उत्पन्न होता है कि कहां उसे उपमार्थक समझा जाए और कहां निषेधार्थक । यद्यपि इसका सीधा सादा समाधान यह है कि प्रकरणानुसार अर्थ कर लिया जाएगा, तथापि वेदाध्ययन करने वालों की सुविधा के लिये एक सामान्य नियम बतला दिया है कि जिसका निषेध हो, उसके पहले निषेधार्थक ‘न’ प्रयुक्त होता है, जैसे ‘नेन्द्रं देवममंसत’ में मानने का निषेध है, यहाँ न का प्रयोग ‘अमंसत’ से पहिले हुआ है, ‘दुर्मदासो न सुरायाम्’ में शराव पीकर उन्मत्त हुआओं के साथ उपमा देनी है, इसवास्ते उपमा ‘दुर्मदासः’ पद के पश्चात् उपमार्थक ‘न’ का प्रयोग हुआ है, क्योंकि यह नियम है कि उपमार्थक ‘न’ का ‘उपमान’ के परे प्रयोग होता है । इस सामान्य-नियम तथा उदाहरणों पर ध्यान दीजिएगा, तो आप को ज्ञात हो जाएगा, कि यह सारी व्यवस्था प्रकरणज्ञान के अधीन है । अतः अर्थनिश्चय में सर्वत्र प्रकरणज्ञान नियामक है ।

‘चित्’ इत्यनेककर्मा । आचार्य्यश्चिदिदं ब्रूयात्, इति पूजयाम् । (आचार्य्यः कस्मात् ? आचार्य्य आचारं ग्राहयति । आचिनोति अर्थान् । आचिनोति बुद्धिमिति वा ।) दाधिचित्, इत्युपमार्थे । कुलमाषांश्चिदाहर, इत्यवकुत्सिते । [कुलमाषाः कुलेषु सीदन्ति] ॥ (निरु० १।४) ।

‘चित्’ यह अनेकार्थक है । जैसे ‘आचार्य्यश्चिदिदं ब्रूयात्’=आचार्य जी यह बोलें । इसमें चित् का पूजा=आदर अर्थ है । [आचार्य को आचार्य्य क्यों कहते हैं ? जो आचार का चयन करे, जो धन (चन्दा आदि द्वारा) का संग्रह करे और जो बुद्धि का संग्रह करे कराए, वह आचार्य्य होता है ।] ‘दाधिचित्’=इसी जैसा, यहाँ ‘चित्’ उपमार्थक है । ‘कुलमाषांश्चिदाहर’=कुलमाषों को ही ले आ ।

आचार्य यास्क ने 'चित्' के सब उदाहरण लौकिक ही दिये हैं। इस से हमारा यह सिद्धान्त सिद्ध हो गया, कि निरुक्तकार ने समस्तभाषा को सामने रख कर यह ग्रंथ लिखा है। यहां चित् से निन्दा द्योतित होती है।

निरुक्तकार ने 'चित्' का पूजार्थ में 'आचार्यश्चिदिदं ब्रूयात्' उदाहरण दिया है। हमने 'आचार्यश्चित्' का अर्थ आचार्य्य जी किया है। अर्थात् 'चित्' का अर्थ 'जी' है। कई लोग हिन्दी में आदरार्थ प्रयुक्त होने वाले 'जी' को संस्कृत के 'जीव' शब्द का अपभ्रंश मानते हैं। यह उनकी भारी भूल है। समस्त संस्कृत साहित्य में—क्या वैदिक और क्या लौकिक में—कहीं भी 'जीव' शब्द इस अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ।

निरुक्त के प्रसिद्ध भाष्यकार स्कन्दस्वामी ने लिखा है—'आचार्य इदं वक्तुं शक्नुयान्नान्य इति यासौ पूजा तस्याश्चिच्छब्दः' आचार्य्य यह कह सकता है, दूसरा नहीं, इस प्रकार जो आदर है, उसके लिए यह 'चित्' शब्द है। स्कन्द स्वामी जी की यह भूल है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके समय में इस शब्द का प्रयोग संस्कृत-भाषा में नहीं रहा था और इसी कारण वह इसको ठीक समझ नहीं सके। निरुक्तकार ने 'चित्' के लौकिक उदाहरण दिये हैं। हम उसके वैदिक उदाहरण देते हैं—

१. पूजा—

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षूपो एमि चिकितुषो विपृच्छम् ।

समानमिन्मे कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते ॥ ऋ० ७।८६।३

हे (वरुण) सर्वश्रेष्ठ प्रभो ! (दिदृक्षु) मैं दर्शनाभिलाषी (तत्) वह (एनः) पाप (पृच्छे) पूछता हूं, और (चिकितुषः) ज्ञानियों के (उप+उ) पास भी (एमि) जाता हूं और (वि+पृच्छम्) पूछता हूं। (मे) मुझे (कवयः+चित्) कवि जी=आदरणीय विद्वान् (समानम्+इत्) एक जैसा ही (आहुः) कहते हैं कि (अयम्) यह (वरुणः) वरुणभगवान् (ह) ही (तुभ्यम्) तुझ पर (हृणीते) रुष्ट है।

यहां 'चित्' पूजा=आदर अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

२. उपमार्थक—

क त्यानि नौ सख्यानि बभूवुः सचावहे यदवृकं पुरा चित् ॥ ऋ० ७।८८।५

(नौ) हम दोनों की (त्यानि) वे (सख्यानि) मैत्रियां (क्) कहां (बभूवुः) हैं, (यत्) जिन से हम (पुरा+चित्) पहले जैसा (अवृकम्) कुटिलता रहित, न टूटने वाला (सचावहे) मेल रख सकें।

३. अवकुत्सन —

मित्रश्चिद्धि ष्मा जुहुराणः । ऋ० १०।१२।५

(मित्रः+चित्) निकम्मा मित्र ही (जुहुराणः) कुटिलता करने वाला (ष्मा=स्मा=) होता है—

स्कन्दस्वामी अपने निरुक्तभाष्य में इस स्थल पर लिखते हैं—

प्रदर्शनार्थं चेदं चिच्छब्दस्य पूजादानामुपादानम् । समुच्चयेपि ह्ययं दृश्यते ।
अद्या चिन्नु तदपो नदीनाम् (६.३०.३) इति । तथा अप्यर्थे—सद्यश्चिद्यः
शवसा (ऋ० १०.१७८.३) इत्यत्र सद्योपि यः शवसा बलेनेति ॥

अर्थात् 'चित्' शब्द के पूजा आदि अर्थों का ग्रहण उपलक्षण=नमूनामात्र
है । क्योंकि यह 'चित्' शब्द 'समुच्चय' (और) अर्थ में भी देखा जाता है । जैसे—
'अद्याचिन्नु.....'=(चित्) और (अद्य) आज (नु) ही (नदीनाम्) नदियों के
(अपः) जल को, कर्म को । तथा 'अपि=भी'—अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे—सद्यश्चिद्यः
शवसा=(सद्यः+चित्) तत्काल भी (यः) जो (शवसा) बल के द्वारा—।

इसी कारण भाष्यकारों ने इन ऊपर लिखे अर्थों के अतिरिक्त—'ही, अन्य,
निश्चय, फिर, मात्र, यदि, क्या, कुछ' आदि अर्थ भी लिखे हैं ।

नु इत्येषोऽनेककर्मा । इदं नु कारिष्यति, इति हेत्वपदेशे । कथं नु कारिष्यति
इत्यनुपृष्टे । नन्वेतदकार्षीत् इति च । अथाप्युपमार्थे भवति—'वृक्षस्य नु पुरु-
हूत ते वयाः (ऋ० ६।२४।३) । वृक्षस्येव ते पुरुहूत शाखाः । वयाः शाखा वेतेः
वातायना भवन्ति । शाखाः स्वशयाः शक्नोतेर्वा । (नि० १।४)

'नु' यह निपात अनेक अर्थों वाला है । 'इदं नु कारिष्यति'=(नु) चूंकि
इसको करेगा । यहाँ नु हेतु अर्थ में है । 'कथं नु कारिष्यति' (कैसे करेगा) और 'ननु
एतत् अकार्षीत्' (ननु) (क्या उसने यह नहीं किया) इन दो वाक्यों में 'नु' अनुप्रश्न
है । [किसी बात के कहे जाने पर जो दूसरे की ओर से प्रश्न होता है, उसे अनु-
प्रश्न कहते हैं] । और उपमार्थ में प्रयुक्त होता है जैसे 'वृक्षस्य नु पुरुहूत ते वयाः'
हे (पुरुहूत) अनेकों से स्तुत्यं (वृक्षस्य नु=वृक्षस्य इव) वृक्ष की भांति (ते) तेरी
(वयाः) शाखाएँ हैं ।

'वयाः' पद का अर्थ 'शाखा' है और यह शब्द 'वी' धातु से बनता है ।
क्योंकि वृक्ष वातायन होते हैं । 'शाखा' का अर्थ है 'ख'=आकाश में 'शया' रहने
वाली, अथवा 'शक्' धातु से शाखा शब्द बनता है ।

उपमार्थक-निपातों के उदाहरण दिखाकर अब कर्मोपसंग्रहार्थक-निपातों
के संबन्ध में आचार्य यास्क लिखते हैं—

अथ यस्यागमादर्थपृथक्त्वमह विज्ञायते न तु औद्देशिकमिव विग्रहेण पृथक्त्वात्
स कर्मोपसंग्रहः ॥ (निरु० १।४)

जिसके अवगमन मात्र से अर्थ का पार्थक्य ही जाना जाता है, न कि अभि-
धेय की भांति, वह विग्रह से पृथक् होने के कारण कर्मोपसंग्रह निपात होता है ।

कर्मोपसंग्रहार्थ निपात ६ हैं—'च, आ, वा, अह, ह, उ । अब क्रमशः एक
एक का उदाहरण निरुक्तकार देते हैं—

‘च’ इति समुच्चयार्थ उभाभ्यां संप्रयुज्यते । (नि० १.४) ‘अहं च त्वं च वृत्रहन् ।’ (ऋ० ८.६२.११) ।

‘च’ यह समुच्चयार्थक है, यह दोनों (जिनका समुच्चय करना अभीष्ट होता है उन दोनों) के साथ प्रयुक्त किया जाता है । जैसे ‘अहं...हन्’ हे (वृत्रहन्) वृत्र-घातक (अहम्) मैं (च+च) और (त्वम्) तू ।

यहां ध्यान दीजिए । ‘च’ ‘अहम्’ और ‘त्वम्’ दोनों के साथ लगा हुआ है ।
एतस्मिन्नेवार्थे ‘देवेभ्यश्च पितृभ्य आ’ ऋ० १०।१६।११) इति आकारः= आ । (नि० १।४)

इसी (और) अर्थ में ‘आकार’=आ का प्रयोग होता है । जैसे ‘देवे...आ’ (देवेभ्यः) देवों के लिए (च+आ) और (पितृभ्यः) पितरों के लिए ।

यहां एक पद के साथ ‘च’ और दूसरे के साथ ‘आ’ का संप्रयोग हुआ है ।

‘वा’ इति विचारणार्थे—हन्ताहं पृथिवीं नि दधानीह वेह वा । १०। ११६।६) इति । (नि० १।४) ।

‘वा’ यह विचारण अर्थ में प्रयुक्त होता है । (हन्त) अहो (अहम्) मैं (पृथिवीम्) पृथिवी को (वा) अथवा (इह) यहां (नि+दधानि) रखूँ (वा) अथवा (इह) यहां ?

इसका भी प्रयोग दोनों के साथ होता है । जैसा कि उदाहरण में दोनों ‘इह’ शब्दों के साथ आया है ।

अथापि समुच्चयार्थे भवति ‘वायु वा त्वा मनुवा त्वा इति ॥ (निरु० १।४)

और यह ‘वा’ समुच्चयार्थ में भी प्रयुक्त होता है, जैसे (वायुः) वायु (त्वा) तुझको (वा-वा) और (मनुः) मन (त्वा) तुझको ।

‘अह’ इति च ‘ह’ इति च विनिग्रहार्थीयौ, पूर्वेण, संप्रयुज्येते-‘अयमहेदं करोतु, अयमिदम् ।’ ‘इदं ह करिष्यति, इदं न करिष्यति’ (नि० १।५)

‘अह’ और ‘ह’ यह विनिग्रहार्थक (‘ही’ अर्थ वाले) हैं, और पूर्व के साथ प्रयुक्त होते हैं जैसे १. अयम् अह इदं करोति, अयम् इदम्=यही यह करे । और यह यह । ‘इदं ह करिष्यति इदं न’ इस ही को करेगा, इसको नहीं ।

कार्यविभाग के समय ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है ।

इन दोनों के वैदिक उदाहरण लीजिए—

आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे । दधाना नाम यज्ञियम् ॥ ऋ० १।६।४

(आत) इसके बाद (अह) ही, (स्वधाम+अनु) जल के पीछे=अर्थात् जल बरसाने के पीछे (यज्ञियम्) यज्ञ=जीवन-यज्ञ के संपादक (नाम) जल को अन्तरिक्ष में (दधानाः) धारण करते हुए [मरुत] (पुनः) फिर (गर्भम्) गर्भ-दशा के समान अवस्था को (आ+इरिरे) प्राप्त कराते हैं ।

अर्थात् वृष्टि के पश्चात् हवाएँ पानी को उठाकर फिर अन्तरिक्ष में पहुँचा देती हैं, यह जल का गर्भावस्था में पहुँचना है।

यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति ॥ ऋ० १।१२५।५

(यः) जो [लोगों को] (पृणाति) प्रसन्न करता है (सः) वह (ह) ही (देवेषु) देवों में (गच्छति) प्राम होता है।

अथाप्युकार एतस्मिन्नेवार्थ उत्तरेण । 'मृषेमे वदन्ति सत्यम् उ ते वदन्ति ॥'

और उकार='उ' भी इस अर्थ में प्रयुक्त होता है, और पश्चात् प्रयुक्त है। जैसा—'मृषेमे...ति' यह झूठ बोलते हैं और वे सत्य ही बोलते हैं।

यह '...सत्यम् उ...' लौकिक उदाहरण है। वैदिक उदाहरण देखिए—

तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगमुक्थशासम् ।

स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिण्या रराध ॥ ऋ० १०।१०७।६

(यः) जो (प्रथमः) प्रधान मनुष्य (दक्षिण्या) दक्षिणा के द्वारा, निर्व्याज उत्साह के द्वारा (रराध) आराधना करता है (तम्) उस को (एव) ही (ऋषिम्) ऋषि (तम्) उसको (उ) ही (ब्रह्माणम्) ब्रह्मा कहते हैं, उस को ही (यज्ञन्यम्) यज्ञ का नेता=अध्वर्यु, उसको ही (सामगम्) सामगान करने वाला=उद्गाता और उसी को ही (उक्थशासम्)=उक्थ का कहने वाला=होता कहते हैं (सः) वह ही (शुक्रस्य) जीव के अथवा शुद्धिकारक वेद के (तिस्रः) तीन (तन्वः) शरीरों को (वेद) जानता है।

यज्ञ में ऋचाओं से जो काम करे उसे उक्थशास वा होता कहते हैं; यज्ञ का मुख्य कार्यसंपादक ऋत्विक् अध्वर्यु कहलाता है, इस वेदमन्त्र में उसे 'यज्ञनी' (यज्ञन्यम्) कहा है। यज्ञनी का अर्थ है यज्ञ का नेता। अध्वर्यु शब्द का निर्वचन करते हुए स्वयं यास्काचार्य जी ने भी कहा है—'अध्वरस्यनेता'= अध्वर=यज्ञ का नेता। यज्ञ में सामग=सामगान करने वाले को 'उद्गाता' कहते हैं। सब वेदों और यज्ञ की संपूर्ण प्रक्रिया को जानने वाला ब्रह्मा कहलाता है।

'स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रः। वही (शुक्रस्य) शुद्धिदायक वेद के (तिस्रः) तीन (तन्वः) शरीरों को (वेद) जानता है।

वेद के तीन शरीर 'ऋक्, साम, और यजुः' हैं। संसार की किसी भी भाषा को ले लीजिए, उसमें आपको गद्य, पद्य और गान मिलेंगे। जो वहाँ अथवा मात्राओं के विचार से छन्दोबद्ध भाषा हो, उसे 'पद्य' कहते हैं। वैदिकपरिभाषा में उसे 'ऋक्' या ऋचा कहते हैं, जो गायी जा सके, उसे गान=गेय=गीति कहते हैं। वैदिकपरिभाषा में उसे 'साम' कहते हैं। गान और पद्य अर्थात् साम और ऋक् से भिन्न भाषारचना को 'गद्य' कहते हैं। वेद वाले उसे 'यजुः' कहते हैं। जैसा कि पूर्वमीमांसादर्शन के कर्ता महर्षि जैमिनि जी ने लिखा है—

तेषामृग् यत्राथवशेन पादव्यवस्था (पू. मी. १.१.१५)



उत्तमन्त्रों में से जिसमें प्रयोजन के कारण पादव्यवस्था हो उसे ऋक् कहते हैं।

गीतिम् सामाख्या (पू. मी. २.१.३६)

गीतियों को साम कहते हैं।

शेषे यजुःशब्दः (पू. मी. २.१.३७)

शेष=पद्य और गान=ऋक् और सामसे व्यतिरिक्त को 'यजुः' शब्द से पुकारा जाता है।

चारों वेद में तीन प्रकार की भाषा है, अतः उनको 'त्रयी' भी कहते हैं। इससे यह तात्पर्य कदापि नहीं कि वेद तीन हैं। वेद तो चार ही हैं।

जिसमें ऋचाओं की अधिकता है, उसको ऋग्वेद कहते हैं। जिसमें गद्य की मात्रा प्रचुर है, उसे यजुर्वेद कहते हैं। जिसमें गान का आधिक्य है, उसे सामवेद कहते हैं। ऋग्वेद में केवल ऋक्=पद्य ही हों, और यजुर्वेद में केवल गद्य ही हों, सो बात नहीं। वरन् इनके अतिरिक्त भी है। विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्डों के कारण वेद चार हैं। तृण से लेकर ब्रह्मपर्यन्त सबपदार्थों का विशिष्टज्ञान ऋग्वेद से मिलता है। कर्मों का-नाना प्रकार के नित्य, नैमित्तिक एवं काम्यकर्मों का-बोध यजुर्वेद कराता है। उपासनातत्त्व का उपदेश सामवेद देता है। ज्ञान=संशयरहित ज्ञान का दान अथर्ववेद करता है। अस्तु।

निरुक्तकार विनिग्रहार्थक 'उ' का उदाहरण दिखाकर कहते हैं—

अथापि पदपूरणः । 'इदमु' 'तदु'

हम बता चुके हैं कि लौकिक कवि छन्दःपूर्ति के लिए 'ननु, हि, खलु आदि अनेक अव्ययों को छन्दों में डाल दिया करते हैं। यह असामर्थ्य का द्योतक है। सर्वशक्तिमान् भगवान् में असामर्थ्य की कल्पना कुकल्पनामात्र है। यह 'इदमु' और 'तदु' वेद में भी मिलते हैं। यदि निरुक्तकार ने यह वेद से उदाहरण दिए हैं, तो यह समझना चाहिए कि उनके मत में सर्वशक्तिमान् भगवान् ने मनुष्यकवियों के असामर्थ्य एवं अल्पशक्ति को ध्यान में रखकर कविता के लिए पदपूर्ति करने का प्रकार बताया है। वैसे इसका अर्थ 'ही' है। अर्थात् 'इदमु'=यह ही; 'तदु'=वह ही।

अब प्रसङ्ग से कुछ अकर्मोपसंग्रहनिपातों को दिखाते हैं—

'हि' इत्येषोऽनेककर्मा । इदं हि करिष्यति, इति हेत्वपदेशे । कथं हि करिष्यति, इत्यनुपृष्टे । कथं हि व्याकरिष्यति, इत्यनुसूयाम् । (नि० १।५)

'हि' यह अनेक अर्थों वाला निपात है। 'इदं हि करिष्यति'=(हि) चूँकि यह करेगा। यहाँ हेतु-अर्थ में है। 'कथं हि करिष्यति'=कैसे करेगा? यहाँ अनुपश्च अर्थ में है। 'कथं हि व्याकरिष्यति'=मरे, कैसे स्पष्ट करेगा? यहाँ असूया अर्थ में है।

निरुक्तकार ने केवल लौकिक उदाहरण दिए हैं। वैदिक उदाहरण भी देखिए—

इन्द्रवायू इमे सुता उप प्रयोषिरामावम् । इन्दो वायुशान्ति हि ॥ ऋ० १।२।४

हे (इन्द्रवायू) सूर्य और हवा ! (इमे) यह (सुताः) निष्पन्न किये गये हैं। तुम दोनों (प्रयोभिः) उत्पन्न करने वाले अन्नादि पदार्थों के साथ (उप-आगतम्) समीप आओ। (हि) यतः (इन्द्रवः) आनन्द के साधन यह पदार्थ (वाम्) तुम दोनों को (उशन्ति) प्रकाशित करते हैं, अथवा चाहते हैं। यहां 'हि' यतः (हेत्वपदेश) अर्थ में प्रयुक्त है।

वेद की शैली है कि वह जड़ पदार्थों को भी संबोधन करता है। कितनी सुन्दररीति से अन्न आदि भोग-सामग्री का निष्पादक सूर्य और पवन को बताया गया है।

यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम् । मिनीमसि द्यविद्यवि ॥ ऋ० १।२५।१

हे (वरुण) सर्वश्रेष्ठ परमात्मन् ! (यथा) जैसे (विशः) प्रजापति, [राजा के नियम का उल्लङ्घन करती हैं वैसे] (यत् + चित्) जब भी (हि) कभी हम (ते) तेरे (व्रतम्) व्रत को, नियम को (द्यविद्यवि) प्रतिदिन (प्र + मिनीमसि) तोड़ते हैं।

यहां 'हि' का अर्थ 'कदाचित्' है।

वेद में यह 'हि' शब्द 'निश्चय, सदृश, आश्चर्य्य, आदि अनेक अर्थों में आया है।

'मा' इति प्रतिषेधे । मा कार्षीः, मा हार्षीरिति च ॥ (नि० १।५)

'मा' यह निषेधार्थक है 'मा कार्षीः' = मत कर। और 'मा हार्षीः' = मत छीन। वैदिक उदाहरण लीजिए—

मा नो वधीरिन्द्र । (ऋ० १।१०४।८)

हे (इन्द्र) इन्द्र ! (नः) हमें (मा) मत (वधीः) मार।

'खलु' इति च । खलु कृत्वा, खलु कृतम् । अथापि पदपूरणः—एवं खलु 'तद् बभूव' इति । (नि० १।५)

'खलु' यह भी निषेधार्थक है -- 'खलु कृत्वा' = मत कर। 'खलु कृतम्' नहीं किया। और यह 'खलु' पदपूरण भी होता है, जैसे 'एवं खलु तद् बभूव' = ऐसा हुआ था। श्लोक का चरण पूरा करने के लिए 'खलु' की भरती की गई है।

चारों वेदों में 'खलु' का प्रयोग केवल एक बार हुआ है—

मित्रं कृणुध्वं खलु मृळता नो मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु । ऋ० १।०।३४।१४

(मित्रम्) मित्र (कृणुध्वम्) तुम बनाओ (खलु) ही, [और] (नः) हमें (मृळता) सुखी करो। (नः) हम पर (घोरेण) कठोरता से (धृष्णु) बलात् (मा) मत (अभि + चरत) अभिचार करो = मत्स्याचार करो।

'शश्वत्' इति विचिकित्सा र्थीयो भाषायाम् । 'शश्वदेवम्; इत्यनुपृष्टे' । 'एवं शश्वत्' इत्यस्वयं पृष्टे । (नि० १।५)

'शश्वत्' शब्द लौकिक संस्कृत में निश्चयार्थक है। जैसे 'शश्वत् एवम्' = क्या

ऐसे ? और 'एवं शश्वत्' ऐसे क्या ?

'विचिकित्सा' का यद्यपि संस्कृत में 'संशय' अर्थ होता है, किन्तु निरुक्त-कार इसका 'निश्चय' अर्थ में प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार और भी कई शब्दों का निरुक्तकार विलक्षण अर्थ में प्रयोग करते हैं। यथा—उपेक्षितव्यः। लौकिक-संस्कृत में इस का अर्थ होता है, उपेक्षा करना, टाल देना, किन्तु निरुक्तकार ने विचारने अर्थ में इसका प्रयोग किया है।

यास्काचार्य ने अपने रचे निघण्टु कोष ३१ में 'शश्वत्' का अर्थ 'बहु' दे रखा है। वेद में यह 'लगातार' अर्थ में भी आता है। जैसे—

तेन नासत्यागर्त रथेन सूर्यत्वचा ।

येन शश्वद्दूधुर्दाशुषे वसु मध्वः सोमस्य पीतये ॥ ऋ० १।४७।६

हे (नासत्यौ) सत्याचारी अश्वियो ! तुम (तेन) उस (सूर्यत्वचा) सूर्य समान आच्छादन वाले (रथेन) रथ के द्वारा आओ। (येन) जिसके द्वारा (मध्वः) मधुर (सोमस्य) सोम के (पीतये) पान के लिये (दाशुषे) दाता के लिये (वसु) धन (शश्वत्) निरन्तर (ऊहधुः) लाते हो।

इसी प्रकार निरुक्तकार ने 'नूनम्, सीम्, त्व, कम, ईम्, इत् आदि निपातों के अर्थ उदाहरण दिखलाए हैं। पाठ के दीर्घ होने के भय से हमने वे छोड़ दिये हैं। पाठक इतने निपातों के अर्थों और उदाहरणों का भली प्रकार अभ्यास करें। इससे उन्हें उदाहृत निपातों के अर्थज्ञान की पुष्टि के साथ उनका मन्त्रार्थ—अभ्यास भी दृढ़ होगा।

पाठक इन पाठों को बार बार पढ़ें, बार बार पढ़ने से अभ्यास दृढ़ हुआ करता है।

सप्तमः पाठः

वैदिकमूर्द्धन्य श्रीयास्काचार्य जी ने निरुक्तशास्त्र का एक प्रयोजन 'मन्त्रार्थज्ञान बतलाया है। कौत्स महाशय उस पर बिगड़ उठे हैं, और मन्त्रों को अर्थरहित बताने लगे हैं। निरुक्तकार ने उसकी युक्तियोंका उल्लेख करके उसका खण्डन किया है। मनोरञ्जक होने के साथ वह प्रकरण ज्ञानवर्द्धक भी है, अतः उसे हम यहाँ अविकल उद्धृत कर देते हैं। इससे पाठकों को यह ज्ञान हो जायगा, कि वेदविरोधियों की युक्तियाँ कितनी लचर और पोच होती हैं।

अनर्थका हि मन्त्राः, तदेतेनोपोक्षितव्यम् ।

मन्त्र निरर्थक हैं, यह इस (आगे दी युक्तियों) से जान लेना।

१. नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति ।

वचनविन्यास और आनुपूर्वी=क्रम इनकी निश्चित होता है।

कौत्स कहते हैं—
लोक में यदि किसी वाक्य में किसी शब्द

को आगे पीछे कर दें, तो कोई भेद नहीं पड़ता। जैसे—‘देवदत्तो ग्रामं गच्छति’ वाक्य को ‘ग्रामं गच्छति देवदत्तः’ ‘गच्छति ग्रामं देवदत्तः’ ‘ग्रामं देवदत्तो गच्छति’ ‘देवदत्तो गच्छति ग्रामम्’ आदि किसी भी प्रकार से प्रयोग किया जा सकता है, परन्तु वेद के शब्द जिस क्रम से पढ़े गए हैं, उनमें उलट फेर, आगा पीछा किया नहीं जा सकता। यदि वेदमन्त्रों का कोई अर्थ होता, तो उसमें उलट-फेर जा सकता, क्योंकि संस्कृतभाषा की रचना ऐसी है कि उसमें शब्दों को आगे-पीछे करने से अर्थ में रत्तीमात्र भी भेद नहीं आता। अर्थबोध कराने के लिये प्रयुक्त किए गए वाक्य में उलट-फेर करने से कोई हानि नहीं होनी चाहिये, किन्तु वेद के वचनविन्यास और शब्द-क्रम नियत और निश्चित हैं, अतः वेदमन्त्र अर्थशून्य हैं।

२. अथापि ब्राह्मणेन रूपसंपन्ना विधीयन्ते ‘उरु प्रथस्व’ (य० १।२२) इति प्रथयति। प्रोहामि (य० २।१५) प्रोहति।

और भी मन्त्र ब्राह्मणवचन द्वारा रूपसंपन्न किये जाते हैं। जैसे—‘उरु प्रथस्व’ इस वेदवचन के साथ ब्राह्मण वाक्य ने ‘इति प्रथयति’ लिखकर इसको कार्य्य का रूप दिया। इसी प्रकार ‘प्रोहामि’ को भी ‘इति प्रोहति’ ने कार्य्यक्षम बनाया है।

३. अथाप्यनुपपन्नार्था भवन्ति ओषधे त्रायस्वैनम् (य० ४.१) स्वधिते मैन० हि०सीः (य० ४.१) इत्याह हिंसन्।

मन्त्र अयुक्त अर्थ वाले भी होते हैं, जैसे ‘ओषधे.....’ [हे ओषधे, इसकी रक्षा कर] और ‘स्वधिते.....’ [हे छुरे, इसे मत काट], यह वचन काटते समय बोलता है।

कौत्स का अभिप्राय यह है कि मुण्डनसंस्कार में बालों में कुश बांध कर छुरे से बाल काटते समय यह वचन बोले जाते हैं। मन्त्रों का तात्पर्य्य न काटने में है, किन्तु क्रियानुष्ठाता इन मन्त्रों को बोलकर काटने का काम करता है, अतः यह अयुक्त है, और इसी हेतु मन्त्र अर्थहीन हैं।

४. अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति—एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः ‘असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्’ ‘अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे’ ‘शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः। इति

मन्त्रों में परस्पर विरोध भी है जैसे एक स्थान में ‘एक ही रुद्र है—’ और दूसरे स्थान पर (य० १६.५४) ‘असंख्याता—’ [पृथिवी पर असंख्यात रुद्र हैं] कहा गया है। एक स्थान पर (ऋ० १०.१३३.२) में ‘अशत्रु—’ (इन्द्र शत्रुरहित है) कहा गया है। उसके विपरीत दूसरे स्थान (ऋ० १०.१०३.१) में ‘शतं सेना—’ [इन्द्र ने एक साथ सैकड़ों सेनाएँ जीतीं] कहा गया है।

१. अथाप्याह-अदितिः सर्वमिति । अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम् (१।८६ १०) इति ।.....

और अदिति को सब कुछ कह दिया है जैसे—अदिति.....अदिति औ है, अदिति अन्तरिक्ष है... ।

अर्थात् कोई भी एक वस्तु सब कुछ नहीं हो सकती । चूँकि वेद में अदिति को सब कुछ कहा गया है, अतः वेद निरर्थक हैं ।

६. अथापि अविस्पष्टार्था भवन्ति । अम्यक्, (ऋ० १।१६।२) यादृ-
श्मिन् (ऋ० ५।४४.८) जारयायि (ऋ० ६।१२।४) काणुका (ऋ० ८।७७।४) इति
(निरु० १।१५) । और मन्त्र अस्पष्ट अर्थों वाले भी होते हैं, जैसे—

अम्यक्, यादृश्मिन्, जारयायि, काणुका ॥

निरुक्त १.१५ में कौत्स की यह युक्तियाँ उल्लिखित हुई हैं । निरुक्त १.१६ में इन आक्षेपों का समाधान है । लीजिए—

अर्थवन्तः शब्दसामान्यात् । 'एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म-
क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति' इति च ब्राह्मणम् । क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः ।

(ऋ० १०.८५.४२) ।

शब्द होने के कारण मन्त्र सार्थक हैं । ब्राह्मण में भी कहा है—कि यज्ञ की यह समृद्धि है, जिस कर्म को ऋग् या यजुः करने को कहता है, ब्राह्मण उसी का विधान करता है । 'पोतों नातियों से खेलते हुए—'

निरुक्तकार का आशय है कि जैसे लौकिकभाषा में अर्थबोध कराने के लिए शब्दों का प्रयोग किया जाता है, वेद में भी उसी उद्देश्य से शब्द प्रयुक्त हैं । अतः यदि लौकिक शब्द सार्थक हैं, तो वैदिक शब्द भी सार्थक हैं । मीमांसकों के सिद्धान्तानुसार 'य एव लोके शब्दास्त एव वदे' जो शब्द लोक में हैं, वह वेद में हैं, वैदिक शब्द निरर्थक नहीं हो सकते । इसी प्रसंग में निरुक्तकार ने एक मन्त्रखण्ड का उल्लेख भी कर दिया है कि 'पोतों नातियों से खेलते हुए—'

१. यथा व एतत् 'नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति' इति ।
लौकिकेष्वप्येतत् । यथा इन्द्राग्नी, पितापुत्रौ, इति ।

यह तो आक्षेप किया जाता है कि वचनविन्यास और आनुपूर्वी=क्रम इन का नियत है । लौकिक वाक्यों में भी ऐसा ही होता है यथा इन्द्राग्नी और पितापुत्रौ

निरुक्तकार कहना चाहते हैं कि नियतवाचोयुक्ति और नियतानुपूर्वी के कारण यदि वेदमन्त्र अर्थशून्य हैं, तो तुम्हारी भाषा का क्या बनेगा । जैसे 'इन्द्राग्नी' [इन्द्र और अग्नि] शब्द का प्रयोग होता है, 'अग्नीन्द्रौ' का नहीं । इसी प्रकार 'पितापुत्रौ' का प्रयोग होता है 'पुत्रपितरौ' का नहीं । अतः मन्त्रों को निरर्थक सिद्ध करने के लिए यह युक्ति बेकार है ।

२. यथा उ एतत्—'ब्राह्मणेन रूपसंपन्ना विधीयन्ते' इति, उदितानुवादः स भवति ।

यह जो आक्षेप है कि 'मन्त्र ब्राह्मणवचन द्वारा रूपसंपन्न किये जाते हैं।' यह तो कहे हुए को फिर कहना है ।

अर्थात् 'उरु प्रथस्व' इति प्रथयति' में उरु प्रथस्व वेद-वचन में जिस तत्त्व का प्रतिपादन है उस तत्त्व को समझाने के लिये 'इति प्रथयति' वचन का ब्राह्मणकार ने प्रयोग किया है । तात्पर्य यह है कि 'उरु प्रथस्व' वचन पढ़ कर पुरोडाश को फैलाना चाहिये । ब्राह्मणवचन 'इति प्रथयति' उरु प्रथस्व वेदवचनका अनुवादमात्र है

अर्थात्—ब्राह्मणवचन में कोई ऐसी बात नहीं कही गई, जो वेदवचन में नहीं है । अतः यह 'ब्राह्मणेन—'युक्तिभी मंत्रों की निरर्थकता की साधिका नहीं हो सकती ।

३. यथा उ एतत्—'अनुपपन्नार्था भवन्ति' इत्याग्नयवचनादहिंसा प्रतीयते ।

यह जो आक्षेप है कि 'अयुक्त अर्थवाले होते हैं' । वेदवचन से अहिंसा प्रतीत होती है ।

निरुक्तकार ने इस आक्षेप का अत्यन्त संक्षिप्त उत्तर दिया है । उसके कहने का तात्पर्य यह है कि आक्षेपकर्ता कुछ सोच-समझ कर आक्षेप नहीं करता । नापित के हाथ में छुरा देते हुए बालक का पिता कहता है :—

'स्वधिते, मैनं हिंसीः'

आक्षेप करनेवाला समझता है कि यह वाक्य 'छुरे' को संबोधन करके कहा गया है । वह भूल जाता है, कि शब्दों के मुख्य और गौण दो प्रकार से अर्थ होते हैं । न्याय-दर्शनभाष्य के छल-निरूपण प्रसङ्ग में इस बात को उदाहरण देकर समझाया गया है । एक ने कहा 'मश्चाः क्रोशन्ति' = मचान चित्लाते हैं । छलवादी कहता है—मचान जड़ हैं, मचान कैसे चित्लाते हैं ? उसको वादी ने बताया कि संसार में गौणी-वृत्ति से भी शब्दों का प्रयोग होता है । यहाँ भी गौणी-वृत्ति से प्रयोग हुआ है । मश्च=मचान का अर्थ है 'मचान पर बैठा हुआ पुरुष' । इसी प्रकार यहाँ भी स्वधिति=छुरे का अर्थ है 'छुरेवाला नाई' । नाई को यह कहना—'कि देखना कहीं काट न देना ।' कितना प्रासाङ्गिक और युक्तिसङ्गत है । स्पष्ट अहिंसा के लिये आदेश है ।

४. यथा उ एतत्—'विप्रातीषिद्धार्था भवन्ति' इति, लौकिकेष्वप्येतत् । यथा अस-
पत्नोऽयं ब्राह्मणः, अनमित्रोऽयं राजा, इति ।

यह जो आक्षेप है कि 'मन्त्रों में परस्पर विरोध है।' लौकिक वाक्यों में भी ऐसा होता है । जैसे 'असपत्नो—'यह ब्राह्मण शत्रुरहित है, यह राजा शत्रुरहित है ।

अर्थात् जो समाधान तुम दोगे, वही हमारा है । तुम्हें तो समाधान करना कठिन है । हम तो यौगिकवादी हैं । हमारे मत में वेद के शब्द यौगिक या योगरूढ़ हैं । इस नियम से रुद्र का अर्थात् परमात्मा, वैद्य, रोगों के कीटाणु, सेनापति आदि अनेक हैं । इसी प्रकार इन्द्र-शब्द भी अनेक अर्थों में है । सूर्य, जीव, परमेश्वर,

बिजली, राजा, सेनापति, ज्ञानी, भूचाल लानेवाली अग्नि आदि अनेक अर्थों में वेद इन्द्र-शब्द का व्यवहार करता है। रुद्र शब्द का 'परमेश्वर' अर्थ जब है, तब सचमुच रुद्र परमेश्वर एक है। जब रुद्र-शब्द रोगों के कीटाणुओं के लिये प्रयुक्त होता है, तब पृथिवी पर असंख्य रुद्रों का होना स्वीकार करना अनिवार्य है। इसी प्रकार इन्द्र-शब्द के विषय में समझ लीजिये। अर्थात् वेद में परस्पर विरोध का लवलेश भी नहीं है।

४. यथा उ एतत्—'अदितिः सर्वम्' इति। लौकिकेष्वप्येतत्। 'यथा सर्वरसा अनु-प्राप्ताः पानीयम्' इति।

यह जो आक्षेप है कि 'अदिति सब कुछ है' लौकिक-वाक्यों में भी ऐसा होता है। 'यथा सर्वरसा—' [जल में सब रस प्राप्त हैं।]

जल में सभी स्वाद तो होते नहीं, जल का अपना स्वाद मधुर है, किन्तु भिन्न भिन्न रसों के संस्पर्श से जल में वे वे रस आ ही जाते हैं। इसी प्रकार अदिति-अखण्ड-शक्ति ही सब पदार्थों का धारण और अनुप्राप्त कर रही है। इस के कहने में दोष ही क्या है? यह तो वर्णन करने की एक शैली है।

६. यथा उ एतत्—'अविस्पष्टार्था भवन्ति' इति नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति पुरुषापराधः स भवति। यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति ॥

यह जो आक्षेप है कि 'मंत्र अस्पष्ट अर्थोंवाले भी होते हैं'। यह स्थाणु=खंभे=दूँठ का अपराध नहीं जो उसे अन्धा मनुष्य नहीं देखता, यह तो मनुष्य ही का अपराध है। देहात में थोड़ी विद्या से भी पुरुषविशेष माना जाता है, किन्तु पारावारीण विद्वानों में तो महाविद्वान् ही प्रशंसा पाता है।

निरुक्तकार का कहना है, पण्डित जी !, आप ने वेदाभ्यास यथायोग्य किया नहीं, यदि कुछ शब्दों का अर्थ आपकी समझ में नहीं आया, तो इसमें वेद का क्या दोष? आपने उन शब्दों का अर्थ जानने का पर्याप्त परिश्रम किया ही नहीं। अपना दोष वेद के मध्ये मढ़ने की कृपा मत कीजिये। भले ही ग्रामीण-लोगों में आप अपने को पण्डित प्रसिद्ध कर सकें। अनपढ़ों में कुछ अक्षरों का जानने वाला अपनी धाक जमा लेता है किन्तु विद्वान् तो उसी का मान करेंगे, जो विशेषज्ञ हो। आपने निरुक्तव्याकरणादि का पूरा परिशीलन नहीं किया, अतः यदि आप को कुछ शब्दों का अर्थ-मान न हाँ, तो कोई आश्चर्य नहीं, जिन्होंने वेद-वेदांग का पूरा अभ्यास किया है, उनके लिये वेद का कोई भी शब्द अस्पष्ट नहीं है। अतः यदि वेदार्थ जानना है, तो वेदज्ञान की आवश्यक सामग्री का संकलन करो।

इस प्रकार निरुक्तकार श्री यास्क जी ने कौत्स के आक्षेपों का समाधान किया है। निरुक्तकार अपने ग्रंथों में वेदों को अनेक विद्याओं का आकर सिद्ध करता है।

अष्टमः पाठः

अब उकारान्त 'क्रतु' शब्द के रूप और उदाहरण दिखाते हैं :—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
१.	क्रतुः	क्रतू	क्रतवः
सं०	क्रतो	"	"
२.	क्रतुम्	"	"
३.	क्रतुना, क्रत्वा	क्रतुम्याम्	क्रतून्
४.	क्रतवे, क्रत्वे	"	क्रतुभिः
५.	क्रतोः क्रत्वः	"	क्रतुभ्यः
६.	" "	क्रत्वोः	"
७.	क्रतौ	"	क्रतूनाम् क्रतुषु

लौकिक-भाषा और वेदकी भाषा में इस शब्द के रूपों में थोड़ा सा भेद है। तृतीया और चतुर्थी विभक्ति के एकवचन के रूप लौकिक-भाषा में 'क्रतुना' और 'क्रतवे' ही बनते हैं। वेद में 'क्रत्वा' और 'क्रत्वे' रूप भी मिलते हैं। इसी प्रकार पंचमी और षष्ठी विभक्ति के एकवचन में 'क्रत्वः' भी बनता है। उदाहरण-मन्त्र देने से पूर्व 'क्रतु' शब्द के अर्थों पर थोड़ा सा प्रकाश डालना आवश्यक है। 'कृ (ङु-कृ-ञ्) धातु से उणादि 'क्रतुः' (उ० १।७७) प्रत्यय लगाने से 'क्रतु' शब्द बनता है। आयास्काचार्य जी ने अपने निघण्टु-ग्रंथ में इस शब्द को कर्मनामों (निघ० २।१) और प्रज्ञानामों (निघ० ३।६) में पढ़ा है। अर्थात् निघण्टु के अनुसार 'क्रतु' शब्द के अर्थ कर्म और ज्ञान हैं। यास्काचार्य जी ने निरुक्त (१०।१०) में 'क्रतुना कर्मणा' और निरुक्त (११।२७) में 'क्रत्वे अपत्याय' लिखा है। अर्थात् निरुक्त में कर्म और सन्तान अर्थ माने गये हैं। ब्राह्मणग्रंथों में इस शब्द के निम्न-लिखित अर्थ लिखे हैं।

१. क्रतुर्मनोजवः (श० ३।३।४।७) मन का वेग क्रतु है।
२. मित्र एव क्रतुः (श० ४।१।४।१) सूर्य ही क्रतु है।
३. ऐ० ब्रा० १।१३ के अनुसार इसका अर्थ 'वीर्य' भी है।

सारांश यह है कि निरुक्त और ब्राह्मण ग्रंथों के अनुसार 'क्रतु' शब्द के अर्थ 'कर्म, प्रज्ञा, मनोवेग, सूर्य और वीर्य' हैं। वेद भाष्यकारों ने 'कर्म-साधन, सब जगत् का कर्ता, उत्तम-कर्मों और बुद्धि वाला, बुद्धिमान्, यज्ञ, प्रज्ञापक, प्रज्ञा का साधन, प्रजा, पुरुषार्थ, और जीव' लिखे हैं। वेदाभ्यास करते समय इन अर्थों को सदा लक्ष्य में रखते हुए प्रकरणानुसार इनका उपयोग करना चाहिये। अस्तु। अब इसके जिन रूपों के उदाहरण वेद में मिलते हैं, वे अर्थसहित उद्धृत किए जाते हैं।

१. इन्द्रः सहस्रदानां वरुणः शंस्यानाम्। क्रतुर्मवत्युक्थ्यः॥ (ऋ० १।१७।५)

(इन्द्रः) इन्द्र=विद्युत् अथवा सूर्य (सहस्रदानां) असंख्यों के देने

वालों में और (वरुणः) जल अथवा वायु (शंस्यानाम्) स्तुतियोग्य पदार्थों में (उक्थ्यः) प्रशंसा के योग्य, विद्यासाधक (क्रतुः) कार्यसाधक (भवति) है

सचमुच भौतिक-पदार्थों में सूर्य से बढ़ कर कोई भी दाता नहीं है, इस प्रकार जल और वायु भी जीवन के उत्तम हेतु हैं, अतएव जीवन-कार्य के यह सर्वश्रेष्ठ साधक हैं ।

२. यस्ते साधिष्ठोऽवस इन्द्र क्रतुष्टमाभर ।

अस्मभ्यं चर्षणीसहं सस्निं वाजेषु दुष्टरम् ॥ (ऋ० ५।३५।१)

हे (इन्द्र) इन्द्र=राजन् ! (यः) जो (ते) तेरा (अवसे) रक्षादि के लिये (साधिष्ठः) सबसे उत्तम (क्रतुः) ज्ञान अथवा कर्म है । (तम्) उस (चर्षणीसहम्) मनुष्यों के सहन करने योग्य (सस्निम्) अत्यन्त शुद्ध और (वाजेषु) संग्रामों में (दुष्टरम्=दुस्तरम्) दुर्लब्ध [ज्ञान, कर्म] को (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (आ+भर) सब प्रकार धारण कर ।

राजा का कर्तव्य है कि प्रजा में सदा इस प्रकार के ज्ञानकर्म का प्रचार प्रसार किया करे, जो अत्यन्त उत्तम और शुद्ध हो, और जिसके द्वारा जीवन-संग्राम में कभी पराजय न हो ।

३. अप्रक्षितं वसु विभर्षि हस्तयोरषाढं सहस्तन्वि श्रुतो दधे ।

आवृतासोऽवतासो न कर्तुमिस्तनूषु ते क्रतव इन्द्र भूरयः ॥ ऋ० १ ५५।८

हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! तू (श्रुतः) प्रसिद्ध है । तू (हस्तयोः) दोनों हाथों में (अप्रक्षितम्) अखुट (वसु) धन (विभर्षि) धारण करता है [और] (तन्वि) शरीर में (अषाढम्) असह्य, शत्रु से न सहा जा सकने वाला (सहः) बल [धारण करता है] । (आवृतासः) खुले, प्रकट (अवतासः) रक्षकों के (न) समान (ते) तेरे (भूरयः) बहुत (क्रतवः) कर्म, ज्ञान (कर्तुभिः) कर्मशीलों से (तनूषु) शरीरों में [धारण किए जाते हैं] । उनको [दधे] मैं धारण करता हूँ ।

राजा के पास अतुल-धन-सम्पत्ति एवं विशाल बल चाहिए । उसके रक्षो-पाय सब पर प्रकट हों, जिस से पुरुषार्थी लोग निष्कण्टक होकर ज्ञान-कर्म का अर्जन और विस्तार कर सकें ।

४. आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः ।

देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे-दिवे ॥

ऋ० १।८६।१

(विश्वतः) सब प्रकार से (अदब्धासः) अहिंसनीय, (अपरीतासः) अवर्जनीय= न त्यागने योग्य (उद्भिदः) उत्तमरीति से दुःख-विदारक (भद्राः) भले (क्रतवः) कर्म और ज्ञान (असन्नप्रायुवो) हमें [इस प्रकार] (आ+यन्तु) प्राप्त हों

(यथा) जिससे (देवाः) विद्वान्, उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव वाले महात्मा (सदम्+इत) सदा ही (नः) हमारी (वृधे) वृद्धि के लिए (असन्) हों [और] वे (अप्रायुवः) अप्रक्षीण आयु वाले अथवा अप्रमादी (दिवे+दिवे) प्रतिदिन (रक्षितारः) रक्षा करने वाले हों ।

मनुष्य को ऐसे कर्म करने चाहिए, जो किसी से भी वर्जनीय न हों, ऐसे कर्म करने वाला किसी से भी दबता नहीं, और विद्वान् लोग-सदा ऐसे शुभ कर्म-कारी की वृद्धि और रक्षा करते हैं ।

५. ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा । क्रतुं बृहन्तमाशाथे ॥ ऋ०१।२।८
(ऋतावृधौ) ऋत से बढ़ने वाले, या ऋत को बढ़ाने वाले, (ऋतस्पृशा) ऋत के स्पर्श कराने वाले, प्राप्त कराने वाले (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण (ऋतेन) ऋत के द्वारा (वृहन्तम्) बहुत बड़े (क्रतुम्) क्रतु को, यज्ञ को (आशाथे) व्याप्त करते हैं ।

इस मन्त्र का तात्पर्य समझने के लिए सब से पूर्व इस तत्त्व की दृढ़ धारणा कर लेना चाहिए कि मन्त्रों की अर्थयोजना कई प्रकार से हुआ करती है । जैसा कि तौत्तरीयोपनिषत् की शिक्षावली (३.१) में लिखा है—

अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः । पञ्चस्वधिकरणेषु—अधिलोकम्, अधिज्यौतिषम्, अधिविद्यम्, अधिप्रजम्, अध्यात्मम् ॥

अर्थात् अब यहाँ से संहिता=वेद का रहस्य बताएंगे, वह पांच अधिकरणों में होता है—(क) अधिलोक=पृथिवी आदि लोकों की दृष्टि से, (ख) अधिज्यौतिषम्=सूर्यचन्द्रादि ज्योतिर्मय प्रकाशपिण्डों की दृष्टि से, (ग) अधिविद्य=चौदह अथवा अठारह विद्याओं के विचार से वा चौंसठ कलाओं की कलना से, (घ) अधिप्रज=प्रजननशास्त्र की मर्यादा से और (ङ) अध्यात्म=आध्यात्मिक भाव से ।

दूसरे ऋषि इन पांच अधिकरणों को आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीनों भावों में अन्तर्भूत करते हैं । तात्पर्य-इतना है कि वेदमन्त्रों के अर्थएक से अधिक प्रकार से होते हैं । अर्थात् एक ही मन्त्र आत्मा परमात्मा का व्याख्यान करता हुआ किंसा दैवी या भौतिक तत्त्व का भी उपदेश कर रहा होता है । इन तत्त्व को सामने रखकर एक ऋषि ने कहा है—अनन्ता वै वेदाः=वेद अनन्त हैं अर्थात् वेदमन्त्रों के अनेक अर्थ होते हैं ।

इस मन्त्र में प्रयुक्त 'ऋत' और 'मित्रावरुणौ' शब्दों का अर्थ भली भाँति जाने बिना इस मन्त्र का अर्थ हृदयङ्गम नहीं हो सकता, अतः इन शब्दों के अर्थों पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है । वैदिककोष निघण्टु में 'ऋत' शब्द जल (१।१२) और सत्य (३।१०) के नामों में पढ़ा गया है । निरुक्त में इसके संबन्ध में निम्नलिखित वचन मिलते हैं—

(क) प्रत्युतं भवति (२।२५) सत्यं योरो से प्राप्त होता है ।

- (ख) ऋतस्य प्रजननयज्ञस्य रेतसो वा (३.४) प्रजनन-यज्ञ अथवा वीर्य का ।
(ग) यज्ञस्य (४.१६) यज्ञ का ।

ब्राह्मण ग्रन्थों में 'ऋत' शब्द के सम्बन्ध में निम्नाङ्कित निर्देश मिलते हैं—

- (क) सत्यं वा ऋतम् (श० ७.३.१.२३) सत्य ही ऋत है ।
(ख) अग्निर्वा ऋतम् (तै० २.१.११.१) अग्नि ही ऋत है ।
(ग) चक्षुर्वा ऋतम् (पे० २.४०) आँख ही ऋत है ।
(घ) मनो वा ऋतम् (जै० उ० ३.३६.५) मन ही ऋत है ।
(ङ) ब्रह्म वा ऋतम् (श० ४.१.४.१०) ब्रह्म ही ऋत है ।
(च) ओमित्येतदेवाक्षरमृतम् (जै० उ० ३.३६.५) 'ओम्' यह अक्षर ही ऋत है ।

'ऋत' शब्द का मूल धातु 'ऋ' है। इसका अर्थ 'गति' है। 'गति' के तीन अर्थ होते हैं—१. ज्ञान २. गमन और ३. प्राप्ति। अर्थात् जानना, जनाना, पहचानना, पहचनवाना, जाना, भेजना, पहुँचना, पहुँचाना, प्राप्त करना, प्राप्त कराना आदि भावों में से कोई भी जहाँ हो, वह 'ऋत' कहलाएगा। इस सिद्धान्त को सामने रखकर वैदिक महर्षियों ने ब्रह्म, सत्य, यज्ञ, सत्यविज्ञान, सत्यकारण, वेद, सृष्टिक्रम, प्रत्यक्षदि प्रमाण, आप्ताचरण की पवित्रता के अनुकूल, जल, प्राप्त करने योग्य, सत्य-धर्म, सब विद्याओं का आधार वेद, सत्यमानिता, काल, सूर्य, वायु, परमाणु, पुरुषार्थ आदि अर्थ लिखे हैं। कदाचित् इन्हीं भावों को समक्ष रखकर ताण्ड्यमहाब्राह्मण (१८.२.६) में 'ऋतेनैवैनं स्वर्गं गमयन्ति।' ऋत के द्वारा ही यजमान को स्वर्ग प्राप्त कराते हैं।

'मित्रावरुणौ' पद 'मित्र' और 'वरुण' दो शब्दों का समस्त रूप है। 'मित्र' शब्द के सम्बन्ध में ब्राह्मणग्रन्थों में निम्नाङ्कित लेख मिलते हैं—

- (क) मित्र ! सत्यानामाधिपते (तै० ३.११.४.१) हे मित्र, सच्चों के स्वामिन् ।
(ख) ब्रह्मैव मित्रः (श० ४.१.४.१) ब्रह्म ही मित्र है ।
(ग) मित्रः क्षत्रं क्षत्रपतिः (श० ११.४.३.११) क्षत्र=क्षत्रियशक्ति तथा क्षत्रपति मित्र है ।
(घ) प्राणो वै मित्रः (श० ६.५.१.५) प्राण ही मित्र है ।
(ङ) अयं वै वायुर्मित्रः (श० ६.५.७.१४) यह वायु ही मित्र है ।
(च) अहर्मित्रः (तां २५.१०.११) दिन मित्र है ।
(छ) य (अर्धमासः) आपूर्यते स मित्रः (तां २५.१०.१०) शुक्लपक्ष मित्र है ।
(ज) यः (अर्धमासः) अपक्षीयते स मित्रः (श० २.४.४.१८) कृष्णपक्ष मित्र है ।
(झ) सर्वस्य ह्येव मित्रो मित्रम् (श० ५.३.२.७) मित्र सब का स्नेही है ।

ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार 'मित्र' शब्द के अर्थ हुए—सत्यस्वामी, ब्रह्म, क्षत्रिय-शक्ति, क्षत्रपति=राजा, प्राण, वायु, दिन, शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष, सर्वस्नेही ।

यास्काचार्य ने निरुक्ति (१०.२२) में मित्र शब्द की निरुक्ति इस प्रकार लिखी है—

मित्रः प्रमीतेज्ञायते । संमिन्वानो द्रवतीति वा । मेदयतेर्वा ।

अर्थात् मित्र मृत्यु से रक्षा करना है । सब ओर से वृष्टि गिराता हुआ दौड़ता है । अथवा 'मिद्' धातु से यह शब्द सिद्ध होता है ।

महामुनि यास्क यह कहना चाहते हैं कि 'मित्र' शब्द केवल 'जिमिदा (मिद्) स्नेहने' [गंला करना, चिकना करना, प्रीति करना] धातु से नहीं बनता, वरन् 'मीत' पूर्वक त्रा [रक्षा करना] और 'मित' पूर्वक हु [जाना, भेजना, भागना, भगाना] धातुओं से भी सिद्ध हो सकता है । अर्थात् मित्र शब्द में रक्षण, स्नेहन [गंला करना, चिकना करना, प्रीति करना] और द्रवण [जाना, भेजना, भागना, भगाना] भाव हैं । सुतरां मित्र शब्द के उपरिलिखित अर्थ इन भावों के द्योतक हैं । ऋग्वेद के तीसरे मण्डल के ५६ सूक्त में 'मित्र' शब्द के इन भावों का निर्देश मिलता है ।

अब 'वरुण' शब्द के अर्थों को भी जान लेना चाहिये । ब्राह्मणग्रन्थों में इसके संबन्ध में जो कुछ लिखा है, उस में से थोड़ा सा यहां उद्धृत करते हैं ।
यथा—

- (क) वरुण ! धर्माणां पते । (तै० ३.११.४.१) हे वरुण ! धर्मपते !
- (ख) वरुणोऽन्नपतिः श० (११.७.३.२०) वरुण अन्नपति है ।
- (ग) वरुणः सम्राट् सम्राट्पतिः (तै० २.५.१.३.) वरुण सम्राटों का सम्राट् है ।
- (घ) इन्द्र उ वै वरुणः (कौ० ५.४) इन्द्र ही वरुण है ।
- (ङ) क्षत्रं वरुणः (श० ४.१.४.१) क्षत्रियशक्ति वरुण है ।
- (च) संवत्सरो वरुणः (श० ४.४.५.१८) संवत्सर वरुण है ।
- (छ) योनिरेव वरुणः (श० १२.६.१.१७) योनि=स्थान ही वरुण है ।
- (ज) व्यानो वरुणः (श० १२.६.१.१६) व्यान वरुण है ।
- (झ) अपानो वरुणः (श० १२.६.२.१२) अपान वरुण है ।
- (ञ) श्रीवै वरुणः (कौ० १८.६) श्री ही वरुण है ।
- (ट) क्लोमा वरुणः (श० १२.६.१.१५) क्लोमा वरुण है ।
- (ठ) रात्रिर्वरुणः (श० १३.३.६.५) रात्रि वरुण है ।
- (ड) स वा एषः अपः प्रविश्य वरुणो भवति (कौ० १८.६) जल में प्रवेश करके सूर्य वरुण होता है ।
- (ढ) अप्सु वै वरुणः (तै० १.६.५.६.) जलों में ही वरुण है ।
- (ण) वरुणो वै देवानां राजा (श० १२.८.३.१०) वरुण ही देवों का राजा, प्रकाशक है ।
- (त) यच्च वृत्वातिष्ठंत्तद्वरुणोऽभवत्तं वा एतं वरुणं वृत्तं वरुण इत्याचक्षते परोक्षेण

(गो० पू० १.७) जल घेरा डाल कर ठहर गया, वही वरुण हुआ, वरुण को ही परोक्षवृत्ति से वरुण कहते हैं।

संक्षेप में ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार वरुण शब्द 'धर्मपति, अन्नपति, सम्राटों का सम्राट्, सत्रियशक्ति इन्द्र, संवत्सर, योनि, व्यान, अपान, श्री, क्लेमा, रात्रि, जलगत सूर्य, और देवों का राजा या प्रकाशक' आदि अर्थों का वाची है। वरुण का ठिकाना जल है। मूलार्थ इसका वरुण=घेरना है। निरुक्तकार ने भी (१०.३) 'वरुणः वृणोति इति सतः' लिखा है। अर्थात् 'वरुण' शब्द 'वृ' धातु से बनता है। 'वृ' धातु का अर्थ घेरना, स्वीकार करना, चुनना आदि है।

इन भावों को लक्ष्य में रखकर भाष्यकारों ने 'जल, वायु, सूर्य, अन्दर बाहर का वायु, श्रेष्ठतम, शत्रुओं का बांधने वाला, जीव, परमेश्वर, अपान, पुरुषार्थ, मेघ, उदान, विद्युत्, अग्नि आदि अर्थ स्वीकार किए हैं।

'मित्रावरुणौ' इस समस्त पद के निम्नलिखित अर्थ दिए हैं —

- (क) प्राणापानौ मित्रावरुणौ (ता० ६.१०.५) प्राण और अपान मित्र और वरुण हैं।
- (ख) प्राणोदानौ मित्रावरुणौ (श० १.८.३.१२) प्राण और उदान मित्र और वरुण हैं।
- (ग) अहोरात्रौ वै मित्रावरुणौ (ता० २५.१०.१०) दिन रात मित्रावरुण हैं।
- (घ) बाहू वै मित्रावरुणौ (श० ५.४.१.३५) भुजाएं मित्रावरुण हैं।

अर्थ तो और भी हैं, किन्तु मुख्य यही हैं। 'मित्रावरुण' का ठिकाना 'द्यावापृथिवी' बताया गया है, 'द्यावापृथिवी वै मित्रावरुणयाः प्रियं धाम' (ता० १४.४.३) द्यौलोक और पृथिवी मित्रावरुण का प्यारा ठिकाना है।

इन सब निर्देशों को लक्ष्य करके अर्थ किए जाएं, तो इस एक मन्त्र के अर्थों की ही एक पोथी बन सकती है। अतः हम यहां केवल दो ही अर्थ देंगे, आध्यात्मिक पक्ष में—१. (ऋतावृधौ) ऋत=यज्ञ, शुभ कर्म को बढ़ाने वाले, (ऋतस्पृशा) ऋत का ज्ञान कराने वाले (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण=परमात्मा और जीवात्मा (ऋतेन) ऋत के द्वारा, सृष्टि नियम के द्वारा (बृहन्तं) बहुत बड़े (ऋतुम्) कर्म, सृष्टि कर्म को (आशाथे) व्याप रहे हैं।

परमेश्वर सृष्टिनियम का विधाना है, अतः वह सृष्टि नियम के द्वारा सृष्टि की रचना, पालना आदि महत्कर्म को कर रहा है। जीव जब सृष्टि नियम के अनुसार आचरण करता है, तो महत्त्वशाली बनता है।

२. (ऋतावृधौ) ऋत से बढ़ने वाले (ऋतस्पृशा) ऋत का ज्ञान कराने वाले (मित्रावरुणौ) प्राण और अपान (ऋतेन) यथार्थता से (बृहन्तम्) बहुत बड़े (ऋतुम्) जीवनरूप यज्ञ को (आशाथे) व्याप रहे हैं।

प्राणिमात्र का जीवन प्राण और अपान का खेल है। प्राण या अपान के कुपित होने से जीवन संकट में पड़ जाता है, नाना रोग उत्पन्न होने लगते हैं।

इसी प्रकार मित्र और वरुण का अर्थ आग और पानी भी है। इस सृष्टि में इन दो तत्त्वों की प्रधानता है, अतः यह दोनों सृष्टिकर्त्री ऋतु में व्याप रहे हैं।

मित्रावरुण=दिन और रात्रि संवत्सर चक्र को चला रहे हैं।

मित्र=Oxygen ओषजन-आक्सीजन, वरुण=Hydrogen=आर्द्रजन, हाइड्रोजन-यह दो तत्त्व मित्र और वरुण मिलकर जल की, जो संसार का जीवन है, रचना करते हैं।

इस प्रकार विचारने से वेदमन्त्रों की गंभीरता, अनेकार्थता का स्पष्ट भान होता है।

६. यस्मादिन्द्राद् बृहतः किञ्चनेमृते विश्वान्यस्मिन्संभृताधि वीर्या।

जठरे सोमं तन्वी सहो महो हस्ते वज्रं भरति शीर्षणि क्रतुम् ॥

(यस्मात्) जिस (बृहतः) महान् (इन्द्रात्) इन्द्रसे (क्रते) विन्ना (कि+चन) कुछ (ईम्) भी [महान् नहीं] ! (अस्मिन्+अधि) इसमें (विश्वानि) सब (वीर्या) शक्तियाँ, शत्रु को दूर करने के सामर्थ्य (संभृता) धारित हैं [और जो] (जठरे) पेट में (सोमम्, शान्तिदायक अन्नको, (तन्वी=तन्वि) शरीर में (महः) महान् (सहः) सहन सामर्थ्य, बल, शत्रुमर्षणशक्ति, (हस्ते) हाथ में (वज्रम्) वज्र को और (शीर्षणि) सिर में (क्रतुम्) बुद्धि को, ज्ञान को (भरति) धारण करता है।

मनुष्य के शरीर में समस्त शक्ति इन्द्र=विद्युत्, आत्मा एवं परमात्मा के कारण हैं।

७. नृबाहुभ्यां चोदितो धारया सुतोऽनुष्वधं पवते सोम इन्द्र ते।

आप्राः क्रतून्समजैरध्वरे मतीर्वेनेद्रुषच्चस्वोरासदद्धरिः ॥ ऋ० ६.७२.५
हे (इन्द्र) इन्द्र ! (नृबाहुभ्याम्) मनुष्यों की भुजाओं से (चोदितः) प्रेरित और (धारया) धारा से (सुतः) बढ़ाया हुआ (सोमः) सोम (ते) तेरे (अनुष्वधम्) सामर्थ्यानुसार (पवते) पवित्र करता है। तुने (अध्वरे) यज्ञ में (समजैः) उत्तम प्रेरणाओं के द्वारा (क्रतून्) कर्मों को और (मतीः) ज्ञानों को (आप्राः) पूर्ण किया है। (द्रुषत्) वृक्ष पर बैठे (वेः) पक्षी की (न) भाँति (हरिः) सोम (चस्वोः) दो पान पात्रों में=ज्ञान-कर्म रूपी दो पात्रों में (आसदत्) स्थित है।

सोम=अमृत—आनन्दामृत पुरुषार्थ से साधित होता है। उत्तम प्रेरणाओं से प्रेरित होकर ज्ञान और कर्मानुष्ठान द्वारा इस सोम का रक्षण होता है।

८. साकं हि शुचिना शुचिः प्रशास्ता क्रतुनाजनि।

विद्वाँ अस्य व्रता ध्रुवा वया इवानु रोहते ॥ ऋ० २.५.४

(विद्वान्) विद्वान्=ज्ञानी (शुचिना) पवित्र (क्रतुना) क्रतु=यज्ञ, ज्ञान-कर्म के (साकम्) साथ (शुचिः) पवित्र (प्रशास्ता) प्रशासन करने अथवा उपदेश करने वाला (अजनि) हाता है। (अस्य) इसके (ध्रुवा) निश्चल (व्रता)

नियमों को, प्रतों को (वया इव) शाखाओं की भांति (अनु+रोहते) अनु-
कूलता से आरूढ़ होता है।

जो सदाचारी पवित्र महात्माओं की संगति करते हैं, उनमें विद्या तथा पवित्रता
का भी संचार होता है। जिस प्रकार शाखाएं वृक्ष पर आरूढ़ होती हैं, उसी
प्रकार ऐसे महापुरुष प्रभु के अटल नियमों पर आरूढ़ रहते हैं।

६. यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।

यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्यस्य महा स जनास इन्द्रः ॥

ऋ २.१२.१

(यः) जो (प्रथमः) मुख्य (मनस्वान्) मनवाला, मननशील, ज्ञानवान्
(देवः) देव (जातः) प्रकट होते (एव) ही (क्रतुना) ज्ञान-कर्म से (देवान्)
देवों को (परि-अभूषत्) सब तरह से सजाता है। (यस्य) जिसके (शुष्मात्)
बल से और (नृम्य-न्य) पेश्वर्य की (महा) महिमा से (रोदसी) द्यौ और
पृथिवी (अभि-असेताम्) फँके हुए हैं, अथवा डरते हैं। हे (जनासः)
लोगो! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र है।

ऋग्वेद के दूसरे मण्डल के १२ वें सूक्त में 'इन्द्र' के अर्थ वर्णन किए गए
हैं। वेदाभ्यासियों को उस सूक्त का अवश्य मनन करना चाहिए। यह मन्त्र
उस सूक्त का दूसरा है। यह मन्त्र परमात्मा, आत्मा तथा सूर्य तीनों पर
समान रूप से लगता है। सूर्य के प्रकट होने पर ही जगत् के अन्य पदार्थ
प्रकाशित और भासित होते हैं। सूर्य के बल से ही पृथिवी आदि लोक विभक्त
हो कर अपनी-अपनी धुरी पर घूम रहे हैं। 'सूर्य' चूंकि चक्षुः-इन्द्रिय का
सहायक हो कर ज्ञान का साधन बनता है, इस वास्ते उसे 'मनस्वान्' = ज्ञानवान्
कहा गया है। पृथिवी आदि का उसके भय से कांपना उत्प्रेक्षा-मात्र है। इन्द्र का
एक अर्थ 'भूकम्पकारी' शक्ति (इरां दृणाति। नि० इन्द्र पृथिवी को फाड़ता है) है,
उस दृष्टि से पृथिवी का इन्द्र से कांपना भूतार्थवाद = यथार्थवाद है।

जीवात्मा यद्यपि नित्य है, तथापि उसका प्राकट्य शरीर और इन्द्रियों के
संबन्ध से ही होता है। जीव जब शरीर से संबद्ध होता है, तो प्रायः उसको
मन=अन्तःकरण मिलता है। मननशक्ति उस की स्वाभाविकी है, अतः उसे
मनस्वान् कहना अत्यन्त यथार्थ है। जीव की उत्पत्ति का अर्थ जीव का शरीर
के साथ संबद्ध होना है, जैसा कि न्यायदर्शन १.१.१६ के वात्स्यायनभाष्य में
लिखा है—पुनरुत्पत्तिः पुनर्देहादिभिः सम्बन्धः (फिर उत्पत्ति का अर्थ है फिर देहादि
के साथ संबन्ध)। आत्मा के कारण ही इन्द्रियों की चमक-दमक होती है।
आत्मा के कारण ही यह पृथिवी आदि लोक रचे गए हैं। परमात्मपक्ष में तो यह
मन्त्र अत्यन्त स्पष्ट है।

१०. सुप्रवाचनं तव वीर वीर्यं यदेकेन क्रतुना विन्दसे वसु।

जातूष्ठीरस्य प्रवयः सहस्रतो या चकथे सन्द्र विश्वास्युक्थः ॥ २ १३.११

हे (वीर) वीर ! (तव) तेरी (वीर्यम्) वीरता (सुप्रवाचनम्) अत्यन्त प्रशंसनीय है, (यत्) क्योंकि तू (एकेन) एक ही (ऋतुना) कर्म से (वसु) धन (विन्दसे) प्राप्त करता है। यह तुझ (जादृष्टिरस्य) किसी समय स्थिति प्राप्त (सहस्रवतः) बलवान् का (वयः) ज्ञान है (या) जो (विश्वा) सब कार्य (प्र) उत्तम रीति से (चकर्त्त) करता है। हे (इन्द्र) इन्द्र ! (सः) ऐसा तू (उक्थ्यः) प्रशंसनीय (असि) है।

११. देवो नयः सविता सत्यमन्मा ऋत्वा निपाति वृजनानि विश्वा ।
पुरु प्रशस्तो अमतिर्न सत्य आत्मेव शेवो दिधिषाय्योऽभूत् ॥

(देवः) प्रकाशमान, दिव्यगुण (सविता) सूर्य्य की (न) भांति (यः) जो (सत्य-मन्मा) सत्यमानी, सत्योपदेशक विद्वान् (ऋत्वा) ज्ञान, कर्म के द्वारा (विश्वा) सम्पूर्ण (वृजनानि) शक्तियों की (निपाति) नित्य रक्षा करता है। वह (पुरुप्रशस्तः) अनेकों से प्रशंसनीय (अमतिः+न) सुन्दर रूप के समान और (सत्यः) अविनाशी (आत्मा इव) आत्मा के तुल्य (शेवः) सुखदायी, सेवनीय, [और अतपव] (दिधिषाय्यः) धारक-पोषक (अभूत्) होता है

विद्वान् सदा और सर्वत्र आदरणीय होते हैं।

१२. स जायमानः परमे व्योमन्याविरश्मिर्भवन्मातरिश्वने । अस्य ऋत्वा
समिधानस्य मज्मना प्रद्यावा शोचिः पृथिवी अरोचयत् ॥ ऋ १.१४३.२
(परमे) परम (व्योमनि) आकाशमें (जायमानः) उत्पन्न होता हुआ (सः) वह (अग्निः) अग्नि (मातरिश्वने) मातरिश्वा-वायु के लिए (आविः+अभवत्) प्रकट हुआ। (अस्य) इस (समिधानस्य) प्रदीप्त हुए के (शोचिः) प्रकाश ने (ऋत्वा) कर्म से और (मज्मना) बल से (द्यावा+पृथिवी) द्यौ और पृथिवी को (अरोचयत्) प्रकाशित किया।

इस मन्त्र में एक गंभीर वैज्ञानिक-तत्त्व का उपदेश है। अग्नि=सूर्य्यरूप अग्नि जब आकाश में उदय होता है, तो उसका प्रथम प्रभाव वायु पर होता है, उसके कारण वायु में गति होती है। 'मातरिश्वा' का ठीक-ठीक अर्थ वायु नहीं है, वरन् इस अनन्तब्रह्माण्ड में गतिका जो हेतु है, वह मातरिश्वा है। यह अग्नि वा प्रकाश अपनी क्रिया और शक्ति से दोनों लोकों को प्रकाशित करता है। पूर्वार्ध में वेद ने अपनी अपूर्व वर्णन-शैली द्वारा ताप और प्रकाश के वाहक का भी संकेत कर दिया है।

१३. त्वं सोम ऋतुभिः सुक्रतुर्भूस्त्वं दक्षैः सुदक्षो विश्ववेदाः ।

वं वृषा वृषत्तेभिर्महित्वा द्युमेभिर्द्युम्यभवो नृचक्षाः ॥ ऋ १.७१.२

हे (सोम) सोम ! (त्वम्) त्व (ऋतुभिः) कर्मों और ज्ञानों के द्वारा (सुक्रतुः) सुक्रतु (भूः) है, (त्वम्) त्व (विश्ववेदाः) सम्पूर्ण धन वाला अथवा सम्पूर्ण ज्ञानों से युक्त होता हुआ (दक्षैः) कुशलताओं और उत्साहों के द्वारा (सुदक्षः) सुदक्ष है। (त्वम्) त्व (वृषत्वेभिः) सुखवर्षणों के द्वारा और (महित्वा) महत्त्व के कारण (वृषा) वृषा है। त्व (नृचक्षाः) मनुष्यों से दर्शनीय होता हुआ (द्युम्नभिः) धनों और यशों के कारण (द्युम्नी) द्युम्नी (अभवः) है।

‘द्युम्नेभिः’ ‘देवेभिः’ की भांति तृतीया का बहुवचन है। इस मन्त्र का देवता-प्रतिपाद्य-विषय सोम है। यहां ‘सोम’ को संबोधन करके कहा गया है कि भिन्न-भिन्न गुणों के कारण तेरे भिन्न भिन्न नाम हैं। इसी मन्त्र में ‘सुक्रतु’ ‘सुदक्ष’, ‘विश्ववेदाः’, ‘वृषा’, ‘द्युम्नी’, और ‘नृचक्षाः’, नाम उसे दिए गए हैं। योगिकवाद और गौणी-वृत्ति अङ्गीकार किए बिना यह हो नहीं सकता।

१४. त्वां विश्वे अमृतं जायमानं शिशुं न देवा अभि संनवन्ते ।

तव ऋतुभिरमृतत्वमायन् वैश्वानर यत्पित्रोरदीदेः ॥ ऋ० ६।७।४

हे (अमृत) अविनाशिन् ! (जायमानम्) उत्पन्न होने वाले (शिशुम्=न) बालक के समान (त्वाम्) तुझ को=तेरी (विश्वे) सम्पूर्ण (देवाः) विद्वान् (अभि+सं+नवन्ते) सब प्रकार उत्तमता से स्तुति करते हैं। (वैश्वानर) सब मनुष्यों के हितचिन्तक ! तव तेरे (ऋतुभिः) कर्मों और बोधों के कारण, लोग (अमृतत्वम्) अमृतपन को, मोक्ष को (आयन्) जानते हैं, प्राप्त होते हैं, क्योंकि त्व (पित्रोः) माता-पिता का, विद्या-आचार्य का (अदीदेः) [नाम] चमकता है।

लोक-हितकारी जीवन्मुक्त महात्मा विद्वान् को देख कर, प्राप्त कर साधक लोग ऐसा प्रसन्न होते हैं, जैसे प्राकृतजन उत्पन्न-सन्तान को देखकर होते हैं। सन्तान से माता पिता का नाम चलता है, किन्तु जीवन्मुक्त लोकोपकारी महात्मा के कारण माता-पिता, विद्यामाता एवं आचार्य-पिता का नाम भी चमकता है, उसके आचार-व्यवहार से जनता अपने अविनाशी स्वरूप को पहचान पाती है।

१५. दशानामेकं कपिलं समानं तं हिन्वन्ति ऋतवे पार्याय ।

ऋ० १०।२७।१६

(दशानाम्) दश में से (एकम्) एक (नम्) उस (समानम्) तुल्य (कपिलम्) कपिल=चञ्चल को (पार्याय) पार करने योग्य [ऋतवे] ऋतु के लिए, यह के लिए (हिन्वन्ति) प्रेरित करते हैं।

१६. ते वो हृदे मनसे सन्तु यज्ञा जुष्टासो अद्य घृतनिर्णिजो गुः ।

प्रवः सुतासो हरयन्त पूर्णाः ऋतवे दद्याय हर्षयन्त पीताः ॥ ऋ० ४।३७।२

(ते) वे (जुष्टासः) प्रीतिपूर्वक सेवन किए हुए (घृतनिर्णिजः) घी अथवा जल से शुद्ध किए हुए, अथवा ज्ञानप्रकाश के साधक (यज्ञाः) यज्ञ, शुद्ध

सत्य-संगत व्यवहार (वः) तुम्हारे (हृदे) हृदय और (मनसे) अन्तःकरण के लिए (सन्तु) होवें (सुतासः) अच्छी प्रकार से सिद्ध किए यज्ञ (वः) तुम को (प्र) उत्तम रीति से (गुः) प्राप्त होवें, वे (पूर्णाः) पूर्ण (ऋत्वे) बुद्धि के लिए तथा (दक्षाय) चतुरता के लिए (हरयन्त) कामना करें और (पीताः) पान किए गए अर्थात् पूरी तरह सेवन किए जाने पर वे (हर्षयन्त) प्रसन्न करें।

सत्कर्म 'सच्चे-हृदय और निष्ठा से करने चाहियें। ऐसे उत्तम कर्म मनुष्यों में बलबुद्धि की वृद्धि कर प्रसन्नता का हेतु हुआ करते हैं।

'ऋत्वे' चतुर्थी का एकवचन है। लौकिक नियमानुसार 'ऋत्वे' रूप बनता है। वेद में 'ऋत्वे' और 'ऋत्वे' दोनों रूप मिलते हैं।

१७. त्वावतो हीन्द्र ऋत्वे अस्मि त्वावतोऽवितुः शूर रातौ।

विश्वेदहानि तविषीव उग्रं ओकः कृणुष्व हरिवो न मर्धीः। अ०७।२५।४

हे (इन्द्र) इन्द्र=राजन्! (हि) यतः मैं (त्वावतः) तेरे जैसे के (ऋत्वे) कर्म अथवा बोध के लिये (अस्मि) हूँ, और हे (शूर) शूर! (त्वावतः) तुझ जैसे (अवितुः) रक्षक के (रातौ) दान में हूँ, अतः हे (तविषीवः) उत्तम-बलयुक्त! तू (उग्रः) तेजस्वी (विश्वा) सब (इत) ही (अहानि) दिन, [हमारे लिये] (ओकः) घर (कृणुष्व) करो, बनाओ। हे (हरिवः) उत्तमहरण-शक्ति-सम्पन्न! (न) न (मर्धीः) मार।

धार्मिक, कर्ममठ, अनुकूल प्रजा का पालन करना राजा का मुख्य कर्तव्य है, न कि प्रजापादन।

१८. ऋत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे। मृळा सुक्षत्र मृळय। ऋ०७।८६।३

हे (समह) अत्यन्त पूजित (शुचे) परमपवित्र प्रभो! (दीनता) दीनता = दुर्बलता के कारण मैं (ऋत्वः) ज्ञान के (प्रतीपम्) विरुद्ध (जगमा=जगम) चला करता हूँ। हे (सुक्षत्र) श्रेष्ठ-रक्षक (मृळा=मृळ) दया कर (मृळय) कृपा कर।

मनुष्य बहुधा अपने ज्ञान के विरुद्ध आचरण किया करता है। उसे अपनी इस दुर्बलता को दूर करने के लिये प्रभु से कृपाभिक्षा की याचना करनी चाहिये।

'ऋतु' शब्द की पंचमा-विभक्ति के एकवचन में 'ऋतोः' और 'ऋत्वः' दो रूप बनते हैं। लौकिकभाषा में 'ऋतोः' एक रूप होता है।

१९. अधा ह्यग्ने ऋतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः। रथीर्धृतस्य बृहतो बभूथ ॥

(य० १५।४५)

हे (अग्ने) अग्नि की भाँति प्रकाशमान-नेतः, राजन्! (अधा=अध) इस कारण (हि) ही तू (भद्रस्य) कल्याणकारी (ऋतोः) इन्द्र का और (साधोः)

उत्तम (दक्षस्य) बलका और (बृहतः) बहुत बड़े (ऋतस्य) न्याय, सत्य का (रथीः) सवार (बभूथ) है।

नेता में कल्याणमय ज्ञान, सत्कर्म, और परम सत्य का होना अत्यन्त आवश्यक है।

२०. ऋत्वं इत्पूर्णमुदरं तुरस्यास्ति विधतः। वृत्रघ्नः सोमपान्नः ॥ ऋ० ८।७८।७

(तुरस्य) शीघ्रकारी, दुष्टहिसक (विधतः) कर्मजुष्टानी (वृत्रघ्नः) पापनाशक (सोमपान्नः) ज्ञानरस का पान करनेवाले [ऋत्वं] कर्मज्ञान-सम्पन्न-जीव का (उदरम्) पेट (पूर्णम्) पूर्ण (इत्) ही (अस्ति) होता है।

अर्थात् जो मनुष्य धर्माचरण, और ज्ञानसाधन में लगा रहता है, वह भूखों नहीं मरता है।

२१. प्रवता हि क्रतूनामा हा पदेव गच्छसि। अभक्षि सूर्ये सचा ॥ ऋ० ४।३१।५

(हि) यतः त्वं [क्रतूनाम्] ज्ञानों और कर्मों के (प्रवता) अनुकूलमार्ग से (पदा—इव) पैरों के समान (हि) ही (आ+गच्छसि) आता है। अतः मैं (सचा) एक साथही इन दोनों का (सूर्ये) सूर्यप्रकाश में (अभक्षि) भक्षण करता हूँ=सेवन करता हूँ।

२२. जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।

ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ अ० १।३४।२

(मे) मेरी (जिह्वायाः) जिह्वा के (अग्रे) आगे (मधु) मिठास है और (जिह्वामूले) जिह्वा की जड़ में (मधूलकम्) मधुरता का मूल है, अतः (मम) मेरे (इत्+अह) ही (क्रतौ) कर्म में (असः) तू हो, और (मम) मेरे (चित्तम्) चित्त के (उप+अयसि) समीप आ।

२२. वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त ॐ शरीरम्।

ओ३म् क्रतो स्मर। क्लिबे स्मर। कृत ॐ स्मर ॥ य० ४०।१५

(वायुः) प्राणवायु (अमृतम्) अविनाशी (अनिलम्) वायु को प्राप्त होता है, (अथ) और (इदम्) यह (शरीरम्) शरीर (भस्मान्तम्) भस्म में समाप्त होने वाला है। हे (क्रतो) कर्मशील ज्ञानिन्। (ओ३म्) ओम् को (स्मर) स्मरण कर। (क्लिबे) दुर्बलता को स्मरण कर (कृतम्) किए को (स्मर) स्मरण कर।

[ख]

सभी ह्रस्व उकारान्त शब्दों के रूप 'क्रतु' शब्द के समान ही बनते हैं। अभ्यास की दृढ़ता के लिए 'ऋभु' के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं उदाहरण देने से पूर्व इस शब्द के सम्बन्ध में थोड़ा सा विचार कर लेना आवश्यक है।

'निघण्टु' (३।१५) में मेधावि-नामों में ऋभुपद पढ़ा है। निरुक्त ११।१६ में इस शब्द के सम्बन्ध में निम्नलिखित लेख मिलता है—

उरु भान्तीति वा, ऋतेन भान्तीति वा, ऋतेन भवन्तीति वा । आदित्यरश्म-
योप्यृभव उच्यन्ते ।

बहुत प्रकाशित होते हैं अथवा ऋत से प्रकाशित होते हैं, ऋत से, ऋत के
द्वारा; ऋत के साथ होते हैं । सूर्य के किरण भी ऋतु कहलाते हैं ।

अर्थात् ज्ञान विज्ञान, योगतप, लोक-सेवा आदि आध्यात्मिक, मानसिक,
और बौद्धिक प्रकाश से प्रकाशमान महात्मा जहां 'ऋतु' हैं, वहां सूर्यचन्द्र ग्रह,
नक्षत्र, तारे आदि प्रकाशपिंड भी 'ऋतु' संज्ञक हो सकते हैं । सृष्टिनियम जिनका
प्रकाश करता हो, जिनकी सत्ता अबाध-सत्य पर आश्रित हो, ऐसे सब-चेतन अचे-
तन-पदार्थ ऋतु कहलाने के अधिकारी हैं । निरुक्तकार का सूर्य-रश्मियों को
'ऋतु' कहना उदाहरण-मात्र है । वेद में ऋतुओं के जो कार्य्य बताए हैं, उनमें
अध्यापन एवं शिल्प मुख्य प्रतीत होते हैं । ब्राह्मणग्रन्थों में ऋतुओं के सम्बन्ध
में एक वाक्य आता है, वह बहुत महत्त्व युक्त और विचारने योग्य है । वह है—
'ऋभवो वा इन्द्रस्य प्रियं धाम' (तां० १४।२।५) 'ऋतु' इन्द्र का प्यारा ठिकाना
है । 'ऋतु'—सम्बन्धी वैदिकसूक्तों को पढ़ते समय इन निर्देशों को सदा सामने
रखना चाहिए । निघण्टु निरुक्त और ब्राह्मणग्रन्थों के इन निर्देशों के आधार पर
भाष्यकारों ने 'बहुविद्या-प्रकाशक विद्वान्, महान्, मेधावी, आयुः-प्रकाशक, सम्यक्ता-प्रकाशक,
धनज्ञ, सूत्रात्मावायु, किरणें' आदि अर्थ स्वीकार किए हैं । अब थोड़े से उदाहरण
लीजिए—

१. ऋतुर्न इन्द्रः शवसा नवीयानृमुवाजेभिर्वसुभिर्वसुर्ददिः ।

युष्माकं देवा अवसाहनि प्रियेभि तिष्ठेम पृत्सुतीरसुन्वताम् ॥ ऋ० १।११०।७

(इन्द्रः) इन्द्र. सेनापति (शवसा) बल के कारण (ऋतुः+न) ऋतु=बहुविद्या
प्रकाशक विद्वान् की भांति (नवीयान्) अत्यन्त नया है, अर्थात् नूतन-शक्ति
सम्पन्न है । और (ऋतुः) ऋतुः=सम्यक्तादिप्रचारक विद्यावान् (वाजेभिः)

ज्ञान, अन्न, और बल के कारण और (वसुभिः) वसुओं के कारण, बसाने
के सामर्थ्यों के कारण (वसुः) सब का बसाने वाला तथा (ददिः) दाता
है । हम (देवाः) देव=दिव्यगुणकर्म स्वभाव वाले मनुष्य (अवसा) परस्पर
प्रीति एवं रक्षा के द्वारा (प्रिये) प्रिय (अहनि) दिन में (असुन्वताम्) यज्ञ न
करने वाले (युष्माकम्) तुम लोगों की (पृत्सुतीः) सम्पर्क से ऐश्वर्यसाधिका
शक्तियों को (अभि+तिष्ठेम) सामने से दबा दें ।

सेनापति को विद्वान् होना चाहिए । उसे अपने और पराये सैन्य का,
बल का, कोष का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए और उसे अपनी सेना तथा देश में
पारस्परिक प्रीति एवं सहयोग की बलवती भावना बनाए रखनी चाहिए, तब
अवश्य शत्रुओं पर विजय होगा ।

२. स्तम्भीद्व द्यां स धरुणं प्रुषायदभुवाजाय द्रविणं नरी गीः ।

अनु स्वजां महिषश्चतुर्त्रां मेनामश्चस्य परि मातरं गोः ॥ ऋ० १।१२१।२
(सः) वह (द्याम्) ब्रुलोक अथवा प्रकाश को और (धरुणम्) धारणशक्ति को (स्तम्भीत) थाम के रखता है। (ऋभुः) ज्ञान से प्रकाशमान (नरः) मनुष्य (वाजाय) ज्ञान और अन्न के लिए (गोः) पृथिवी से (द्रविणम्) धन को (पुषायत्) सींचता है, अथवा एक एक बूंद करके संग्रह करता है। वह (महिषः) महान् (स्वजाम्) अपनी उत्पन्न की हुई या स्वदेश में उत्पन्न हुई (ब्राम्) बरने योग्य (मेनाम्) मननशक्ति को और (गोः) पृथिवी की एवं (अश्चस्य) अश्च=राष्ट्र की (मातरम्) माता=प्रजाशक्ति को (परि+चक्षत) सब प्रकार निरीक्षण करे, वर्णन करे।

ज्ञानवान् सेनानायक सदा अपनी शक्ति का निरीक्षण करता रहता है।

३. पञ्जेव चर्चरं जारं मरायु क्षत्रेवार्थेषु तर्तरीथ उग्रा ।

ऋभू नापत्खरमज्रा खरज्जुर्वायुर्न पर्फरत्क्षयद्रयीणाम् ॥ ऋ० १०।१०६।७
हे (उग्रा) तेजस्वी (पञ्जेव) अत्यन्त बलवान् वारों की भांति तुम दोनों (चर्चरम्) निरन्तर गतिशील (जारम्) बूढ़े अतएव (मरायु) सुमूर्ख=मरने वाले [मेरे देह] को (क्षय+इव) जल के समान (अर्थेषु) प्राप्तव्य पदार्थों में, कार्य्यों में, व्यवहारों में (तर्तरीथः) पार करते हो, रक्षित करते हो। (ऋभू+न) दो ऋभुओं के समान (खरमज्रा) तीक्ष्ण को शुद्ध करने वाले तुम दोनों को (वायुः—न) वायु के समान (पर्फरत्) फड़फड़ाने वाला, (रयीणाम्) धनों का (क्षयत्) लाने वाला और (खरज्जुः) तीव्र गति वाला साधन (आपत्) प्राप्त हुआ है।

यह मन्त्र अश्विदेवताक है। 'अश्विन्' का अर्थ प्राण और अपान भी होता है, शरीर के अन्दर रहने वाले धन Positive और ऋण Negative शक्तियाँ भी 'अश्विनौ' कहलाते हैं। इस म्रियमाण देह में जीवन इन्हीं 'अश्विनौ' के कारण है। इन अश्वियों का ठिकाना यह देह है, इस देह में भी बहुत सामर्थ्य है।

४. युवाना पितरा पुनः सत्यमन्त्रा ऋजूयवः । ऋभवो विष्टचक्रत ॥

ऋ० १२०४

(सत्यमन्त्राः) सच्चे विचार वाले (ऋजूयवः) सरलता की कामना करने वाले (ऋभवः) बुद्धिमान् ज्ञानी (विष्टा) आवेशशक्ति से (पितरा) मां बाप को (पुनः) फिर से (युवाना) जवान (अक्रत) कर देते हैं।

सन्तान के ज्ञान और बल का साफल्य इसी में है कि वृद्ध माता पिता भी अपने को वृद्ध न समझें।

५. निश्चर्मणे ऋभवो गामर्पिंशत संवत्सेनासृजत मातरं पुनः ।

सौधन्वनासः स्वपस्यया नरो जिब्री युवाना पितराकृणोतन ॥

हे (ऋभवः) मेधावी विद्वानो ! तुम (गाम्) वाणी को (चर्मणः) चर्म से (निर+अपिशत) रूपरहित करो और (मातरम्) मां को (पुनः) फिर (वत्सेन) बछड़े के (सम्+असृजत) साथ मिलाओ। हे (सौधन्वनासः) धनुर्विद्या में अत्यन्त कुशल (नरः) नेताओ ! तुम (स्वपस्यया) अपनी क्रियाकुशलता से (जित्री) बूढ़े (पितरा) माता पिता को (युवाना) जवान (अकृणोतन) करो।

इस मन्त्र के पहले चरण में ऋभुओं का एक कार्य ऐसा बताया गया है, जो महत्त्वपूर्ण है। वह है 'निश्चर्मणो गामपिशत' वाणी को चर्मरहित करो, अर्थात् बाल की खाल निकालो। कई अकृतविद्य लोग यहां 'गौ को चमड़े से रहित करो' अर्थ करते हैं। किन्तु वह अर्थ ठीक नहीं, क्योंकि दूसरे पाद में 'संवत्सेनासृजत मातरं पुनः' पाठ पढ़ा गया है, जिसका अर्थ है—'मां को फिर बछड़े के साथ मिलाओ।' अब आप सोचिए, जिसकी खाल उतार दी गई, उसके साथ बछड़े के मिलाने का क्या अर्थ? वैदिक आचार्यों के मत में शब्दों का वास्तविक अर्थ 'वाणी का वत्स' है। इस दृष्टि से मन्त्र के पूर्वार्द्ध का अर्थ हुआ—'ज्ञानी विद्वान् लोग बात (बाल) की खाल उतारते हैं, उसके मर्म तक पहुँचते हैं, और उसके वास्तविक अर्थ की संगति लगाते हैं।'।

यदि यह हठ हो कि 'गौः' शब्द का अर्थ 'गाय' ही है, तब पहले पाद 'निश्चर्मणो—शत' का अर्थ होगा, 'चमड़े से गौ को नितरां रूपयुक्त करो' अर्थात् उसको खूब हृष्ट-पुष्ट करो। तब दूसरे पाद का अर्थ होगा—'उसको बछड़े से मिलाओ' अर्थात् उसको सन्तानयुक्त करो। तात्पर्य यह है कि 'ऋभु' प्रजननशास्त्री का नाम है। वह बाँझ को भी सन्तानयुक्त कर सकता है। ऐसे ज्ञानी अपनी क्रिया-कुशलता से अपने जीर्ण, वृद्ध माता-पिताओं को फिर से जवान बना सकते हैं।

ऋभुओं के संबन्ध में इस निर्देश को यदि सामने रखा जाए, तो ऋभुसूक्तों के समझने में सुविधा होगी।

६. ऋभुमृक्षुणो रयिं वाजे वाजिन्तमं युजम् ।

इन्द्रस्वन्तं हवामहे सदासातममश्विनम् ॥ ऋ० ४।३७।५

हे (ऋभुक्षणः) महाविद्वानो ! हम (वाजे) युद्ध में (ऋभुम्) बुद्धियुक्त (वाजिन्तमम्) अत्यन्त वेग वाले (युजम्) सदा युक्त रहने वाले (इन्द्रस्वन्तम्) ऐश्वर्ययुक्त स्वामित्व वाले (सदासातमम्) सदा आदरपूर्वक संभजनीय (अश्विनम्) अश्वदियुक्त (रयिम्) धन को (हवामहे) चाहते हैं।

धन की कामना करते हुए 'धन' के साथ 'ऋभु' विशेषण विशेष ध्यान देने योग्य है। धन तो हो, किन्तु वह ऋभु=मेधावी=धारणावती बुद्धि देने वाला हो, न कि हारणावती बुद्धि वाला, या बुद्धि हरने वाला।

७. सेदभवो यमवथ युयमिन्द्रश्च मर्त्यम् ।

स धीभिरस्तु स चित्ता मेधसात्ता सो अर्वात्ता । ऋ० ४।३७।६

हे (ऋभवः) मेधावी विद्वानो ! (यूयम्) तुम (च) और (इन्द्रः) राजा (यम्) जिस (मर्त्यम्) मनुष्य को (अथ) प्रेम करते हो या रक्षा करते हो। (सः) वह (इत) ही (धीभिः) बुद्धियों से युक्त (अस्तु) होवे, (सः) वह (सनिता) सत्यासत्य का विभाजक और (सः) वह (अवन्ता) घोड़े आदि के द्वारा (मेधसाता) संग्रामविजयी होवे।

ज्ञानी और बली जिसकी रक्षा करते हैं, वह सब सुखों से सम्पन्न होता है।

८. इह प्रजामिह रयिं रराणा इह श्रवो वीरवत्तत्ता नः ।

येन वयं चितयेमात्यन्यान् तं वाजं चित्रमृभवो ददा नः ॥ ऋ० ४।३६।६

हे (ऋभवः) मेधावी विद्वानो ! (इह) इस संसार में (प्रजाम्) सन्तान, और (इह) इसी जन्म में (रयिम्) धन (रराणाः) देते हुए (नः) हमारा (वीरवत्) वीरतायुक्त (श्रवः) यश (तक्षता=तक्षत) बनाओ। (नः) हमें (तम्) वह (चित्रम्) विचित्र (वाजम्) ज्ञान और बल (ददा=दद) दो, (येन) जिससे (वयम्) हम (अन्यान्) दूसरों को (अति+चितयेम) अत्यन्त चिताएँ; सम-झाएँ। अथवा (अन्यान्+अति+चितयेम) दूसरों से ज्ञान में बढ़ जाएँ।

धन, जन, मान भी ज्ञान के लिए, और ज्ञानयुक्त होना चाहिए।

९. इन्द्र इषे ददातु न ऋभुक्ष्णमृभुं रयिम् । वाजी ददातु वाजिनम् ॥ ऋ० ८।६३।४

(इन्द्रः) इन्द्र=राजा (नः) हमें (इषे) बल के लिए, अन्न के लिए (ऋभुक्ष-णम्) विद्वानों को बसाने वाला (ऋभुम्) अत्यन्त प्रकाशमान (रयिम्) धन (ददातु) देवे, और (वाजी) ज्ञानां (वाजिनम्) ज्ञान (ददातु) देवे।

१०. प्रथमभाजं यशसं वयोधां सुपाणिं देवं सुगमस्तिमृश्वम् ।

होता यक्ष्यजतं पस्त्यानामग्निस्त्वष्टारं सुहवं विभावा ॥ ऋ० ६।४६।६

(विभावा) विशेष प्रकाशमान (अग्निः) अग्नि के समान (होता) याज्ञिक, दाता (प्रथमभाजम्) पहलों की सेवा करने वाले, अथवा अग्रपूज्य (यशसम्) यशस्वी (वयोधाम्) जीवन धारण करने वाले अथवा कान्तिमान् (सुपा-णिम्) उत्तम हाथों वाले, उत्तम व्यवहार वाले, अत्यन्त स्तुति वाले (सुग-मस्तिम्) उत्तम प्रकाश वाले (पस्त्यानाम्) घरों के बीच में (यजतम्) संगति करने योग्य (त्वष्टारम्) अज्ञाननिवारक (सुहवम्) सरलता से पुकारे जाने वाले (ऋश्वम्=ऋभुम्) मेधावी (देवम्) विद्वान् को (यक्षत) पूजे, संगति करे।

किस प्रकार के विद्वान् का संग करना चाहिए, इसका निरूपण इस मन्त्र में है।

साधारण नियम के अनुसार 'ऋभु' शब्द का द्वितीया विभक्ति के एकवचन में 'ऋभुम्' रूप बनता है, वेद में उसके अतिरिक्त 'ऋश्वम्' रूप भी बनता है।

११. ऋभुक्ष्णमिन्द्रमा हुव ऊतय ऋभून्वाजान्मरुतः सोमपीतये ।

उभा मित्रावरुणा नूतमश्निना ते नो हि वन्तु सातमे धिये जिषे ॥ ऋ१।११।४

में (ऊतये) रक्षादि के लिए (ऋभुक्षणम्) बुद्धिमानों को बसाने वाले, ज्ञानियों को समझाने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र=पेश्वर्यसंपन्न को (आ+हुवे) बुलाता हूँ, चाहता हूँ। और (सोमपीतये) सोमपान के लिए, यज्ञ के लिए (ऋभून्) अत्यन्त प्रकाशमान (वाजान्) ज्ञानबलसंपन्न (मरुतः) ऋत्विजों को बुलाता हूँ। (उभा) दोनों (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण को=अत्यन्त स्नेही और सर्वश्रेष्ठ को, और (अश्विना) सर्वसद्गुणव्यापी-गुरु-और उपदेशक को (नूनम्) भी बुलाता हूँ। (ते) वे हमें सातये) संविभाग, संभाजन के लिए (धिये) बुद्धि के लिए तथा (जिषे) जय के लिए (हिन्वन्तु) प्रेरें, सुझाएं। जिस कार्य में जो कुशल है, उसकी स्पर्धा करनी चाहिए, उसका संग करके उस गुण की उपलब्धि करनी चाहिए। धनी, ज्ञानी के संग से शक्ति, बुद्धि की प्राप्ति हो सकती है।

‘उभा’ ‘मित्रावरुणा’ का लौकिक रूप ‘उभौ’, ‘मित्रावरुणौ’ होता है। ‘अश्विना’ भी लोक में ‘अश्विनौ’ है।

१२. महत्तद्वः कवयश्चारु नाम यद्व देवा भवथ विश्व इन्द्रे ।

सख ऋभुभिः पुरुहूत प्रियेभिरिमां धियं सातये तच्चा नः॥ऋ०३।५।१७
हे (कवयः) कवियों ! ज्ञानियों ! (तत्) वह (वः) तुम्हारा (महत्) बड़ा और (चारु) सुन्दर (नाम) नाम, यश है, (यत्) जिसके कारण (ह) ही, तुम (विश्वे) सब (इन्द्रे) इन्द्र के आश्रय से (देवाः) देव (भवथ) होते हो। हे (पुरुहूत) अनेकों से प्रशंसित ! तू (प्रियेभिः) प्रिय (ऋभुभिः) मेधावियों के साथ (सखा) सखा=समान गुणकर्म स्वभाव वाला होता हुआ (सातये) सत्यासत्याविवेक के लिए (नः) हमारी (इमाम्) इस (धियम्) बुद्धि को (तक्षता=तक्षत) सूक्ष्म करो।

यहाँ विद्वानों की बड़ाई इसी बात में बताई गई है कि वे देव होते हैं। जो ऋषिभाष्य में देव-शब्द का अर्थ ‘विद्वान्’ देवकर नाक-भौं सिकौड़ा करते हैं, वे इस मन्त्र को देखें।

१३. इन्द्र ऋभुभिर्वाजवद्भिः समुक्षितं सुतं सोममा वृषस्वा गमस्त्योः ।

धियेषितो मघवन्दाशुषो गृहे सौधन्वनेभिः सह मत्स्वा नृभिः॥ऋ०३।६।०।५
हे (इन्द्र) राजन् ! (वाजवद्भिः) अन्नसंपन्न, ज्ञानसंपन्न (ऋभुभिः) मेधा-वियों के द्वारा (समुक्षितम्) भली प्रकार सींचे (सुतम्) तैयार किये हुए (सोमम्) सोम को, पेश्वर्य को (गमस्त्योः) हाथों में=हाथों की शक्ति से (आ+वृषस्वा=वृषस्व) सब ओर से पुष्ट कर। हे (मघवन्) पूजित धनवाले ! (धिया) बुद्धि से (इषितः) प्रेरित हुआ तू (सौधन्वनेभिः) शस्त्राभिविद्या में कुशल (नृभिः) मनुष्यों के (सह) साथ (दाशुषः) दाता के (गृहे) घर में (मत्स्वा=मत्स्व) मेरे पास रहो।

सौधन्वनों को मनुष्यविलक्षण देव मानने वाले सज्जन इस मन्त्र में पढ़े 'सौधन्वनेभिः' के विशेष्य 'नृभिः' पद पर दृष्टि दें।

१४. प्र ऋभुभ्यो दूतमिव वाचमिष्य उपस्तिरे श्वैतरीं धेनुमीले ।

ये वातजूतास्तरणिभिरेवैः परि द्यां सद्यो अपसो बभूवुः ॥ ऋ० ४।३३।१
मैं (ऋभुभ्यः) ऋभुओं के लिए (वाचम्) वाणी को (दूतम्+इव) दूत के समान (प्र+इष्ये) मेजता हूँ। (उपस्तिरे) विस्तार के लिए (श्वैतरीम्) अत्यन्त शुद्ध (धेनुम्) धारणा को (ईले) पूजता हूँ। (ये) जो (वातजूताः) वायु से प्रेरित (तरणिभिः) उच्छलने वाली (एवैः) गतियों के द्वारा (द्याम्+परि) द्युलोक के सब ओर (सद्यः) शीघ्र (अपसः) कर्मयुक्त (बभूवुः) होते हैं।

यहाँ 'ऋभु' शब्द का अर्थ प्रकृति के वे प्रकाशमान कण हैं, जिनसे द्युलोक में नित्य नए नए प्रकाशमान लोक-लोकान्तर बनते रहते हैं।

१५. आगन्तृभूणामिह रत्नधेयमभूत्सोमस्य सुषुतस्य पीतिः ।

सुकृत्यया यत्स्वपस्यया च एकं विचक्र चमसं चतुर्धा ॥ ऋ० ४।३३।२
(इह) इसी संसार में ही (ऋभूणाम्) मेधावियों की (रत्नधेयम्) रत्न-धारण-योग्यता (आ+अगन्) सर्वथा प्राप्त होती है, और (सुषुतस्य=सु-सुतस्य) उत्तमता से तैयार किए (सोमस्य) सोम का (पीतिः) पान (अभूत्) होता है। (यत्) क्योंकि तुम (सुकृत्यया) उत्तम क्रिया के द्वारा (च) और (स्वपस्यया) शुभकर्मों की इच्छा के द्वारा (एकम्) एक (चमसम्) चमस को (चतुर्धा) चार प्रकार का (विचक्र) करते हो।

'चमस' का अर्थ है भोगसाधन। जीवन चमस है, ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वान-प्रस्थ और संन्यास। अम चार विभाग हैं।

१६. यथा सोमस्तृतीये सवन ऋभूणां भवति प्रियः ।

एवा म ऋभवो वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ अ० ६।१।१३

(यथा) जैसे (तृतीये) तीसरे (सवनं) सवन में (सोमः) सोम (ऋभूणाम्) ऋभुओं का प्यारा होता है (एवा) ऐसे ही, हे (ऋभवः) ऋभुओं! (वर्चः) तेज (मे) मेरे (आत्मनि) आत्मा में (ध्रियताम्) धारा जाय।

बड़े बड़े यज्ञों में, जिनमें सोम का कार्य होता है, प्रातः सवन, मध्यन्दिन सवन, और तृतीय सवन—ये तीन सवन होते हैं। जीवन के बाल, यौवन, बुढ़ा-वस्था तीन सवन हैं। तृतीय सवन=बुढ़ापे में ऋभुओं को=ज्ञानियों को सोम=शान्तिदायक ब्रह्मज्ञान ही प्यारा लगता है।

वेद में ऋभु शब्द के सब विभक्तियों में रूप नहीं मिलते।

नवमः पाठः

[क]

अब ऋकारान्त 'त्वष्टृ' शब्द के रूप और उदाहरण दिखाते हैं—

एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
१. त्वष्टा	त्वष्टारौ	त्वष्टारः
सं० हे त्वष्टः	हे त्वष्टारौ	हे त्वष्टारः
२. त्वष्टारम्	त्वष्टारौ	त्वष्टृन्
३. त्वष्ट्रा	त्वष्टृभ्याम्	त्वष्टृभिः
४. त्वष्ट्रे	त्वष्टृभ्याम्	त्वष्टृभ्यः
५. त्वष्टुः	त्वष्टृभ्याम्	त्वष्टृभ्यः
६. त्वष्टुः	त्वष्ट्रोः	त्वष्टृणाम्
७. त्वष्टरि	त्वष्ट्रोः	त्वष्टृषु

'त्वष्टृ' शब्द को वैयाकरण 'त्विष्' धातु से सिद्ध करते हैं। महामुनि पाणिनि जी की अष्टाध्यायी (शब्दानुशासन) के ३।२।१३५ सूत्र पर कात्यायन जी का वार्तिक है—'त्विषेदेवतायामकारश्चोपधाया अनितृत्वं च।' इसका अर्थ है—देवता=मन्त्र-प्रतिपाद्य अर्थ में 'त्विष्' धातु से तृन् प्रत्यय करने और उसके 'इ' को 'अ' कर देने से 'त्वष्टृ' शब्द बनता है। 'त्विष्' धातु का अर्थ है दीप्ति। अर्थात् जो प्रकाश करे, वह त्वष्टा। नैरुक्त विद्वान् इस शब्द को 'त्विष्' के अतिरिक्त 'त्वक्ष्' धातु से भी सिद्ध करते हैं। 'त्वक्ष्' का अर्थ नैरुक्तों ने केवल 'करना' माना है, किन्तु वैयाकरण-शिरोमणि पाणिनि जी ने अपने धातु-पाठ में इसका अर्थ तनूकरण=छीलना, बारीक करना, सूक्ष्म करना, दुर्बल करना, घटाना लिखा है। इस रीति से नैरुक्तों के मत में 'प्रकाश करने वाला, चमकने वाला, करने वाला, बनाने वाला, छीलने वाला, सूक्ष्म करने वाला' आदि त्वष्टा के अर्थ होते हैं। अवयवों से अवयवी बनाने वाला, पदार्थों को आकार—प्रकार देने वाला, वेद में त्वष्टा कहा गया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'त्वष्टा' के संबन्ध में निम्नलिखित निर्देश देखने योग्य हैं—

१. वाग् वै त्वष्टा (पे० ब्रा० २।४) वाणी ही त्वष्टा है।
२. त्वष्टा वै पशूनामीष्टे (अ० ३।८।३।११) त्वष्टा पशुओं का शासक है।
३. त्वष्टा हि रूपाणि विकरोति (तै० २।७।२।१) त्वष्टा ही रूपों की रचना करता है।
४. इन्द्रो वै त्वष्टा (पे० बा० ६.१०) इन्द्र ही त्वष्टा है।
५. त्वष्टः समिधां पते (तै० ३.११.४.१) हे समित्स्वामिन् त्वष्टः !

निरुक्तकार का इस शब्द के संबन्ध में निम्नलिखित लेख है—त्वष्टा तूर्णमश्नुते इति नैरुक्ताः। त्विषेर्वा स्याद् दीक्षिकर्मणः, त्वक्षतेर्वा स्यात्करोतिकर्मणः (८, १३)। माध्यमिक-स्त्वष्टेद्याहुः। मध्यमे च स्थाने समासतः। अग्निरिति शाकपूणिः। (८, १४) 'त्वष्टा' शब्द का अर्थ नैरुक्तों के मत में छीलना या बारीक होना है (तूर्ण शब्द पूर्वक अशु

धातु से यह शब्द बनता है। अथवा दीप्ति-अर्थ वाले 'त्विष्' धातु से, वा करना-अर्थ वाले 'त्वश्' धातु से यह बनता है। [यास्काचार्य जी ने इस अर्थ को द्योतन करने वाला एक मन्त्र ऋ० १०।११०।६ भी प्रस्तुत किया है] 'त्वष्टा' को माध्यमिक कहते हैं। क्योंकि मध्यम स्थान में पड़ा गया है। शाकपूणि आचार्य के मत में 'त्वष्टा' का अर्थ 'अग्नि' है। [इस अर्थ में आचार्य यास्क ने ऋ० १.६५.५ मन्त्र उपस्थित किया है]

पूर्व इसके कि हम 'त्वष्टा' के अर्थों की विवेचना समाप्त करें, निरुक्त के पूर्वोद्धृत सन्दर्भ में आए 'मध्यम स्थान' शब्द के सम्बन्ध में कुछ बतला देना हम आवश्यक समझते हैं। 'निरुक्त' शास्त्र वास्तव में निघण्टु की व्याख्या है। निघण्टु वैदिक-कोष है। उसमें पांच अध्याय हैं। पहले तीन अध्यायों में पर्यायवाची पदों का संग्रह है। अर्थात् उनमें एक एक पदार्थ के अनेक नाम एकत्रित कर दिए गये हैं, जैसे सब से पूर्व 'गौः, ग्मा.....आदि इक्कीस नाम पृथिवी के लिखे हैं। इन तीन अध्यायों को नैघण्टुक काण्ड कहते हैं। निघण्टु के चौथे अध्याय में अनेकार्थक पदों का संग्रह है। उसको 'नैगम काण्ड' भी कहते हैं, निरुक्त के चौथे से छठे तक-तीन अध्यायों में इसकी व्याख्या है। निघण्टु के पांचवें अध्याय में 'देवता'-पदों का संग्रह है, इसको 'दैवतकाण्ड' भी कहते हैं। निरुक्त के ७ सातवें अध्याय से अन्ततक इसकी व्याख्या है। दैवतकाण्ड की व्याख्या करते हुए मन्त्र-प्रतिपाद्य विषयों=देवताओं का विभाजन करते हुए वैज्ञानिक दृष्टि से पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के विचार से देवताओं के तीन स्थान बतलाए हैं। निरुक्तकार यास्काचार्य के मत में तीन ही देवताएं हैं। यथा—'तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः, वायुर्वा इन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः। तासां माहामायादेकस्या बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा कर्मपृथक्त्वात्।' (७।५) अर्थात् नैरुक्तों के मत में तीन ही देवता हैं। अग्नि पृथिवीस्थानी है, वायु अथवा इन्द्र अन्तरिक्षस्थानी है, सूर्य द्युस्थानी है। महान् ऐश्वर्यसंपन्न होने से अथवा इनके कार्यों की अनेकता के कारण इनके अनेक नाम होते हैं।

अन्तरिक्ष को निरुक्तकार मध्यमस्थान भी कहते हैं। 'द्यु' और पृथिवी के बीच में होने से अन्तरिक्ष को मध्यमस्थान नाम देना सर्वथा युक्त है।

तीन देवता मानते हुए निरुक्तकार 'इन्द्र' को अन्तरिक्ष या मध्यस्थान का देवता मानते हैं। और ८।१४ में 'त्वष्टा' को भी माध्यमिक-मध्यस्थानी मानते हैं। निरुक्तकार के इन वाक्यों को ध्यान में रख कर ऐ. ब्रा० ६. १० के 'इन्द्रो वै त्वष्टा' से तुलना कीजिए।

निरुक्त और ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार 'त्वष्टा' शब्द के निम्नलिखित अर्थ प्रतीत हैं—'वाणी, पशुपति, आकारप्रकार बनाने वाला, इन्द्र-(विद्युत्, वायु आदि), समिधास्वामी, शीघ्रव्यापी, सूक्ष्मकारी, छीलने वाला, कर्त्ता, अग्नि' आदि। महर्षिदयानन्दसरस्वती स्वामी जी ने इन अर्थों का विस्तार करते हुए निम्नलिखित अर्थ लिखे हैं—'त्रिच्छेदक अग्नि, दुःखछेदक पशुपति, आकारप्रकार बनाने वाला, इन्द्र, विद्युत्, वायु आदि, समिधास्वामी, शीघ्रव्यापी, सूक्ष्मकारी, छीलने वाला, कर्त्ता, अग्नि' आदि।

वाला परमेश्वर, मेघ के अवयवों और मूर्तद्रव्यों को छिन्न भिन्न करने वाला, अविद्याविच्छेदक, वेदक, तनूकर्ता जीव सब जगत् का निर्माता, प्रकाशक, प्रकाशमान, सूर्यसमान विद्वान्, विद्युत्समान विद्वान्, सुखविस्तारक, तेजस्वी, सुरुपसाधक, शिक्षक, ज्ञाता, वियोगविघाता, सब प्रदायों का विभाजक, दोषविच्छेदक, शिल्पी, काल, प्रकाश, विद्युत्, वायु, शत्रुबलनाशक, इत्यादि ।

सूक्ष्म दृष्टि से देखिए, इन सब अर्थों में 'त्वष्टा' या 'त्वक्ष्' धातुओं का कोई न कोई भाव अवश्य विद्यमान है । अब क्रमशः उदाहरण लीजिए—

१. अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वयं ततश्च ।

वाश्चा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमवजग्मुरापः ॥ ऋ० १।३२।२

[जब] (त्वष्टा) त्वष्टा=सूर्य (पर्वते) मेघमण्डल में (शिश्रियाणम्) निरन्तर आश्रय लेने वाले (अहिम्) मेघ को (अहन्) मारता है, और (अस्मै) इसके लिए (स्वयम्) शब्द करने वाले (वज्रम्) वज्र को, छेदन करने वाले किरण-समूह को (ततश्च) रचता है [तत्र] (वाश्चाः) वछड़े के लिए उत्कण्ठित (धेनवः) गौओं के (इव) समान (स्यन्दमानाः) चूते हुए, बहते हुए (अञ्जः) स्पष्ट (आपः) जल (समुद्रम्) समुद्र को (अव+जग्मुः) नीचे जाते हैं ।

मेघमण्डल से वृष्टि होने की विधि बताई है । वैसे यह मन्त्र अन्योक्ति है । राजनीति पक्ष में दुर्गस्थ शत्रु पर आक्रमण करने का संकेत है । अध्यात्म में [स्वयम् का अर्थ सुखसाधक है] प प पर विजय पाने का इशारा है ।

२. तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरु वारं पुरु त्मना ।

त्वष्टा पोषाय विष्यतु राये नाभा नो अस्मयुः ॥ ऋ० १।१४२।१०

जो (नः) हमारा (तुरीपम्) शीघ्ररक्षक (पुरु) बहुत (अद्भुतम्) अद्भुत (वा) अथवा (त्मना) अपने से (पुरु) बहुत (अस्म) अलम्=पर्याप्त है (अस्मयुः) हमारी कामना करने वाला (त्वष्टा) महाज्ञानी (तत्) उसको (नः) हमारे (नाभा) नाभि में=बीज में (पोषाय) पुष्टि के लिए और (राये) धन के लिए (वि+ष्यतु=स्यतु) विशेषरूप से प्राप्त कराए ।

इस मन्त्र में पुष्टि और ऋद्धि के साधनों का देने वाला त्वष्टा है ।

३. त्वष्टा रूपाणि हि प्रभुः पशून् विश्वान्तमानजे ।

तेषां न स्फातिमा यज ॥

ऋ० १।१८८।६

(हि) जैसे (त्वष्टा) जगत् का निर्माता (प्रभुः) प्रभु (रूपाणि) सब रूपों को और (विश्वान्) सब (पशून्) पशुओं को (समानजे) भली प्रकार व्यक्त करता है । हे विद्वान्, वैसे तू (तेषाम्) उनकी (स्फातिम्) बुद्धि को (नः) हमें (यज) प्राप्त करा ।

यहां स्पष्ट ही 'त्वष्टा' को प्रभु और सब रूपों का व्यक्त करने वाला कहा है ।

४. त्वमग्रे त्वष्टा विधते सुवीर्यं तव ज्ञावो मित्रमहः सजात्यम् ।

त्वमाशुहेमा रविर्धे स्रजश्च त्वं नरां शूर्पों असि पुरुवसुः ॥ ऋ० २।१।५

हे (अग्ने) ज्ञानिन् ! (त्वम्) त्व (त्वष्टा) त्वष्टा=संशयनाशक है । हे (श्रावः) उत्तम वाणी वाले (मित्रमहः) मित्रों का सत्कार करने वाले ! (विधते) पुरुषार्थी के लिए (तव) तेरा (सुवीर्यम्) उत्तम बल (सजात्यम्) सजातीय, स्वाभाविक है । (आशुहेमा) शीघ्रकारियों को बढ़ाने वाला (त्वम्) त्व (स्व-श्रव्यम्) उत्तम अश्ववादि सम्बन्धी धन (ररिषे) देता है । (पुरुवसुः) बहुतों का बसाने वाला (त्वम्) त्व नराम्) मनुष्यों का (शर्धः) बल (असि) है ।

ऋग्वेद के दूसरे मण्डल के प्रथम सूक्त में अग्नि शब्द किन् किन् पदार्थों का वाचक है, इसका निरूपण है । अग्नि का अर्थ केवल भौतिक आग करना भयङ्कर भूल है ।

५. अमेव नः सुहवा आ हि गन्तन नि बर्हिषि सदतना रणिष्टन ।

अथा मन्दस्व जुजुषाणो अन्धसस्त्वष्टदेवेभिर्जनिभिः सुमद्गणः ॥

ऋ० २।३६।३

हे (सुहवाः) सरलता से बुलाये जाने वाले महात्माओं ! (अमा-इव) घर के समान (आ+गन्तन)आओ(हि)ही । (बर्हिषि)आसन पर (नि+सदतना=सदतन) बठो और (रणिष्टन) बोलो । (अथा=अथ) और हे (त्वष्टः) संशयशून्य ! (सुमद्गणः) अत्यन्त आनन्दी समुदायवाला त्व (देवेभिः) दिव्य (जनिभिः) जन्मों के साथ (अन्धसः) अन्न का (जुजुषाणः) निरन्तर प्रेमपूर्वक सेवन करता हुआ (मन्दस्व) प्रसन्न हो ।

विद्वानों का आदर-पूर्वक उपदेश सुनकर तदनुकूल आचरण करने से सब प्रकार की सुखसंविधा मिलती है ।

६. तन्नस्तुरीपमध पोषयित्नु देव त्वष्टर्वि रराणः स्यस्व ।

यतो वीरः कर्मण्यः सुदक्षो युक्तग्रावा जायते देवकामः ॥ ऋ० ३।४।६

हे (त्वष्टः) जगन्निर्माण करने वाले (देव) परमेश्वर ! त्व (रराणः) रमण कराता हुआ (नः) हमारे (तत्) उस (तुरीपम्) तारक अथवा शीघ्रकारी (अध) और (पोषयित्नु) पुष्टिकारक कर्म को (वि+स्यस्व) विशेषरूप से पूरा करा, (यतः) जिससे (कर्मण्यः) क्रियाकुशल (सुदक्षः) सुचतुर (युक्त-ग्रावा) उपदेश वाला (देवकामः) परमात्मभक्त (वीरः) वीरपुत्र (जायते) उत्पन्न होता है ।

७. य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिशद्भुवनानि विश्वा ।

तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यच्च विद्वान् ॥ ऋ० १०।११०।६
(यः) जिसने (जनित्री) सब की जनक जननी के तुल्य (इमे) इन (द्यावापृथिवी) धुलोक और पृथिवी को तथा (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों को (रूपैः) रूपों से (अपिशत्) रूपबन्धन किया है, मूर्त्त किया है (होतः) होतः=साधक । त्व

(द्विषितः) प्रेरित हुआ (यजीयान्) अतिशय यजनशील (विद्वान्) विद्वान् (तम्) उस (त्वष्टारम्) जगन्निर्माता (देवम्) भगवान् को (इह) इस संसार में (अद्य) आज (यक्षि) पूज ।

स्पष्ट ही इस मन्त्र में धावापृथिवी और सब लोक-लोकान्तरों को मूर्त्तरूप देने वाले भगवान् को 'त्वष्टा' नाम से स्मरण किया गया है ।

८. इह त्वष्टारमग्रियं विश्वरूपमुप ह्वये । अस्माकमस्तु केवलः ॥ ऋ० १।१३।१०
 मैं (अग्रियम्) सब से मुख्य (विश्वरूपम्) जिससे सब रूप होते हैं, उस (त्वष्टारम्) त्वष्टा को (उप+ह्वये) समीप चाहता हूँ, वह (केवलः) आनन्द-दायक (अस्माकम्) हमारा (अस्तु) होवे ।

यहां 'त्वष्टा' से परमेश्वर तथा भौतिक अग्नि दोनों लिए जा सकते हैं ।

९. वनस्पते स्तीर्यमा सीद बर्हिरग्निष्टोमैः संमितो देवताभिः ।

त्वष्ट्रेव रूपं सुकृतं स्वधित्यैना एहाः परि पात्रे ददश्राम् ॥ अ० १२।३।३३
 हे (वनस्पते) वनाध्यक्ष, वानप्रस्थ ! (स्तीर्यम्) बिछाए (बर्हिः) आसन पर (आ+सीद) अच्छी तरह बैठ (तू) (अग्निष्टोमैः) अग्निष्टोम यज्ञों से अथवा ज्ञान-स्तोत्रों से और (देवताभिः) दिव्यगुणों से (संमितः) एकरस निर्मित है । (त्वष्ट्रा) त्वष्टा से (सुकृतम्) उत्तमता से बनाए (रूपम्) रूपके (इव) समान (स्वधित्या) स्वशक्तिसे (एनाः) इन (एहाः) चेष्टाओं को (पात्रे) पात्र में (परि+ददश्राम्) पूर्णतः देखुं ।

वन से आये हुए किसी वनस्थ आश्रमाध्यक्ष से इस प्रकार निवेदन करना चाहिए कि हमारे बालक को सुघड़ बनाइए ।

१०. त्वष्ट्रे स्वाहा त्वष्ट्रे तुरीपाय स्वाहा त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहा ॥ य० २२।२०

(त्वष्ट्रे) त्वष्टा के लिए (स्वाहा) स्वाहा, (तुरीपाय) तारक (त्वष्ट्रे) त्वष्टा के लिए (स्वाहा) स्वाहा (पुरुरूपाय) अनेकरूपों के निर्माण करने वाले (त्वष्ट्रे) त्वष्टा के लिए (स्वाहा) स्वाहा ।

११. उत त्वं चमसं नवं त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम् । अकर्त्तं चतुरः पुनः ॥ ऋ० १।२०।६
 वे (देवस्य) विद्वान् (त्वष्टुः) त्वष्टा के, कारीगर के (नवम्) नये (निष्कृतम्) बनाए (त्वम्) उस (चमसम्) भोजनसाधन को (उत) भी (पुनः) फिर (चतुरः) चार (अकर्त्तं) करते हैं ।

१२. एकस्त्वष्टुरश्वस्य विशस्ता द्वा यन्तारा भवतस्तथ ऋतुः ।

या ते गात्राणामृतुथा कृणोमि ताता पिण्डानां प्रजुहोम्यग्नौ ॥

ऋ० १।१६।२।१६

(त्वष्टुः) छेदनकारा (अश्वस्य) विद्युत् का (एकः) एक (विशस्ता) शासक और (द्वा) दो (यन्तारा) नियंत्रण करने वाले होते हैं (तथा) उसी प्रकार (ऋतुः)

ऋतु होता है। (ते) तेरे (गात्राणाम्) अङ्गों की (या) जो क्रियायें (ऋतुथा) ऋतु के अनुसार (कृणोमि) करता हूँ (पिण्डानाम्) शरीरों की (अग्नौ) अग्नि में (ता-ता) उन-उन को (प्र+जुहोमि) उत्तमरीति से होमता हूँ।

निद्युत् का विशस्ता=मूलकेन्द्र एक=सूर्य है। इसकी नियन्ता धन और ऋण नामक दो शक्तियाँ हैं, अतएव दो तारों का प्रयोग करना पड़ता है। ऋतु भी इसी प्रकार बनती है। ऋतुओं का मूल सूर्यरूप अग्नि है उसके नियन्ता जल तथा वायु हैं। विद्युत् से ऋत्वनुकूल जो भी क्रिया की जाती है, उसका प्रभाव शरीर पर ही होता है।

‘त्वष्टृ’—शब्द की सभी विभक्तियों के रूप वेद में नहीं मिलते। द्विवचन और बहुवचन तो किसी विभक्ति का नहीं हैं। जिन विभक्तियों के रूप मिलते हैं, उनके रूपों का दिग्दर्शन करा दिया है।

[ख]

‘पोत्’ ‘होत्’ ‘नप्त्’, ‘नेष्टृ’ ‘प्रशास्त्’ आदि शब्दों के रूप ‘त्वष्टृ’—शब्द के समान चलते हैं। ‘पितृ’ ‘भ्रातृ’ आदि कुछ शब्दों के रूपों में थोड़ा सा भेद है। अतः उसके समझाने के लिए ‘पितृ’ शब्द के रूप दिखाते हैं, ताकि भेद हृदयङ्गम हो सके—

‘पितृ’—शब्द के रूप—

एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
१. पिता	पितरौ, पितरा	पितरः
सं० हे पितः	हे पितरौ	हे पितरः
२. पितरम्	पितरौ, पितरा	पितॄन्
३. पित्रा	पितृभ्याम्	पितृभ्यः
४. पित्रे	पितृभ्याम्	पितृभ्यः
५. पितुः	पितृभ्याम्	पितृभ्यः
६. पितुः	पित्रोः	पितॄणाम्
७. पितरि	पित्रोः	पितॄषु

‘पितृ’ शब्द ‘पा रक्षणे’ धातु से बनता है। इसका मुख्य अर्थ ‘रक्षक’ है। लोक में बाप को पिता कहते हैं, उसमें भी हेतु रक्षण ही है। इसके ईश्वर, राजा, ज्ञानी आदि अनेक अर्थ भाष्यकार लिखा करते हैं, उन सब अर्थों के मूल में भी रक्षा का भाव रहता है।

अब उदाहरण लीजिए—

१. पिता यज्ञानामसुरो विपश्चितां विमानमग्निर्वयुनं च वाधताम् ।

आविवेश रोदसी भूरिवर्षसा पुरुप्रियो मन्दते धामभिः कविः ॥ ऋ० ३।३।४

(यज्ञानाम्) यज्ञों=संगत व्यवहारों का (पिता) रक्षक, (असुरः) सब पदार्थों को यथास्थान ^{समामे} ^{व्यवहार} (विपश्चिताम्) विद्वानों के लिए (विमानम्)

विमानसमान (च) और (वाघताम) बुद्धिमानों के लिए (वयुनम्) ज्ञानकर्म-स्वरूप (अग्निः) ज्ञानस्वरूप, प्रकाशकों का प्रकाशक परमेश्वर (भूरिवर्पसा) अत्यन्त पराक्रम से (रोदसी) बुल्लोक और पृथिवी में=प्रकाशमय और प्रकाश-शून्य लोकों में (आ+विवेश) पूर्णतया प्रविष्ट है, पूर्णतया समा रहा है। वह (पुरुप्रियः) अनन्तों को प्यार करने वाला (कविः) सर्वज्ञ भगवान् (धामभिः) नाना धामों से (भन्दते) कल्याण करता है।

शुभ कर्मों का रक्षक परमेश्वर ही है, वह सकल संसार का रचने वाला है, ज्ञानियों के ज्ञान-कर्म का ध्येय भी वही है। वह सब जगत् में समा रहा है, वही सब का कल्याणकारी है।

२. त्वां वर्धन्ति क्षितयः पृथिव्यां त्वां राय उभयासो जनानाम् ।

त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मानुषाणाम् ॥ ऋ० ६।१।५
(क्षितयः) मनुष्य (पृथिव्याम्) पृथिवी में (त्वाम्) तुझे (वर्धयन्ति) बढ़ाते हैं। (जनानाम्) लोगों के (उभयासः) दोनों प्रकार के (रायः) धन (त्वाम्) तुझे ही बढ़ाते हैं। (तरणे) दुःख दूर करने में (त्वम्) तू ही (त्राता) रक्षक और (चेत्यः) चयन करने योग्य, जानने योग्य (भूः) होता है। तू (सदम्+इत्) सदा ही (मानुषाणाम्) मनुष्यों का (पिता) पिता और (माता), मानदाता है।

३. तुभ्यं पयो यत्पितरावनीतां राधः सुरेतस्तुरणे भुरण्यू ।

शुचि यत्ते रेक्ण आयजन्त सर्वदुधायाः पय उस्त्रियायाः ॥ ऋ० १।२२।५
(यत्) यतः (भुरण्यू) भरण-पोषण करने वाले (पितरौ) माता पिता ने (तुरणे) शोभ्रता करने वाले (तुभ्यम्) तुझे (सुरेतः) उत्तमवीर्यवर्द्धक (राधः) शक्ति-दायक (पयः) दूध (अनीताम्) प्राप्त कराया, और (यत्) यतः (ते) तुझे (सर्वदुधायाः) सर्वसुखकारक दूध देने वाली (उस्त्रियायाः) गौ का (शुचि) पवित्र (रेक्णः) धनसमान (पयः) दूध (आयजन्त) देते हैं। [अतः इनका तिरस्कार कभी मत कर]।

माता-पिता केवल उत्पन्न ही नहीं करते, वरन् पालन भी करते हैं। सन्तान को दूध देना पालना नहीं, तो क्या है ?

४. श्रोणामेक उदकं गामवाजति मांसमेकः पिंशति सूनया भृतम् ।

आ निम्रुचः शक्रदेको अपाभरत्किं स्वित्पुत्रेभ्यः पितरा उपावतुः ॥

ऋ० १।१६।१०

(एकः) एक, कोई (श्रोणाम्) लूनी लंगड़ी (गाम्) गौ को (उदकम्) जल (अव+अजति) प्राप्त कराता है और (एकः) एक, कोई (सूनया) हिंसा से (आभृतम्) प्राप्त किए (मांसम्) मांस को (पिंशति) काटता है, (एकः) एक (निम्रुचः) टिनटिमाते हुए, दुर्बल-से (शक्र) मल को, टट्टी को (अप+अभरत्) दूर करता है (पितरौ) माता-पिता (पुत्रेभ्यः) पुत्रों के लिए (किं+स्वित्) क्या

क्या (उप+अवतुः) प्रीतिपूर्वक कार्य सिद्ध करते हैं।

माता-पिता सन्तान के पालन के लिए हिंसा जैसे पाप कर्म भी करने को तत्पर हो जाते हैं। सन्तान का मलमूत्र तो साफ़ करते ही हैं। आवश्यकता पड़ने पर सन्तान के हित के लिए दूसरों के मलमूत्र उठाने में भी संकोच नहीं करते। अहो! सन्तान पर माता-पिता का कितना प्यार और उपकार है?

५. संमील्य यद्भुवना पर्यसर्पत क्व स्वित्तात्या पितरा व आसतुः।

अशपत यः करस्त्रं व आददे यः प्राब्रवीत्प्रो तस्मा अब्रवीतन ॥ ऋ० १।१६१।१२

(संमील्य) आँखें बन्द करके (यत्) जो तुम (भुवना) लोकों को [में] (पर्यसर्पत) घूम रहे हो, या जान गए हो (तात्या) उस विषय के (वः) तुम्हारे (पितरा) माता-पिता (क्व) कहाँ (आसतुः) रहते हैं। जिसको (अशपत) कोसते हो (यः) जिसने (वः) तुम्हारी (करस्त्रम्) भुजा (आददे) पकड़ी थी (यः) जिसने (प्र+अब्रवीत्) उत्तमता से बोला, बोलता है, उपदेश करता है (तस्मै) उसके प्रति (प्रो+अब्रवीतन) उत्तमता से बोलो।

गुरु से ज्ञान प्राप्त करके शिष्य देखटके संसार में विचर रहे हैं। ऐसे ज्ञान-संपन्नों को देखकर उनसे कोई पूछता है—तुम्हारे गुरु तो बहुत योग्य प्रतीत होते हैं, वे कहाँ रहते हैं? तुम्हारी गाली खाकर भी तुम्हारी भुजा जिन्होंने नहीं छोड़ी, वे महापुरुष कौन हैं? शिष्यों को चाहिए, कि ऐसे गुरुओं का आदर से नाम लें।

६. नासत्या मे पितरा बन्धुपृच्छा सजात्यमश्विनोश्चारु नाम।

युवं ह स्थो रयिदौ नो रयीणां दात्रं रक्षेथे अकवैरदब्धा ॥ ऋ० ३।५४।१६

(मे) मेरे (पितरा) पिता-माता (नासत्या) नासत्य—जिनमें असत्य नहीं है ऐसे (बन्धुपृच्छा) बन्धुओं की पूछताछ करनेवाले हैं, उनका (अश्विनोः) अश्विन-यों की भाँति (सजात्यम्) सजातीय (चारु) सुन्दर (नाम) नाम, यश, कीर्ति है। (युवम्) तुम दोनों (नः) हमारे (रयिदौ) धनदाता हो। (अकवैः) अकुत्सित कर्मों के कारण (अदब्धा) किसी से न दबने वाले तुम दोनों (रयीणाम्) धनों के (दात्रम्) दान की (रक्षेथे) रक्षा करते हो।

जिनके माता पिता सत्यवादी, बन्धुरक्षक हों, उनकी सजातीयों में अवश्य ही विमल धवल कीर्ति होती है। वे शुभ कर्म करते हुए सदा दानादि की रक्षा करते हैं।

७. स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः।

चित्रसेना इषुबला अमृधाः सतोवीरा उरवो व्रातसाहाः ॥ ऋ० ६।७५।६

(पितरः) पितर, विज्ञानी, रक्षक (स्वादुषंसदः=स्वादु-संसदः) मधुर स्थिति वाले (वयोधाः) जीवनदाता, दीर्घजीवी, कान्तिमान् (कृच्छ्रेश्रितः) कष्ट में रहते हुए भी (शक्तीवन्तः) शक्तिशाली तथा (गभीराः) गंभीर होते हैं। वे (चित्रसेनाः) अद्भुत सेना वाले (इषुबलाः) तीररूपी शक्ति वाले (अमृधाः) अहिंसक

(सतोवीराः) सच्च वीरों वाले (उरवः) बहुत, विशाल (प्रातसाहाः) आयुध-जीवी शत्रुओं को दवाने वाले होते हैं।

जो लोग 'पितृ' शब्द के बहुवचन 'पितरः' को देखकर झट 'मृतपितर' अर्थ करने लगते हैं, वे इस मन्त्र को ध्यान से देखने की कृपा करें। यहाँ जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, एक भी मृतपितरों पर लागू नहीं होता। ये तो कोई दृढ़व्रत ब्राह्मण या क्षत्रिय प्रतीत होते हैं। मृत-पितरों के पास नतीर न तलवार, और न सेना होती है, और न लड़ने का सामर्थ्य होता है। इस मन्त्र में 'वयोधाः' दीर्घजीवी विशेषण तो मृतक की कल्पना भी परे हटा देता है।

८. प्र वो महे महि नमो भरध्वमाङ्गुष्यं शवसानाय साम।

येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञा अर्चन्तो अङ्गिरसो गा अविन्दन् ॥ ऋ० १।६२।२

तुम (वः) तुम्हारे (महे) महान् (शवसानाय) ज्ञानी के लिए, बली के लिए (महि) बड़ा (आङ्गुष्यम्) विज्ञानयुक्त (नमः) नमस्कार, और अन्न (प्र+भर-ध्वम्) उत्तमता से धारण करो, दो(येन) जिसके द्वारा (नः) हमारे (पूर्वे) पूर्व, पूर्ण (पदज्ञाः) पदज्ञ=प्राप्तव्य को जानने वाले, वेदज्ञ (अङ्गिरसः) प्राणविद्या के पण्डित (पितरः) पितर, ज्ञानी, रक्षक, (अर्चन्तः) सत्कार करते हुए (गाः)

विद्याप्रकाशयुक्त वाणी को (अविन्दन्) प्राप्त करते हैं।

अपने बड़ों, विद्यावृद्धों, वयोवृद्धों की अन्नादि से सेवा करनी चाहिए। अन्नादि का उपयुक्त सेवन करके ही बड़े बड़े ज्ञानी महात्मा योगाम्यासी गंभीर विद्याओं का अभ्यास कर-करा सकते हैं।

९. नकिरेषां निन्दिता मर्त्येषु ये अस्माकं पितरो गोषु योधाः।

इन्द्र एषां दंहिता माहिनावानुद्रोत्राणि ससृजे दंसनावान् ॥ ऋ० ३।३६।४

(गोषु) गौओं के निमित्त, पृथिवियों में अथवा इन्द्रियों में (योधाः) युद्ध करने वाले (ये) जो (अस्माकम्) हमारे (पितरः) पितर=रक्षक हैं (मर्त्येषु)

मरणशीलों में, मनुष्यों में (एषाम्) इनका (निन्दिता) निन्दा करने वाला

(नकिः) कोई नहीं है। (माहिनावान्) पूजनीय, महिमावाला (इन्द्रः) अखिलैश्वर्यसम्पन्न भगवान् (एषाम्) इनका (दंहिता) दृढ़ करने वाला है।

वही (दंसनावान्) उत्तमकर्मकारी इनके (गोत्राणि) कुलों को (उत्+ससृजे) उत्पन्न करके बढ़ाता है।

यहाँ तो पितरों को स्पष्ट 'योधा' कहा है। मृतपितर कैसे लड़ सकते हैं? वे तो पृथिवी छोड़ गए, अब वे पृथिवी में या पृथिवी के लिए क्या लड़ेंगे? सचमुच जो देश, जाति या निरीह पशुओं के लिए युद्ध करते हैं अथवा जो इन्द्रियजय के लिए आध्यात्मिक युद्ध करते हैं, उनकी निन्दा कौन कर सकता है? सर्वेश्वर सर्वरक्षक परमात्मा ही ऐसे धर्मात्मा शूरीर योद्धाओं का रक्षक और उत्साहक होता है। वही इनके परिवारों, परिजनों की रक्षा, पालन-पोषण करता है।

१०. मो घृ णो अत्र जुहुरन्त देवा मा पूर्वे अग्ने पितरः पदज्ञाः ।

पुराण्योः सन्नोः केतुरन्तर्महदेवानामसुरत्वमेकम् ॥ ऋ० ३।५।१२

हे (अग्ने) ज्ञानिन् ! (पुराण्योः) पुरातन (सन्नोः) दो ठिकानों—जीव प्रकृति, विद्युत आकाश, काल अवकाश—के और (देवानाम्) पृथिवी आदि के (अन्तः) अन्दर (महत) बहुत बड़ा (एकम्) एक, अद्वितीय (असुरत्वम्) प्राणा-अयरूप (केतुः) केतु, ज्ञान-विज्ञान-संपन्न भगवान् रहता है । (अत्र) इसमें रहने वाले (नः) हम को (देवाः) विद्वान्, या पृथिवी आदि (मा) मत (घृ=सु) बहुत (जुहुरन्त) सताएँ, और (पूर्वे) पूर्व, पूर्ण (पदज्ञाः) प्राप्तव्य के जानने वाले ज्ञानी (पितरः) पितर, पालक (मा) मत सताएँ ।

इस संसार का जीवनाधार वही एक सर्वज्ञान भगवान् है । जो उसके आश्रित हो जाते हैं, संसार के जड़ चेतन—कोई भी पदार्थ उन को दुःख नहीं दे सकते ।

११. उप ते स्तोमान् पशुपा इवाकरं रास्वा पितर्मरुतां सुभ्रमस्मे ।

भद्रा हि ते सुमतिर्मृळ्यत्तमाथा वयमव इत्ते वृणीमहे ॥ ऋ० १।११।४।६

मैं (पशुपाः-इव) पशुपालक की भाँति (ते) तेरी (स्तोमान्) स्तुतियों को (उप+आ+अकरम्) समीप होकर करता हूँ । हे (मरुताम्) मरने वालों के, यह करने वालों के (पितः) पितः ! रक्षक ! (अस्मे) हमें (सुभ्रम्) सुख, शुद्ध मन (रास्वा=रास्व) दे । (ते) तेरी (सुमतिः) सुमति (भद्रा) कल्याणकारिणी और (मृळ्यत्तमा) अत्यन्त आनन्ददायिनी है, (अथा=अथ) अतएव हम (ते) तेरी (इत्) ही (अवः) प्रीति (वृणीमहे) स्वीकार करते हैं, चाहते हैं ।

भगवान् की स्तुति-प्रार्थना करते समय गर्व, अहंकार, मद, मान त्याग देना चाहिए । सचमुच भोला भाला बन कर उसकी आराधना करनी चाहिए । और उस ही की प्रीति की कामना करनी चाहिए ।

१२. द्यौश्च पितः पृथिवि मातरधुगग्ने आतर्वसवो मृळता नः ।

विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्मं बहुलं वि यन्त ॥ ऋ० ६।५।१।५

हे (द्यौः) द्यौः अथवा द्यौ के समान (पितः) पितः ! पालक ! हे (पृथिवि) पृथिवी या पृथिवीके समान (मातः) मातः ! हे (अग्ने) अग्ने या अग्निके समान (अधुग्) द्रोह न करने वाले (आतः) भाई ! हे (वसवः) वसुओं ! (मृळता=मृळत) सुख दीजिए । हे (विश्वे) सम्पूर्ण (आदित्याः) आदित्यो ! अखंडित ब्रह्मचारियो ! हे (सजोषाः) समान प्रीति करने वाली (अदिते) अदिति ! अखण्डशक्ति ! (अस्मभ्यम्) हमें (बहुलम्) बहुत बड़ा (शर्मं) आश्रय, ठिकाना, घर अथवा सुख (वि+यन्त) विशेष रूप से दो ।

वेद में अनेक स्थानों पर द्यौ को पिता और पृथिवी को माता कहा गया है । मनुष्य का मनुष्यत्व इसी में है कि वह इन सब पदार्थों से अपने सुख के साधन प्राप्त करे । ये समस्त पदार्थ भगवान् ने मनुष्य के सुख और कल्याण के

लिप बनाए हैं। इस मन्त्र में इन सब पदार्थों को संबोधन करने का यह अभिप्राय कभी नहीं कि मनुष्य इनकी पूजा करें, वरन् संबोधन का प्रयोजन यह बताना है कि ये सम्पूर्ण पदार्थ मनुष्य के वशवर्ती-आज्ञाकारी होने चाहिये, मनुष्य जब इन्हें बुलाए, तभी ये आकर मनुष्य का अभीष्ट सिद्ध कर दें। अर्थात् मनुष्य को अपने भीतर ऐसी योग्यता उत्पन्न करनी चाहिये कि वह इन प्राकृत-पदार्थों पर शासन कर सके।

१३. आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु मा नः सूर्यस्य संदृशो युयोथाः।

अभि नो वीरो अर्वति क्षमेत प्र जायेमहि रुद्र प्रजाभिः ॥ ऋ० २।३३।१
हे (मरुताम्) मरणधर्मा पदार्थों के (पितः) पितः ! हे (रुद्र) दुष्टों को रूताने वाले परमेश्वर ! (ते) तेरा (सुम्नम्) कल्याण (आ+एतु) सब ओर प्राप्त हो (नः) हमको (सूर्यस्य) सूर्य के (संदृशः) दर्शन से (मा) मत (युयोथाः) पृथक् कर। (नः) हमारा (वीरः) वीर (अर्वति) घोड़े पर (अभि+क्षमेत) पूर्ण-तया समर्थ हो सके। हम (प्रजाभिः) प्रजाओं के कारण (जायेमहि) प्रसिद्ध हों, अथवा हम (प्रजाभिः) प्रजाओं के साथ (जायेमहि) हों।

भगवान् से प्रार्थना है कि तेरा कल्याण सब ओर प्राप्त हो। हम से सूर्य प्रकाश दूर न हो, अर्थात् हम अन्धकार में न फँसें। हमारी सन्तान बलवान् हो, घुड़सवार हो। हम सन्तान के कारण प्रसिद्ध हों, अर्थात् हमारी सन्तान वीर पराक्रमी और सदाचारी हो। हम सन्तानसहित हों अर्थात् हमें सन्तान की मृत्यु न देखनी पड़े।

१४. ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवी अनेहसा।

पूषा नः पातु दुरितादृतावृधो रक्षा माकिनीं अघशंस ईशत ॥ ऋ० ६।७५।१०
हे (सोम्यासः) शान्तस्वभाव (ब्राह्मणासः) ब्रह्मनिष्ठ वेदवेत्ता (पितरः) रक्षको ! पालको ! (द्यावापृथिवी) धौ और पृथिवी (नः) हमारे लिए (शिवे) कल्याणकारी और (अनेहसा) अहिंसक हों। (ऋतावृधः) सत्य में बढ़ने बढ़ाने वाला, सत्य की उन्नति करने वाला (पूषा) पुष्टिदाता (दुरितात्) दुर्गति से (नः) हमें (पातु) बचाए। हे पूषन् ! तू हमारी (रक्षा=रक्ष) रक्षा कर, ताकि कोई (अघशंसः) पापप्रचारक (नः) हम पर (माकिः) मत (ईशत) शासन करे।

जिनके माता पिता, गुरु उपदेष्टा, रक्षक शान्तिशील, ज्ञानसंपन्न, वेदवेत्ता ब्रह्मनिष्ठ हों, उन्हें संसार में कहीं से भय की कोई संभावना नहीं होती। सर्वपोषक भगवान् उनकी रक्षा का प्रबन्ध सदा प्रस्तुत रखते हैं।

१५. बर्हिषदः पितरः उत्त्यर्वागिमा वो हव्या चक्रमा जुषध्वम्।

त आगतावसा शन्तमेनाथा नः शंयोररपो दधात ॥ ऋ० १०।१५।४
हे (बर्हिषदः) आसनासीन अथवा अन्तरिक्ष में रहने वाले (पितरः) पितरों !

पालको ! ज्ञानियो (इमा) ये (अर्वाक्) सामने पड़े हुए (हव्या) हव्य, भोक्त-
व्य पदार्थ (ऊती) प्रीतिसे (वः) तुम्हारे लिए हमने (चक्रमा=चक्रम) बनाए
हैं। इनको (जुषध्वम्) प्रीतिसे सेवन करो (ते) वे आपलोग (शान्तमेज्) अत्यन्त
शान्तिदायक (अवसा) रक्षाके साथ (आ+गत) आओ (अथा=अथ) हमें
(अरपः) निर्दोष (शंयोः) कल्याण, योगक्षेम (दधात) दो।

बर्हिषद्, अग्निष्वात्त आदि पितरों के कई भेद हैं। पितरों के सम्बन्ध में
हम इस ग्रन्थ में आगे चलकर लिखेंगे। इनके सम्बन्ध में श्री पं० शिवशङ्कर का-
व्यतीर्थ कृत 'आद्धनिर्याय' ग्रन्थ देखना चाहिए। इस मन्त्र में पितरों का जिस प्रकार
वर्णन है, वह मृतपितरों पर लागू नहीं हो सकता।

१६. आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे ।

मा हिंसिष्ट पितरः केनचिन्नो यद्वा आगः पुरुषता कराम ॥ऋ० १०.१५।६

हे (पितरः) पितरो ! पालको । (दक्षिणतः) दक्षिण ओर (जानु) घुटने
(आच्या=आच्य) टेककर (निषद्य) बैठकर तुम सब (इमम्) इस (यज्ञम्)
यज्ञ को (अभि+गृणीत) पूरीतरह वर्णन करो (यत्) जो (वः) तुम्हारा
(पुरुषता) पुरुषत्व से (आगः) अपराध (कराम) हम करें, ऐसे (केन-चित्)
किसी (दोष) से (मा) मत (हिंसिष्ट) मारो।

घुटने टेककर वेदी की दक्षिण ओर बैठने वाले, यज्ञ का पूरा उपदेश करने
वाले मृतक नहीं हो सकते। मृतक के प्रति पुरुषत्वसंबन्ध से हमारा अपराध ही
क्या हो सकता है ?

१७. अग्निष्वात्ता पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः ।

अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन ॥ऋ० १०।१५।११

हे (अग्निष्वात्ताः) अग्निष्वात्त (पितरः) पितरो, ज्ञानियो ! (इह) यहां (आ+
गच्छत) आओ। और हे (सुप्रणीतयः) उत्तम श्रेष्ठ नीतिमानो ! उत्तम-प्रकृष्ट-
व्यवहारकुशलो। (सदः-सदः) घर घर (सदत) बैठो, जाओ (बर्हिषि)
आसन पर (प्रयतानि) पवित्र (हवींषि) खाने योग्य पदार्थों को (अत्ता=
अत्त) खाओ। (अथा=अथ) और (सर्ववीरम्) सबवीरों के उपयोगी (रयिम्)
धन को (दधातन) पुष्ट करो।

अग्निष्वात्त (अग्नि-सु-आत्त) वे हैं जिन्होंने अग्नि को भली प्रकार ग्रहण
कर लिया है। अर्थात् अग्निविद्या के महा-पण्डित। इनको 'सुप्रणीति' = उत्तम-व्यवहार-
कुशल कहा गया है, मृतक कैसे व्यवहारकुशल होंगे ? घर घर जाना, उत्तम
पदार्थ खाना तथा सब वीरों के उपयोगी धनको पुष्ट करना मृतकों में कैसे संभव
हो सकता है ? ये सारे लक्षण तो जीवितों में ही मिल सकते हैं।

१८. पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम् ।

अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं समचक्रे षड् आहुरपितम् ॥ ऋ१।११६।१२

(पञ्चपादम्) पाँच—क्षण, मुहूर्त, पहर, दिनरात और पक्षरूपी—पैरों वाले (पितरम्) पालक (द्वादशाकृतिम्) बारह महीने रूपी आकार वाले (पुरी-विणम्) साथ मिले हुए पदार्थों के संयोग-विभाग के निमित्त [संवत्सर] को (दिवः) प्रकाशमान सूर्य के (परे) परले (अर्द्धे) भाग में (आहुः) बताते हैं। (अथ) और (इमे) ये (अन्ये) दूसरे विद्वान् उस (विचक्षणम्) वाणीगोचर को (षडरे) छः ऋतुरूपधरों वाले (सप्तचक्रे) सात चक्रोंवाले (उपरे) मेघ में (अर्पितम्) स्थापित (आहुः) कहते हैं।

इस मन्त्र में संवत्सर, सूर्य तथा जीवात्मा का वर्णन है। संवत्सर-पक्ष में जो अर्थ बनता है, वह ऊपर दे दिया गया है। संवत्सर या काल वाणीका विषय है, अर्थात् चर्मचक्षुओं से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। संसारके अनेक कारणों में से काल भी अन्यतम कारण है। संवत्सरात्मक काल की स्थिति सूर्य और वृष्टि के अधीन है।

सूर्यपक्ष में अर्थ स्पष्ट ही है। द्वादशाकृति बारह आदित्य=मास हैं। सात चक्र=सूर्य की सात किरणें हैं।

जीवपक्ष में—पञ्चपाद—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। द्वादशाकृति—कार्य के बारह साधन—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, एक मन और एक शरीर—हैं। पाँच पादों से पञ्चकोष—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय—भी लिए जा सकते हैं। छः अरे पाँच—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—महाभूत और छठा मन हैं। सात-चक्र ब्रह्मरन्ध्र को छोड़ कर शेष सात चक्र हैं।

१६. अवः परेण पितरं यो अस्यानुवेद पर एनावरेण ।

कवीयमानः क इह प्रवोचदेवं मनःकुतो अधि प्रजातम् ॥ ऋ० १।१६४।१८
(यः) जो (परेण) पर, उत्कृष्ट कारण के द्वारा (अवः) अवर-कार्य रूप (पितरम्) पालक—अग्नि को (अनुवेद) जानता है और वह (पना) इस (अवरेण) अवर के द्वारा (परः) पर को-उत्कृष्ट को जानता है (कवीयमानः) क्रान्तदर्शियों का सा आचरण करता हुआ (कः) कौन (इह) इस संसार में (अधि+प्र+वोचत्) अधिकारपूर्वक भलीभाँति कह सकता है कि (देवम्) दिव्य-गुण (मनः) मन (कुतः) कहाँ से (प्रजातम्) उत्पन्न हुआ है।

कार्य से कारण को जानना, या कारण से कार्य को जानना यह अनुमान प्रमाण के अभ्यास से संभव हो सकता है। सच्चे विद्वान् वही हैं, जो कार्यकारण के तत्त्व को जानते हैं। किस कारण से क्या क्या कार्य बन सकते हैं, कौन कौन कार्य पदार्थ किस किस कारण पदार्थ से बना है, इसका जानना विज्ञान का प्रथम आधार है। वेद ने यहाँ अग्नि का दृष्टान्त देकर यह तत्त्व समझाया है। मन्त्र के दूसरे अर्थ में काकु से 'मन' के अकार्य होने का संकेत किया है।

२०. यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे ।

तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वे तन्नानिशधः पितरं न वेद ॥ ऋ० १।१६४।२२

(यस्मिन्) जिस (वृक्षे) वृक्ष पर—प्रकृतिरूपी वृक्ष पर, संसाररूपी वृक्ष पर (विश्वे) सब (मध्वदः) मधुर-कर्मफल-खाने वाले (सुपर्णाः) जीवरूपी पक्षी (नि+विशन्ते) बैठते हैं (च) और (अधि+सुवते) उत्पन्न होते या उत्पन्न करते हैं। (तस्य) उस वृक्ष के (पिप्पलम्) फल को (अग्रे) पहले (स्वादु) स्वादु (इत्) ही (आहुः) कहते हैं। (तत्) वह फल (न) नहीं (उत्+नशत्) ऊपर ऊपर नष्ट होता। और (तत्) उस फल को वह (न) नहीं (उत्+नशत्) उत्तमता से प्राप्त कर सकता (यः) जो (पितरम्) पिता को, परमात्मा को (न) नहीं (वेद) जानता है।

संसार वृक्ष पर ही जीव रहते, उत्पन्न होते और सन्तान उत्पन्न करते हैं। इस संसार का फल पहले पहले मीठा लगता है। यह कर्म नष्ट नहीं होता, जब तक इसका फल भोग नहीं लिया जाता। और इस संसार का मुख्यफल—मोक्ष—तो उसको मिल ही नहीं सकता, जो भगवान् को नहीं जानता।

२१. यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः ।

विश्वे देवा अनु तद्वामजानन् पुत्रः पितराववृणीत पूषा ॥ ३० १०।८५।१४
हे (अश्विना) हे अश्वियो ! (पृच्छमानौ) पूछते हुए तुम दोनों (यत्) जो (त्रिचक्रेण) तीन चक्रों वाले रथ से Tricycle से (सूर्यायाः) सूर्य के (वहतुम्) विवाह में (अयातम्) आये हो (तत्) उसकी (वाम्) तुम दोनों को (विश्वे) सब (देवाः) देवों ने (अनु+अजानन्) अनुमति दी है। (पूषा) पूषा (पुत्रः) पुत्र ने (पितरौ) पितरों को—अश्वियों को (अवृणीत) वरा है। सूर्योदय का सुन्दर आलङ्कारिक वर्णन है।

२२. वैश्वानरस्य दंसनाभ्यो बृहदरिणादेकः स्वपस्यया कविः ।

उभा पितरा महयन्नजायताग्निर्द्यावापृथिवी भूरिरेतसा ॥ ३० ३।३।११
(कविः) ज्ञानी (एकः) अकेला ही (स्वपस्यया) अपनी सुकर्मच्छा से (वैश्वानरस्य) सर्वत्र विराजमान अग्नि की (दंसनाभ्यः) दर्शनीय रूप-क्रियाओं से (बृहत) बड़ा [लाभ] (अरिणात्) प्राप्त करता है। (भूरिरेतसा) बड़ी शक्ति वाले, अथवा महान् जल वाले अन्तरिक्ष के साथ (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवारूपी (उभा) दोनों (पितरा) माता-पिता=पालकों को (महयन्) महान् करता हुआ, सत्कृत करता हुआ (अग्निः) सूर्यरूप-अग्नि (अजायत) प्रकट होता है।

यह हम पीछे बता आए हैं कि वेदमें द्यावापृथिवीको पिता-माता कहा जाता है, यहाँ भी द्यावापृथिवी को पितरौ कहा गया है। अग्नि=सूर्य के कारण ही इनका महत्त्व है। वेद कहता है। जिस प्रकार सूर्य इन को अकेला ही महत्त्वशाली बना कर स्वयं महिमावाला है। इसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य भी अग्निआदि से विविध कार्य लेकर उनके और अपने गौरव का कारण बनता है।

२३. पुनर्ये चक्रुः पितरा युवाना सना यूपेव जरणा शयाना ।

ते वाजो विभ्वाँ ऋभुरिन्द्रवन्तो मधुप्सरसो नोऽवन्तु यज्ञम् ॥

ऋ० ४।३३।३

(ये) जो (शयाना) लेटे हुए (जरणा) बूढ़े (सना) समादरणीय (पितरा) माँ बाप को (पुनः) फिर (यूपा इव) खंभों की भाँति हृष्ट-पुष्ट (युवाना) जवान (चक्रुः) कर देते हैं, (ते) वे (वाजः) बलवान् (विभ्वा) विभूतिमान् और (ऋभुः) मेधावी (इन्द्रवन्तः) इन्द्र वाले=परमेश्वर वाले और (मधुप्सरसः) मधुर पसारे वाले होते हुए (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञ को (अवन्तु) सिद्ध करें ।

योग्य सन्तान माता-पिता को बुढ़ापे का अनुभव नहीं होने देते ।

उत्तरार्ध का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—(ते) वे (इन्द्रवन्तः) परमेश्वरभक्त (मधुप्सरसः) सुन्दररूप वाले (नः) हमारे यज्ञ को (अवन्तु) सिद्ध करें, और उसके फलस्वरूप मैं (विभ्वा) विभु=व्यापक परमेश्वर के संग से (वाजः) बलवान् और (ऋभुः) ज्ञानवान् बन जाऊँ ।

किंचित् ध्यान कीजिए, मन्त्र में एक विशेष बात कही है । जो माँ बाप को पुनः जवान बनाने वाले महानुभाव हमारे यज्ञको सिद्ध करें, उनमें बल, विभूति तथा ज्ञान होना चाहिए । अर्थात् वे शारीरिक, मानसिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति के धनी हों । दूसरे शब्दों में यज्ञ भी शरीर, मन, आत्मा तथा समाज की उन्नति के साधन का नाम है ।

‘अवन्तु, अवन्ति, अवति’ आदि पद ‘अव’ धातु के रूप हैं । ‘अव्’ धातु के निम्नलिखित अर्थ हैं—

रक्षण=रक्षा करना, गति=गमन, कान्ति=कामना करना, प्रीति=प्रेम करना, तृप्ति=तृप्त होना, अवगम=ज्ञानना, प्रवेश=घुसना, अवण=सुनना, स्वाम्यर्थ=स्वामी का कार्य करना, पेश्वर्थ करना, याचन=माँगना, क्रिया=करना, सिद्धकरना, इच्छा=चाहना, दीप्ति=चमकना चमकाना, अवाप्ति=प्राप्त करना, आलिङ्गन=लिपटना, गले लगाना, हिंसा=मारना, दान=देना, भाग=बाँटना, सेवा करना, प्रयोग करना, वृद्धि=बढ़ना बढ़ाना ।

जहाँ जहाँ ‘अव’ धातु का प्रयोग हो, वहाँ वहाँ प्रसंगानुसार इन उन्नीस अर्थों का उपयोग लेना चाहिये ।

२४. आ तत्ते दत्त मन्तुमः पूषन्नवो वृणीमहे । येन पितृनचोदयः ।

ऋ० १।४२।५

हे (दत्त) दुष्टनाशक ! (मन्तुमः) मननशील (पूषन्) पुष्टिकारक ! (ते) तेरी (तत्) वह (अतः) रक्षा, प्रीति, अवगति (वृणीमहे) हम चाहते हैं (येन) जिसके द्वारा (पितृन्) पितरों, (नचोदयः) प्रेरणा करता है ।

२५. आहं पितृन्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः ।

बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥३० १०।१५।३
(अहम्) मैं (सुविदत्रान्) उत्तम ज्ञान देने वाले, उत्तम दानी (पितृन्) पालकों को (च) और (विष्णोः) सूर्य के (नपातम्) नपात=न गिरने के कारण को (च) और (विक्रमणम्) किरणप्रसार को (आ+अवित्सि) अच्छी प्रकार जानता हूँ । (ये) जो (बर्हिषदः) आकाशविद्या के ज्ञानी (स्वधया) स्वशक्ति से (सुतस्य) सिद्ध किए, तैय्यार किए (पित्वः) अन्न का (भजन्ते) सेवन करते हैं (ते) वे (इह) यहाँ (आगमिष्ठाः) आवें ।

यहाँ 'पितृन्' का विशेषण 'सुविदत्रान्=उत्तम ज्ञान देने वाले, उत्तमदानी' विशेष विचारने योग्य है । मन्त्र के दूसरे चरण में सूर्य के किरणप्रसार की चर्चा है, उसको ध्यान में रखें, तो इस मन्त्र में प्रयुक्त 'पितृन्' शब्द का अर्थ 'ऋतुप' बनता है । 'ऋतुप' नाना प्रकार के सुखों का दान तथा विविध ज्ञान कराती हैं । ब्राह्मण ग्रन्थों में 'पितृ' शब्द का यह अर्थ उल्लिखित भी है । यथा—पङ्वा ऋतवः पितरः (श० ६।४।३।८) छः ऋतुप पितृशब्दवाच्य हैं । 'बर्हिः' शब्द निघण्टु में 'अन्तरिक्ष' के नामों में पढ़ा गया है । 'बर्हिषदः' शब्द का अर्थ हुआ—अन्तरिक्ष या आकाश में रहने वाले, अन्तरिक्ष को जानने वाले । जो ऋतुओं और सूर्य-किरण-प्रसार की विद्या जानता है, वह अन्तरिक्ष-विद्या के पण्डितों को बुला रहा है । इन पण्डितों के संबन्ध में एक विशेष बात इस मन्त्र में कही गई है कि वे बर्हिषद् आप जो अपनी कमाई खाते हों, अर्थात् जो केवल पहले ग्रन्थों के ही पण्डित न हों, वरन् जिन्होंने स्वयं भी कोई अनुसन्धान, खोज, अन्वेषण, research किया हो ।

इस मन्त्र में आप हुए 'आगमिष्ठाः' पद में दो व्यत्यय हुए हैं । एक तो साधारणतः लोक में 'गम्' धातु परस्मैपदी है, किन्तु यहाँ इसे आत्मनेपदी का रूप दिया गया है । दूसरा-यहाँ मध्यम पुरुष के बहुवचन के स्थान में एकवचन का प्रयोग हुआ है । वेद और ब्राह्मणों में ऐसे व्यत्यय (उलट फेर) हुआ ही करते हैं । ये व्यत्यय लौकिक संस्कृत की दृष्टि से हैं । जैसा कि महाभाष्यकार महा-मुनि श्री पतञ्जलिजी ने पाणिनि महर्षि के शब्दानुशासन (अष्टाध्यायी) के १।४।६ [पृथीयुक्तश्छन्दसि वा] सूत्र पर भाष्य करते हुए लिखता है—

वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति । सुपां व्यत्ययः, तिङां व्यत्ययः, वर्णव्यत्ययः, लिंगव्यत्ययः, कालव्यत्ययः, पुरुषव्यत्ययः । आत्मनेपदव्यत्ययः, परस्मैपदव्यत्ययः ।

सुपां व्यत्ययः—'युक्ता मातासीद्भुरि दक्षिणायाः' । दक्षिणायामिति प्राप्ते ।

तिङां व्यत्ययः—'चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति' । तक्षन्ति इति प्राप्ते ।

वर्णव्यत्ययः—'त्रिष्टुभौजः शुभितमुग्रवीरसु' । सुहितमिति प्राप्ते ।

लिंगव्यत्ययः—'मधोर्गृह्णाति', 'मधोस्तृप्ता इवासते' । मधुनः इति प्राप्तौ ।

कालव्यत्ययः—‘श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन’ ‘श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन’ । श्व
आधाता, श्वो यष्टा इति प्राप्ते ।

पुरुषव्यत्ययः—‘अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः’ । वियूयादिति प्राप्ते ।

आत्मनेपदव्यत्ययः—‘ब्रह्मचारिणमिच्छते’ । इच्छति इति प्राप्ते ।

परस्मैपदव्यत्ययः—‘प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति’ ‘अन्वीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति’ ।

युध्यते इति प्राप्ते ।

अर्थात्—‘छन्दः’=वेद में सभी विधियाँ विकल्पसे होती हैं। सुपों का व्यत्यय, तिङों का व्यत्यय, वर्णव्यत्यय, लिङ्गव्यत्यय, कालव्यत्यय, पुरुषव्यत्यय, आत्मनेपदव्यत्यय, और परस्मैपदव्यत्यय होते हैं। [अब इनके उदाहरण लीजिए] सुपों का व्यत्यय—‘युक्ता मातासीद्भुरि दक्षिणायाः’ । इसमें ‘दक्षिणायाम्’ चाहिए। तिङों का व्यत्यय—‘चपलं तक्षति’ । यहाँ ‘तक्षन्ति’ चाहिए। वर्णव्यत्ययः—‘त्रिष्टु...शुभित...’ । ‘सुहितम्’ चाहिए, उसके स्थान में ‘शुभितम्’ है। लिङ्गव्यत्ययः—‘मधो...इवासते’ । ‘मधुनः’ चाहिए। ‘मधु’ शब्द नपुंसकलिंग है। उसका पंचमी और षष्ठी विभक्ति के एकवचन में लौकिक संस्कृत में ‘मधुनः’ रूप बनता है। वैदिक भाषा में पुल्लिङ्ग उकारान्त ‘भानु’ शब्द के ‘भानोः’ की भाँति ‘मधोः’ भी रूप होता है। कालव्यत्ययः—‘श्व...यक्ष्यमाणेन’ । यहाँ ‘आधाता’, और ‘यष्टा’ रूप लकारव्यत्यय से हुए हैं। इसको आगे समझाया जाएगा। पुरुषव्यत्ययः—‘अधा...वियूयाः’ । यहाँ ‘वियूयात्’ चाहिए, क्योंकि ‘सः’ प्रथमपुरुष का एकवचन है। आत्मनेपदव्यत्ययः—‘ब्रह्म...इच्छते’ । यहाँ ‘इच्छति’ होना चाहिए क्योंकि ‘इप्’ धातु परस्मैपदी है। परस्मैपदव्यत्ययः—‘प्रतीप...युध्यति’ । यहाँ ‘युध्यते’ चाहिए। दिवादिगण का ‘युध’ धातु आत्मनेपदी है। यह दिग्दर्शन मात्र है। व्यत्यय और भी होते हैं। यास्काचार्य, स्कन्दस्वामी, वेंकटमाधव, सायण, उव्वट, महीधर, स्वामी दयानन्दसरस्वती आदि सभी प्राचीन अर्वाचीन भाष्यकारों ने इस प्रकार के व्यत्यय माने हैं। काल पाकर धीरे धीरे भाषा में परिवर्तन होता है। सर्गारम्भ में मनुष्य वैदिक भाषा बोलते थे, उसमें क्रमशः परिवर्तन होता गया। महर्षि पाणिनि जी ने, जो व्याकरण के अतिरिक्त भाषाविज्ञान तथा भाषाशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे, लौकिक भाषा के क्रमविकासहास का विवेचन करते हुए उसका उसकी मूलभूता वैदिक भाषा के साथ संबन्ध दिखाने के लिए दोनों का एक ही व्याकरण बनाया। उसमें लौकिक भाषा से वेद के शब्दों का जो कोई विशेष भेद है, उसको भी उन्होंने बतला दिया। वेद तथा वेद की शाखाओं और ब्राह्मणों के विशेष रूपों का उल्लेख भी कर दिया। इसी इस उपयोगिता के कारण ही लौकिक वैदिक साहित्य के अगाध विद्वान् महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है सर्ववेदपाठिष्वपि सर्वशब्देषु पाणिनि जी का यह व्याकरण शास्त्र सब वेदों का व्याकरण है।

२६. नाहं तन्तुं न विजानाम्योतुं न यं वयन्ति समरेऽतमानाः ।

कस्यस्वित्पुत्र इह वक्त्वानि परो वदात्यवरेण पित्रा ॥ ऋ० ६।६।२
(यम्) जिस तन्तु को (अतमानाः) भ्रमणशील (समरे) संग्राम में=जीवन-संग्राम में (न) नहीं (वयन्ति) बुन सकते, विस्तृत कर सकते, प्राप्त कर सकते । (अहम्) मैं (तन्तुम्) उस तन्तु को (ओतुम्) तनना बुनना (न) नहीं (वि+जानामि) जानता हूँ, यह बात (न) नहीं है, अर्थात् अवश्य जानता हूँ । (कस्य+स्वित्) किस का (परः) पराया (पुत्रः) पुत्र (अवरेण) दूसरे (पित्रा) पिता के साथ (इह) यहां, इस विषय में (वक्त्वानि) कहने योग्य बातें (वदाति) कह पाता है ।

निरन्तर घूमने वाले, या जीवनसंग्राम में जूझने वाले मनुष्य भले ही अपना कोई योग्य शिष्य न बना पाएँ, किन्तु जो स्थिर होकर एक स्थान पर रहता है, वह न बना सके, यह बात नहीं । कौन किसका पुत्र है, इसका निर्णय करना कठिन है, किन्तु दूसरा पिता=विद्यादाता तो असन्दिग्ध और निश्चित होता है । वैदिक आर्य्य सिद्धान्त में गुरु को भी पिता माना जाता है ।

२७. शतं मेषान् वृक्ये मामहानं तमः प्रणीतमशिवेन पित्रा ।

आक्षी ऋज्राश्चे अश्विनावधत्तं ज्योतिरन्धाय चक्रथुर्विचक्षे ॥ ऋ० १।११७।१७
(अश्विनेन) दुष्ट (पित्रा) पिताने, पालकने (वृक्ये) वृकी=मेड़ी[खी मेड़िया] के प्रति (शतम्) सौ (मेषान्) मेड़ें (मामहानम्) बार बार देने वाला (तमः) अन्धकार (प्रणीतम्) फैलाया है । हे (अश्विनौ) अश्वियो ! (ऋज्राश्चे) ढीली ढाली इन्द्रियों वाले में (आक्षी) दो आंखें (आ+अधत्तम्) ढालो और (अन्धाय) अन्धे को (विचक्षे) देखने के लिए (ज्योतिः) प्रकाश (चक्रथुः) करो, दो ।

यहां 'अश्विनौ' वैद्य अथवा राजकर्मचारी प्रतीत होते हैं । अन्याय फैलाना ऐसा ही है, जैसे मेड़िये को सैंकड़ों मेड़ें अर्पण कर देना । ऐसे अन्धकारप्रसारक की आंखें खोलनी चाहिएं, ताकि उसे अपना अन्याय=पाप प्रत्यक्ष हो सके । 'अश्विनौ' को देववैद्य कहा जाता है, वे अन्धे को आंखें दे सकते हैं । वैद्य पक्ष में अश्विनौ का दो वैद्य अर्थ होगा, एक शल्यशालाकभिपक्=Surgeon सर्जन=चीर-फाड़ करने वाला । और दूसरा औषधादिचिकित्सक Physician=दवाई का प्रयोग करने वाला । वेद का इन दोनों को एक शब्द से कहने का विशेष प्रयोजन है कि दोनों एक दूसरे के पूरक, सहायक, सहयोगी Complementary हैं ।

२८. उतो पितृभ्यां प्रविदानु घोषं महो महद्भयामनयन्त शूषम् ।

उत्ता ह यत्र परिधानमक्तोरनु स्वं धाम जरितुर्ववक्ष ॥ ऋ० ३।७।६
(पितृभ्याम्) माता पिता के द्वारा (प्रविदा) प्रकृष्ट ज्ञान या उत्तम प्राप्ति के

(अनु) अनुकूल (घोषम्) घोष=वाणी को (उतो) और (महद्भ्याम्) बड़ों— उपदेशक आचार्य—के द्वारा (महः) महान् (शूषम्) बल को—विद्याबल को (अनयन्त) प्राप्त करें (यत्र) जहाँ (उक्षा) सींचने में समर्थ गुरु (अक्तोः) रात्रि की=आनन्द की (परि) सब प्रकार की (धानम्) धारणशक्ति को (जरितुः) स्तोता के, ब्रह्मचारी के (स्वम्) अपने (धाम) तेजके, धारण बल के (अनु+ववक्ष) अनुकूल प्राप्त करता है।

बालक को वाणी माता-पिता के ज्ञान के अनुकूल ही प्राप्त होती है। अर्थात् बालक की स्वाभाविक भाषा वही है, जो उसने माता पिता से सीखी है। उस भाषा तथा उसके ज्ञान में शक्ति उपदेशक तथा गुरु की कृपा से आती है। जैसा ब्रह्मचारी में सामर्थ्य होता है, उसके अनुसार ही विद्यासिचनसमर्थ गुरु उसे विद्यारस प्राप्त कराता है।

हमने 'पितृभ्याम्' 'पितरौ' आदि द्विवचनान्त शब्दों का अर्थ 'माता पिता के द्वारा' आदि किया है। आपाततः 'दो पिताओं के द्वारा' अर्थ होना चाहिए। यह अर्थ हमने पाणिनि जी के 'पिता मात्रा' (१-३-७०) सूत्र के अनुसार किया है। इस सूत्र का अर्थ है—'मात्' शब्द के साथ 'पितृ' शब्द एकशेष होता है। जैसे 'माता च पिता च' इसका रूप जहाँ 'मातापितरौ' बनता है, वहाँ 'पितरौ' भी बनता है। अर्थात् 'पितरौ' का अर्थ 'मातापितरौ' होगा और 'पितृभ्याम्' का अर्थ 'मातापितृभ्याम्' होगा।

२६. त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आततन्थ ।

तस्मै त इन्द्रो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ऋ० ८।४८।१३
हे (सोम) सोम ! (त्वम्) तू (पितृभिः) पालकशक्तियों के साथ, अथवा ऋतुओं के साथ (संविदानः) एकता को प्राप्त हुआ, मिलता हुआ (द्यावा-पृथिवी) द्यौ और पृथिवी के (अनु) अनुकूल (आततन्थ) सब ओर विस्तार करता है। हे (इन्द्रो) पेश्वर्यसंयुक्त ! शोभायुक्त ! (तस्मै) उस (ते) तेरे लिए हम (हविषा) उचित भोजनादि के द्वारा (विधेम) परिचर्या करें, जिससे (वयम्) हम (रयीणाम्) धनों के (पतयः) स्वामी (स्याम) होंगे।

सोम=शान्तिशील, चरमज्ञानयुक्त महात्मा अपनी पालकशक्तियों से युक्त हुआ समस्त संसार पर अपनी सुशीलता, शान्ति का प्रसार करता है, हमें उस का आदर करना चाहिए। ताकि सब प्रकार के धनों के हम स्वामी हो सकें।

सोम=चन्द्रमा ऋतुओं के साथ अपनी कान्ति सर्वत्र फैलाता है। अर्थात् ऋतुनिर्माण का एक कारण चन्द्रमा भी है। चन्द्रमा की उचित भोजन द्वारा पूजा करनी चाहिए। अर्थात् ऋतुनुकूल भोजन करके चन्द्र से लाभ उठाना चाहिए। तभी हम सब प्रकारके धनों से धनी होंगे। किसी वस्तु से ठीक ठीक उपयोग लेना ही उसकी परिचर्या है।

३०. इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः ।

आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन् हविषा मादयस्व ॥

ऋ० १०।१४।४

हे (यम) सब को नियमव्यवस्था में रखने वाले राजन् ! (अङ्गिरोभिः) रसमय=ज्ञानरस से सने अथवा प्राणशक्तिसंपन्न (पितृभिः) पालकों, विचारकों के साथ (संविदानः) विचारकरता हुआ तू (इमम्) इस (प्रस्तरम्) विस्तृत [राजासन] पर (आ+सीद्) बैठ, अधिकार कर (हि) ही । (त्वा) तुझको (कविशस्ताः) क्रान्तदर्शियों के उपदिष्ट (मन्त्राः) उत्तम विचार (आ+वहन्तु) प्राप्त हों, धारण करें । हे (राजन्) राजन् ! (एना) इस (हविषा) कररूप हवि से (मादयस्व) आनन्दित कर ।

‘यम’ का अर्थ है नियम में रखने वाला । महर्षि ने अनेक स्थानों पर इस का अर्थ ‘राजा’ लिखा है । इसी मन्त्र में उसे ‘राजन्’ कहा गया है, अतः ‘यम’ का अर्थ ‘राजा’ अत्यन्त सुसंगत है । ‘अङ्गिरोभिः’ का अर्थ हमने ‘ज्ञानरस से सने अथवा ‘प्राणशक्तिसंपन्न’ किया है । इसमें निम्नलिखित प्रमाण हैं—अङ्गिरसं मन्यन्ते अज्ञानां यद्रसः’ (छा० उ० १।२।१०) अंगों के रसको ‘अङ्गिरः’ कहते हैं । ‘प्राणो वा अङ्गिरः’ (छ. ६।१।२२८) प्राण ही अङ्गिरा है ।

राजा को विचार ज्ञानियों, जीवनवालों से करना चाहिए । ‘पितृभिः’ शब्द संकेत करता है कि राजा के मन्त्री वृद्ध होने चाहिए । वृद्धों में धैर्य की मात्रा पर्याप्त होती है । मन्त्री विद्यावृद्ध हों, वयावृद्ध हों, साथ ही जीवनीशक्तिसंपन्न भी हों । राजा सदा ज्ञानियों से मन्त्रणा करता रहे, और उसके अनुसार व्यवहार करता रहे । राजा प्रजा से जो कर ले, उसे प्रजा के हित में लगा दे ।

३१. सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्त्तेन परमे व्योमन् ।

हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ॥ ऋ० १०।१४।८

(पितृभिः) ज्ञानियों के साथ (सं+गच्छस्व) संगति कर (यमेन) यम=राजा के साथ (सम्+संगच्छस्व) मेलकर और (परमे) सर्वश्रेष्ठ (व्योमन्) आकाशमें-हृदयाकाशमें (इष्टापूर्त्तेन) इष्ट और पूर्त्त के साथ संगति कर (अवद्यम्) निन्दनीय [आचरण] को (हित्वाय) छोड़कर (पुनः) फिर (अस्तम्) घर को (एहि) जा । और (सुवर्चाः) अत्यन्त तेजस्वी होता हुआ तू (तन्वा) शरीर से (सं+गच्छस्व) अच्छी तरह युक्त हो ।

‘इष्ट’ यज्ञादिकों का नाम है, ‘पूर्त्त’ कुंआ, तालाब, धम्मशालादि बनाने का नाम है । ज्ञानियों और राजा की संगति का फल यह होना चाहिए, कि मनुष्य का हृदय इष्टापूर्त्त=परोपकार की भावना से भरपूर हो । मनुष्य को सब प्रकार के निन्दनीय आचरण छोड़ देने चाहिए और शरीर को खूब पुष्ट करना चाहिए ।

३२. इदं पित्रे मरुतामुत्थते तन्वाः स्वादीयो रुद्र वर्धनम् ।

रास्वा च नो अमृत मर्तभोजनं त्मने तोकाय तनयाय मृळ ॥ ऋ० १।११४।६
 (मरुताम्) याज्ञिकोंके, प्राणोंके (पित्रे) रक्षक के प्रति (इदम्) यह वचन कहा जाता है कि हे (रुद्र) रुद्र ! (स्वादोः) स्वादु से (स्वादीयः) अधिकस्वादु (वर्धनम्) वृद्धिकारक (मर्तभोजनम्) मनुष्य के योग्य भोजन (च) अन्य सामग्री (नः) हमें दे। और हे (अमृत) अविनाशिनः ! जीवनदातः ! (त्मने) अपने लिए (तोकाय) पुत्रके लिए (तनयाय) पौत्र के लिए (मृळ) कृपाकर। 'मरुत' शब्द का एक अर्थ वायु है। वेद में मरुतों और रुद्र का पारस्परिक सम्बन्ध अनेक स्थानों पर वर्णित हुआ है। रुद्र को मरुतों का पिता कहा गया है। उपनिषदों और ब्राह्मणों में ग्यारह रुद्र गिनाए गए हैं—दस प्राण और ग्यारहवाँ जीवात्मा। जब तक जीवात्मा का शरीर में प्रवेश न हो प्राणों का प्रवेश नहीं होता, जीवात्मा के शरीर से निकलने पर प्राण भी तत्काल निकल जाते हैं। प्रश्नोपनिषत् तथा शतपथब्राह्मण में प्राणों के द्वारा मुख्य प्राण=जीवात्मा को 'पिता' करके सम्बोधन कराया गया है। साधक अपने जीवात्मा से कहता है, अच्छे से अच्छा भोजन जुटा। किन्तु उसका लक्ष्य होना चाहिए, अपना तथा सन्तान का हित। ऐसा भोजन न खाना चाहिए, जिससे अपना और अपनी सन्तान का अनिष्ट हो। भोजनसम्बन्ध में वेद के इस उपदेश की उपेक्षा करने से संसार में बहुत अनर्थ हो रहे हैं। आत्मा अमृत है, किन्तु यहां 'मर्तभोजन' जुटाने की बात कही गई है। भोजन इन्द्रियों और शरीर को चाहिए, वे मर्त हैं, मरणधर्मा हैं। शरीर और इन्द्रियों को जो भी भोजन दिया जाता है, उसका आत्मा पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। यह तत्त्व यहां ध्वनि से समझाया गया है।

रुद्र का अर्थ वैद्य भी होता है, अग्नि भी होता है।

३३. कुमारं माता युवतिः समुब्धं गुहा विभर्त्ति न ददाति पित्रे ।

अनीकमस्य न मिनज्जनासः पुरः पश्यन्ति निहितमरतौ ॥ ऋ० ५।२।१

(युवतिः) युवति (माता) मां (समुब्धम्) अत्यन्त गुप्त (कुमारम्) बालक को (गुहा) गर्भाशय रूपी गुफा में (विभर्त्ति) धारण करती है, किन्तु उसके (पित्रे) पिता के लिए [को] (न) नहीं (ददाति) देती है ताकि (अस्य)

इस का (अनीकम्) बल (न) न (मिनत्) नष्ट होवे। (जनासः) लोग-समझदार लोग (अरतौ) अरति में=भोग से विरति में (निहितम्) स्थित उसको (पुरः) पहले सामने (पश्यन्ति) देखते हैं।

जब स्त्री को गर्भ होजाए, अत्यन्त सावधान होकर उस गर्भगत बालक की रक्षा करनी चाहिए। उस समय माता उस बालक के पिता को अपना आपा न दे। नहीं तो गर्भगत बालकरूप उसका बल नष्ट हो जाएगा। ज्ञानी लोग समझते हैं, कि ऐसे समय भोग न करने में ही स्वशक्ति और स्वसन्तान की रक्षा होती है।

३४. पित्रे चिचक्रुः सदनं समस्मै महि स्विषीमत् सुकृती वि हि ख्यन् ।

विष्कभ्रन्तः स्कम्भनेना जनित्री आसीना ऊर्ध्वं रभसं विमिन्वन् ॥

ऋ० ३।३।१२

जो (अस्मै) इस (पित्रे) पिता के लिए (चित्) भी (महि) बड़ा और (त्विषी-मत) प्रकाशयुक्त (सदनम्) घर (सं+चक्रुः) भली प्रकार बना देते हैं, वे (हि) सचमुच, ही (सुकृतः) सुकर्मवाले (वि+ख्यन्) विशेषरूपसे प्रसिद्ध होते हैं। वे (आसीनाः) बैठे हुए (स्कम्भनेना=स्कम्भनेन) धारणशक्ति से (जनित्री) जगत के मातापिता-रूपी द्यावापृथिवी को (विष्कभ्रन्तः) विशेष रूप से धारण करते हुए, धामते हुए, (रभसम्) वेग को, शक्ति को (ऊर्ध्वम्) ऊपर (वि+मिन्वन्) विशेषरूप से, विविध दिशाओं में फँकते हैं।

माता पिता का सत्कार करने वाले, सेवा करने वाले सचमुच सुकृती हैं। उनकी कीर्ति और शक्ति सर्वत्र फैली रहती है, वे उच्च पद प्राप्त करके सर्वत्र शक्ति का प्रयोग करते हैं।

पूर्वार्ध का एक अर्थ और भी है—जो (सदनम्) हृदयरूपी घर को (अस्य) इसलोक प्रसिद्ध (पित्रे) जगत्पिता के लिए (महि) महान् और (त्विषीमत) प्रकाशवान् बनाते हैं वे ही सुकृति प्रसिद्ध होते हैं। भगवदाराधना के लिए हृदय विशाल एवं अज्ञानान्धकार से शून्य तथा ज्ञानालोक से आलोकित और पूर्ण होना चाहिए।

३५. तन्न रथं सुवृतं विद्वन्नापसस्तन्नहरी इन्द्रवाहा वृषण्वसू ।

तन्न पितृभ्यामृभवो युवद्वयस्तन्नवत्साय मातरं सचाभुवम् ॥ ऋ० १।१।१

(पितृभ्याम्) पालकों—माता पिता—शिक्षक अधिष्ठाता—से युक्त (विद्वन्नापसः) ज्ञानयुक्तकर्म करने वाले (ऋभवः) शिल्पी (सुवृतम्) सुडौल (रथम्) रथ (तक्षन्) बनाते हैं। (इन्द्रवाहा) इन्द्र-विद्युत् या ऐश्वर्य को धारण करने वाले (वृषण्वसू) धनकी वृष्टि करने वाले (हरी) जल और अग्नि रूप घोड़ों को (तक्षन्) बनाते हैं। (युवत) संयोगविभागयुक्त (वयः) जीवन को=जीवनसाधन को (तक्षन्) बनाते हैं। और (वत्साय) बालक के लिए (मातरम्) माता को (सचाभुवम्) सदा साथ रहने वाली, अथवा ज्ञानयुक्त कर्म करने वाली (तक्षन्) बनाते हैं।

यहां हमने 'पितृभ्याम्' को तृतीया विभक्ति मानकर अर्थ किया है। चतुर्थी विभक्ति में भी यही रूप बनता है, चतुर्थी विभक्ति मानकर अर्थ होता है—ऋभु (पितृभ्याम्) माता-पिता के लिए, गुरु-उपदेशक के लिए (युवत) युवावस्था-युक्त (वयः) जीवन का (तक्षन्) निर्माण करते हैं।

३६. यदारमक्रन्तृभवः पितृभ्यां परिविष्टी वेषणा दंसनाभिः ।

आदिदेवानामुप सख्यमायन् धीरासः पुष्टिमवहन्मनायै ॥ ऋ० ४।३।१२

(यदा) जब (ऋभवः) भोजन करने वाला (पितृभ्याम्) पिता-पिता (परिविष्टी) विद्याव्याप्ति के

द्वारा (वेपणा) वेधभूषा के द्वारा तथा (दंसनाभिः) सुन्दर क्रियाओं के द्वारा (पितृभ्याम्) माता पिता के लिए (अरम्=अलम्) पर्याप्त (अक्रन्) करते हैं (आत्) तब (इत्) ही ये (धीरासः) धीर, ध्यानी (देवानाम्) निष्काम विद्वानों की (सख्यम्) मैत्री को (उप+आयन्) प्राप्त करते हैं और (मनायै) मननशक्ति के लिए (पुष्टिम्) पुष्टि (आवहन्) जाते हैं।

माता पिता, गुरु-आचार्य की सेवा श्रुषा से सद्गुणों की प्राप्ति और विद्या की वृद्धि होती है।

‘परिविष्टी’ तृतीया का एक वचन है। लौकिक नियमानुसार ‘परिविष्ट्या’ रूप बनता है।

३७. इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वांसो य उ परास ईयुः।

ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विष्णु ॥ ऋ० १०।१५।२ (अद्य) आज (पितृभ्यः) पितरों के लिए [को] (इदं) यह (नमः) नमस्कार वा अन्न (अस्तु) हो, (ये) जो (पूर्वांसः) पूर्व, पूर्वगामी (उ) और (ये) जो (परासः) पिछले (ईयुः) प्राप्त होते हैं। (ये) जो (पार्थिवे) पार्थिव=पृथिवीसम्बन्धी (रजसि) लोक में (आ+निषत्ताः) पूर्णतया संसक्त हैं (वा) अथवा (ये) जो (नूनम्) सचमुच (सुवृजनासु) अत्यन्त आवर्जनीय (विष्णु) प्रजाओं में पूर्णतया संसक्त हैं।

पृथिवीसम्बन्धी खोज में पूर्णतया संसक्त होने का अर्थ है भूमिसम्बन्धी खोज में रत होना। इसी प्रकार चतुर्थ चरण का तात्पर्य है-प्रजाहित में अपने आपको मग्न कर देना। भूमि की खोज और प्रजाहितसाधन मृतकों से कैसे संभव है?

‘नमः’ से सम्बन्ध होने पर चतुर्थी विभक्ति आया करती है, इसी कारण ‘पितृभ्यः’ चतुर्थी विभक्ति है। महर्षि पाणिनि जी ने इस विषय में एक सूत्र लिखा है-‘नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च’ (२।३।१६) नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम्, और वषट् से योग=सम्बन्ध होने पर चतुर्थी विभक्ति आती है। ‘नमः’ का उदाहरण इसी मन्त्र में है। अलम्=(अरम्) का उदाहरण पिछले मन्त्र में आ-चुका है। स्वाहा का उदाहरण इसी पाठ के ‘क’ भाग के मन्त्र ‘त्वष्ट्रे स्वाहा, त्वष्ट्रे तुरीपाय स्वाहा त्वष्ट्रे पुरुषाय स्वाहा,’ में आचुका है। ‘वषट्’ का उदाहरण ‘वषट् तेम्यो वषडहुतेभ्यः’ (अथर्व ७।१०२।७) में है। ‘स्वस्ति’ शब्द के उदाहरण ‘संस्कार-विधि’ ग्रन्थ के ‘स्वस्तिवाचन’ में देखिए। ‘स्वधा’ का उदाहरण ‘स्वधा पितृभ्यः’ (य० २।७) है।

३८. त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाङ्मह्वानि सुरभीणि कृत्वी।

प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अन्नन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ ऋ० १०।१५।१२ हे (अग्ने) सर्वमुख्य विद्वन्! (जातवेदः) सर्वविद्यासंपन्न महात्मन्! (ईळितः) प्रार्थित हुआ तू (हव्यानि) हव्यपदार्थों को, भोजनयोग्य वस्तुओं को

(सुरभीणि) सुगन्धित (कृत्वी) करके (अवाट्) लाया है, लाता है और (पितृभ्यः) पालकों को (प्र+अदाः) देता है। (ते) वे (स्वधया) अपनी शक्ति से (अक्षन्) खाते हैं। हे (देव) निष्काम विद्वन्! (त्वम्) तू [भी इन] (प्रयता) प्रयत्नपूर्वक सिद्ध की हुई (हवींषि) हवियों को (अद्धि) खा।

सुविद्वान् लोग अपनी विद्या के बल से खानेपीने तथा अन्य व्यवहार के पदार्थों को सुन्दर सुगन्धित बना कर संसारोपकारक रक्षक ज्ञानियों के अर्पण कर देते हैं।

इस मन्त्र के उत्तरार्द्ध में एक भव्य उपदेश है। उत्तम से उत्तम पदार्थ पहले पितृवर्ग-मातापिता, गुरु आदि बड़ों के अर्पण करना चाहिए। उनकी अनुमति से उसके पश्चात् स्वयं खाना चाहिए।

‘कृत्वी’ पद लौकिकनियमानुसार ‘कृत्वा’ होना चाहिए। ‘त्वा’ प्रत्यय का ‘त्वा’ शेष रहता है, ‘कृ’ धातु से ‘त्वा’ प्रत्यय लगाने से ‘कृत्वा’ प्रयोग बनना चाहिए, किन्तु वेद में ‘कृत्वी’ भी बनता है, जैसा कि महामुनि पाणिनिजी ने अपने शब्दानुशासन में लिखा है—स्नात्वाद्यश्च (७।१।४६) ‘स्नात्वा’ आदि शब्द (त्वा प्रत्ययान्त) वेद में निपातित होते हैं। इसी प्रकार पीछे ‘संगच्छस्व—’ (ऋ० १०।१।४।८) मन्त्र में ‘हित्वाय’ पद आया है, वह भी ‘हित्वा’ होना चाहिए, किन्तु वेद में पाणिनिमहर्षि के बताए नियम से ‘हित्वाय’ भी बनता है, जैसा कि उन्होंने ७।१।४७ सूत्र लिखा है—‘क्त्वो यक्’ वेद में क्त्वा प्रत्ययान्त को कहीं कहीं यक् (य) आगम होता है।

३६. मैनमग्ने वि दहो माभि शोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्।

यदा शृतं कृण्वो जातेवेदोऽथेमेनं ग्रहिणुतात् पितृभ्यः ॥ ऋ० १०।१६।१

हे (अग्ने) सब की उन्नति करने वाले विद्वन्! (एनम्) इस को (मा) मत (वि+दहः) विशेष जला, (मा) मत (अभि+शोचः) दोनों ओर का शोक-युक्त कर (अस्य) इसकी (त्वचम्) त्वचा को, चमड़ी को (मा) मत (चिक्षिपः) खींच इसके (शरीरम्) शरीर को (मत) मत खींच। हे (जातवेदः) प्रत्येक अवसर के कर्तव्य के जानने वाले महात्मन्! (यदा) जब तू इसको (शृतम्) पका हुआ (कृण्वः) करले (अथ) तब (ईम्) ही (एनम्) इस को (पितृभ्यः) पितरों के पास, ज्ञानियों के पास (प्र+ग्रहिणुतात्) भेज।

गुरुकुल में आचार्य की सेवा में बालक को उपस्थित करते हुए बालक के अभिभावक आचार्य से निवेदन करते हैं—हे आचार्य! इसको जलाना मत, अर्थात् इस को दुःख न होने पावे। इसे आप इस प्रकार रखिएगा जिससे यह चिन्तातुर न रहे, अथवा इसे आत्मसाक्षात्कार करा दीजिएगा, ताकि शोक सागर में यह डूबा न रहे। इसके शरीर को कृश न होने दीजिएगा। इसको विद्वत्समाज में तब भेजिएगा, जब आप समझें कि अब यह सर्वतः पक्का हो गया है, अर्थात् इससे पूर्व इसका समावर्तन न कीजिएगा।

बालक को कैसी और कितनी और कब तक शिक्षा देनी चाहिए, इसका कितना सुन्दर निरूपण है? यदि यहाँ 'पितृभ्यः' पद का अर्थ 'मृतपितर' किया जाए, तो कितना अमंगल अभद्र अर्थ बनता है। पढ़ा लिखा कर इसे मृत-पितरों के हवाले कर देना, अर्थात् मार देना !!! अन्नहण्यम् !! शान्तं पायम् !!! विद्यार्थी को शरीरिक दण्ड न देने की झलक सी भी झलकती है।

इससे अगला मन्त्र इस मन्त्र के अर्थ की पुष्टि करता है। देखिए—

४०. शृतं यदी करसि जातवेदोऽथेमेनं परिदत्तात्पितृभ्यः ।

यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति ॥ ऋ० १०।१६।२
हे (जातवेदः) अवसरानुसार कर्तव्यकुशलज्ञानिन् ! (यदा) जब [तु इस को] (शृतम्) परिपक्व (करसि) करदेता है (अथ) और (एनम्) इसको (पितृभ्यः) पितरों के प्रति (ईम्) भी (परि+दत्तात्) सर्वथा दे देता है और (यदा) जब यह (एताम्) इस (असुनीतिम्) प्राणनीति, जीवननीति को (गच्छाति) प्राप्त करलेता है (अथा=अथ) तब, यह (देवानाम्) विद्वानों का, इन्द्रियों का (वशनीः) वशकारी (भवाति) होता है।

गुरु के हाँ से परिपक्व होकर विद्वत्समाज में पैठ जाना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् असुनीति=जीवननीति का जानना अत्यन्तावश्यक है, इसके बिना न यह विद्वानों को वश कर सकेगा, और न इन्द्रियों को अधीन रख सकेगा। मृतकों के अर्पित होकर जीवननीति का पण्डित कैसे बनेगा ?

४१. महो रुजामि बन्धुता वचोभिस्तन्मा पितुर्गोतमादन्वियाय ।

त्वं नो अस्य वचसश्चिकिद्धि होतर्यविष्ठ सुक्रतो दमूनाः ॥ ऋ० ४।४।११

(महः) बड़े को (रुजामि) तोड़ता हूँ पीड़ा देता हूँ। (गोतमात्) अत्यन्त ज्ञानी (पितुः) पिता से, पिता के कारण से (वचोभिः) वचनों द्वारा (तत्) वह (बन्धुता) बन्धुसमूह (मा) मेरे (अनु+इयाय) अनुकूल चलता है।

हे (होतः) दातः ! अथवा ग्रहीतः ! (यविष्ठ) अत्यन्त जवान ! (सुक्रतो) उत्तम कर्मशील ! (त्वम्) तू (दमूनाः) दमनशील, जितेन्द्रिय हुआ (नः) हमारे (अस्य) इस (वचसः) वचन को (चिकिद्धि) जान, समझ, समझा।

'गोतम' किसी व्यक्ति का नाम नहीं है। 'अतिशयेन गौः गोतमः' जो अत्यन्त गौ=स्तुति करने वाला, ज्ञानी हो, उसे 'गोतम' कहते हैं। निघण्टु (३।१६) में 'गौः' पद-स्तोता के नामों में पढ़ा गया है। पिता से—अतिशय ज्ञानी पिता से शिक्षा पाकर सन्तान अपने बन्धुओं को अपना अनुगामी बना सका करती है।

तलू (ता) और त्व, प्रत्यय भाव-अर्थ में आते हैं, जैसे मनुष्यता, मनुष्यत्व=मनुष्य का भाव, मनुष्यपन। पाणिनि जी का इस विषय में सूत्र भी है—'तस्य माव-स्त्वतलौ (५।१।१६) भाव-अर्थ में त्व और तलू (ता) प्रत्यय आते हैं। किन्तु कुछ शब्द ऐसे हैं, जिनसे तलू (ता) प्रत्यय समूह अर्थ में आता है, उनमें से एक 'बन्धु'

शब्द भी है, जैसे शब्दानुशासन में महर्षि पाणिनि जी का सूत्र है—‘ग्रामजनबन्धु-
न्यस्तात् (४:२।४३) ग्राम, जन और बन्धु शब्दों से तत् (ता) प्रत्यय समूह अर्थ में
आता है। अर्थात् ग्रामता का अर्थ ग्रामसमूह, जनता का अर्थ जन-समूह, बन्धुता
का अर्थ बन्धुसमूह और सहायता का अर्थ सहायकसमूह है। यह नियम लोक
वेद—दोनों—में समानरूप से लागू है। इसी नियम से हमने ‘बन्धुता’ का अर्थ
‘बन्धुसमूह’ किया है।

४२. कियत्स्विदिन्द्रो अध्येति मातुः कियत्पितुर्जनितुर्यो जर्जान ।

यो अस्य शुष्मं मुहुकैरियति वातो न जूतः स्तनयद्भिरग्नैः ॥

ऋ० ४।१७।१२

(यः) जो (इन्द्रः) इन्द्र (जजान) उत्पन्न होता है, वह (मातुः) माता को
(कियत्+स्वित्) कितना (अधि+एति) स्मरण करता कराता है और
(जनितुः) जन्म देने वाले (पितुः) पिता को (कियत्+स्वित्) कितना
[स्मरण करता कराता है।] (यः) जो (मुहुकैः) बार बार (स्तनयद्भिः) गर्जने
वाले (अग्नैः) बादलों के साथ (जूतः) वेगवान् (वातः+न) वायु के समान
(अस्य) इसके (शुष्मम्) बल को (इयति) प्राप्त करता है, प्रेरणा करता है।
ऐश्वर्यसंपन्न होकर यह स्मरण रखना चाहिए, कि माता पिता का हम पर
बड़ा उपकार है।

‘जनितुः’ पद भी ‘पितुः’ की भाँति षष्ठ्यन्त है। लोके में ‘जनयितुः’ बनता
है। वेद में ‘जनिता मन्त्रे’ (६।४।५३) [मन्त्र में जनिता=जनिट्] निपातित होता है।
सूत्र के अनुसार ‘जनिता’ बनता है। ‘मातुः’ ‘पितुः’ तथा ‘जनितुः’ यह षष्ठ्यन्त
पद कर्म-कारक में प्रयुक्त हुए हैं। पाणिनि जी का आदेश है—‘अधीगर्धदयेशां कर्मणि’
(२।३।५२)=अधिपूर्व इक् [इक् स्मरणे] अर्थ वाले; तथा दय और ईश धातुओं से कर्म-
कारक में षष्ठी विभक्ति आती है। मन्त्र में ‘अध्येति=अधि+एति’ पद अधिपूर्वक
इक् धातु का रूप है, अतः इसके कर्म में षष्ठी विभक्ति है, इसी लिए हमने ‘मातुः,
पितुः’ का अर्थ ‘माता का, पिता का’ न करके ‘माता को, पिता को’ किया है।

४३. स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदब्धवान्न वि चेतदन्धः ।

कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता वि जानात् स पितुष्पितासत् ॥

ऋ० १।१६४।१६

जो (सतीः) सती (स्त्रियः) स्त्रियाँ हैं (तान्) उनको (उ=ऊँ) ही (मे) मेरे, मेरे
लिए (पुंसः) पुरुष (आहुः) कहते हैं। क्योंकि (अक्षण्वान्) आँखों वाला
(पश्यत्) देख सकता है, (अन्धः) अन्धा (न) नहीं (वि+चेतत्) विशेष जान
सकता। (यः) जो (पुत्रः) पुत्र (कविः) पारदर्शी सूक्ष्म ज्ञानी है (सः) वह
(ईम्) ही (आ+चिकेत) भली प्रकार जानता है। (यः) जो (ता) उन संबको
(विजानात्) जाने, (सः) वह (पितुः) पिता का (पिता) पिता (असत्)
होवे।

दुराचारी पुरुषों की अपेक्षा सती स्त्रियाँ अच्छी हैं, वही पुरुष हैं। अर्थात् पुरुष का पुरुषत्व सदाचार में निहित है। जवान होकर जो ज्ञानवान् है, वह बूढ़ों का भी बूढ़ा है।

४४. त्वन्नो अग्रे पित्रोरुपस्थ आ देवो देवेष्वनवद्य जागृविः ।

तनूकृद्धोधि प्रमतिश्च कारवे त्वं कल्याण वसु विश्वमोपिषे ॥ ऋ० १।३१।६
हे (अनवद्य) अनिन्द्य (अग्रे) नेतः ! तू (देवेषु) देवों में, विद्वानों में (जागृविः) जागरूक, प्रबुद्ध (देवः) देव (नः) हमको (पित्रोः) माता पिता के (उपस्थे) गोद में (आ+बोधि) पूर्ण ज्ञान दे। हे (कल्याण) कल्याणकारिन् ! (तनूकृत) शरीर रचना सिखाने वाला (च) और (प्रमतिः) उत्तम ज्ञानी (त्वम्) तू (कारवे) कारु के लिए, शिल्पी के लिए (विश्वम्) सब (वसु) धन (आ+उपिषे) बार बार प्राप्त कराता है।

ज्ञानी लोग बालकों की शिक्षा उस काल से आरंभ करते हैं, जब बालक माँ बाप की गोद में होते हैं। बालकों को शरीरसम्बन्ध में अवश्य शिक्षा करनी चाहिए। शिक्षक अत्यन्त विद्वान् एवं सावधान होने चाहिये। बालक का कल्याण उनका लक्ष्य हो। बार बार पूछने पर बार बार बताया करें।

४५. त्वमग्रे मनवे द्यामवाशयः पुरुरवसे सुकृते सुकृतरः ।

श्वात्रेण यत्पित्रोर्मुच्यसे पर्या त्वा पूर्वमनयन्नापरं पुनः ॥ ऋ० १।३१।७
हे (अग्रे) सर्वज्ञ परमेश्वर ! (सुकृतरः) अतिशय सुकृती (त्वम्) तूने (सुकृते) शुभकर्म करने वाले (मनवे) मननशील (पुरुरवसे) विद्वान् के लिए (द्याम्) प्रकाश को (अवाशयः) प्रकाशित किया है। हे जीव ! (श्वात्रेण) ज्ञानबल के द्वारा (यत्) जब तू (पित्रोः) माता पिता के पास से (परि+आ+मुच्यसे) पूर्णतः छूटता है, मुक्त होता है, तब (त्वा) तुझे (पूर्वम्) पूर्ण परमात्मा को (अनयन्) प्राप्त कराते हैं (न) न कि (पुनः) फिर (अपरम्) इस अपर संसार को।

पवित्र कर्म करने वाले को भगवान् ज्ञान दान देते हैं। जो मनुष्य माता-पिता से अर्थात् जन्मचक्र से मुक्ति पाता है, वह परमात्मा को पाता है।

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध परमात्मपरक है, उत्तरार्ध में जीवगति का निरूपण है।

४६. पूर्वे अर्द्धे रजसो अप्त्यस्य गवां जनित्र्यकृत प्र केतुम् ।

व्यु प्रथते वितरं वरीय ओभा पृणन्ती पित्रोरुपस्था ॥ ऋ० १।३२।५
(उभा) दोनों लोकों का (आ+पृणन्ती) सब प्रकार प्रसन्न करती हुई (पित्रोः) माता पिता—द्यौपृथिवी-की (उपस्था) गोद में रहने वाली (गवाम्) किरणों की (जनित्री) उत्पन्न करने वाली उषा (अप्त्यस्य) विस्तीर्ण (रजसः) लोक के (पूर्वे) सम्मुख (अर्द्धे) भाग में (केतुम्) किरणप्रकाश

को (प्र+अकृत) उत्तमता से करती है और (वितरम्) विविध दुःखनाशक, अथवा अत्यन्त विस्तृत (वरीयः) चाहने योग्य कर्म को (उ) भी (वि+प्रथते) विशेष रूप से फैलाती है ।

उषा का सुन्दर वर्णन है । 'पित्रोः' का अर्थ यहाँ 'द्यौ और पृथिवी का' है ।

इसका प्रमाण इसी पाठ में पीछे दिया जा चुका है ।

४७. मा छेन्न रश्मीरिति नाधमानाः पितृणां शक्तीरनुयच्छमानाः ।

इन्द्राग्निभ्यां कं वृषणो मदन्ति ता ह्यद्री धिषणाया उपस्थे ॥

ऋ० १।१०६।३

(मा) मत (रश्मीन्) रश्मियों को—ज्ञानकिरणों को (छेन्न) हम काटें (इति) इस तरह (नाधमानाः) याचूँआ करने वाले और (पितृणाम्) ज्ञानियों की, रक्षकों की, ऋतुओं की (शक्तीः) शक्तियों को (अनु-यच्छमानाः) अनुकूलता से नियन्त्रित करने वाले (वृषणः) बलवान् लोग (इन्द्राग्निभ्याम्) इन्द्र=विद्युत्, वायु और अग्नि के द्वारा (कम्) सुखपूर्वक (मदन्ति) आनन्दित होते हैं, क्योंकि (अद्री) दीर्घ न होने वाले, नाश न होने वाले (ता) वे दोनों (धिषणायाः) बुद्धि की (उपस्थे) समीपता में [रहते हैं] ।

४८. त्राता नो बोधि ददृशान आपिरभिख्याता मर्डिता सोम्यानाम् ।

सखा पिता पितृतमः पितृणां कर्तेषु लोकमुशते वयोधाः॥ ऋ० ४।१७।१७
परमेश्वर (नः) हमारा, सब का (त्राता) रक्षक है, वह (ददृशानः) संद्रष्टा (आपिः) व्यापक (अभिख्याता) अन्तर्यामिरूप से उपदेष्टा (सोम्यानाम्) शान्तस्वभाव वालों का (मर्डिता) सुख देने वाला, (सखा) सर्वमित्र (पिता) पालक और (पितृणाम्) पालकों का भी (पितृतमः) अत्यन्त पालक और (कर्त्ता) लोककर्त्ता है, (उ) और वह (लोकम्) लोक को (उशते) चाहनेवाले के लिए (वयोधाः) जीवनदाता (ईम्) भी है, इस बात को (बोधि) तू जान ।

४९. स तु श्रुधीन्द्र नूतनस्य ब्रह्मण्यतो वीर कारुधायः ।

त्वं ह्यापिः प्र दिवि पितृणां शश्वद्भूथ सुहव एष्टौ ॥ ऋ० ६।२१।८

हे (इन्द्र) ऐश्वर्यसंपन्न ! (वीर) वीर ! (कारुधायः) शिल्पियों के धारण करने वाले अर्थात् शिल्पियों के आश्रयदाताः ! (सः) वह तू (नूतनस्य) नये (ब्रह्मण्यतः) धनाभिलाषी की (श्रुधि) सुन (तु) तो । (हि) क्योंकि (पितृणाम्) ज्ञानियों की (प्रदिवि) उत्तमकामनायुक्त (एष्टौ) यज्ञक्रिया में (त्वम्) तू ही (शश्वत्) निरन्तर (सुहवः) आसानी से पुकारा जाने वाला (बभूथ) होता है ।

'पितृ' यहाँ शिल्पी प्रतीत होते हैं । इन्द्र राजा या कोई वीर राजकर्मचारी है ।

५०. मध्या यत्कर्तृमभवदभीके कामं कृण्वाने पितरि युवत्याम् ।

मनानग्रेतो जहतुर्वियन्ता सानौ निषिक्तं सुकृतस्य योनौ ॥ अ० १०।६।१६
(अभीके) समीप में आकर (युवत्याम्) युवति = अन्तरिक्ष में (पितरि) पजन्य =
बादल के (कामम्) कामना सी (कृण्वाने) करने पर (मध्या) मध्य में =
अन्तरिक्ष में (यत्) जो (कर्तृम्) कार्य्य (अभवत्) होता है। वह यह है
कि (सानौ) शिखर में (वियन्ता) पृथक् होते हुए दोनों ने (सुकृतस्य) उत्तम-
क्रियाओं के (योनौ) मूलभूत स्थान में (मनानक) खूब (रेतः) जल (जहतुः)
छोड़ा।

'रेतः' निघण्टु (१।१२) में जल के नाम में पढ़ा गया है। 'पिता'
शब्द अनेक स्थानों पर वेद में पजन्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। युवति का अर्थ
संयुक्त-वियुक्त होने वाला-अन्तरिक्ष है।

वृष्टिकर्म का वर्णन है।

५१. इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं चेन्नात्कामदुघा म एषा ।

इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥ अ० ११।१।२८
(इदम्) यह (मे) मेरे (क्षेत्रात्) क्षेत्र से, शरीर से (हिरण्यम्) हितरमणीय (अमृ-
तम्) मृत्यु से बचानेवाला (ज्योतिः) प्रकाश (पक्वम्) परिपक्व हुआ है। (एषा)
यह (मे) मेरी (कामदुघा) अभिलाषाओं को पूरा करने वाली है। (इदम्)
इस (धनम्) धन को (ब्राह्मणेषु) ब्राह्मणों में = ब्राह्मणों के पास (नि+दधे)
रखता हूँ। इससे मैं (पितृषु) ज्ञानियों में (पन्थाम्) मार्ग को (कृण्वे) अपने
लिप बनाता हूँ, (यः) जो मार्ग (स्वर्-गः) आनन्द प्राप्त कराने वाला है।

तप आदि का साधन करके मनुष्य को परिपक्व ज्ञान मिलता है। ब्रह्म-
वेत्ताओं में उठने-बैठने से वह मार्ग मिलता है, जो आनन्द प्राप्त कराता है।

५२. यस्ते देवेषु महिमा स्वर्गो या ते तनूः पितृष्वविवेश ।

पुष्टिर्या ते मनुष्येषु पप्रथेऽग्रे तथा रयिमस्मासु धेहि ॥ अ० ११।३।३

हे (अग्रे) ज्ञानिन् ! अथवा परमेश्वर ! (देवेषु) निष्काम विद्वानों में (यः)
जो (ते) तेरी (स्वर्-गः) आनन्द देने वाली (महिमा) महिमा, बढ़ाई है
(या) जो (ते) तेरा (तनूः) विस्तार (पितृषु) रक्षकों में (आ+विवेश)
समाया हुआ है। (या) जो (ते) तेरी (पुष्टिः) पुष्टि (मनुष्येषु) मनुष्यों में
(पप्रथे) फैल रही है (तथा) उसके द्वारा (अस्मासु) हममें (रयिम्) धन
(धेहि) धारण कर।

ज्ञानाग्नि देवों में—निष्काम-ज्ञानियों में—आनन्द का विस्तार करता
है; सृष्टिरक्षणपरायण विद्वानों में संसार-विस्तार का भाव देता है; साधारण
मनुष्यों में धनादिद्वारा पुष्टि का प्रसार करता है। भौतिकाग्नि की महिमा भी

कुछ इसी प्रकार की है, सूर्यादि तेजोमय पदार्थों में वह संसार के सुख का साधन है, ऋतुओं द्वारा वह संसार के विस्तार का पसारा दिखाता है, मनुष्यों-प्राणियों-में जीवन ही इसी के आश्रय से है।

‘पितृ’ शब्द पर विचार

वेद के पठन-पाठन-सम्प्रदाय के विछिन्न हो जाने के कारण अनेक समस्याएँ-कठिनाताएँ-खड़ी हो गई हैं। वेद में प्रविष्टि के लिए तो वे और भी उग्र-रूप में उपस्थित होती हैं। उन अनेक समस्याओं में से एक समस्या ‘पितृ’=पितर शब्द के संबन्ध में है। यहाँ इस पर विस्तार से तो विचार नहीं किया जा सकता किन्तु इतना लिखना अनिवार्य प्रतीत होता है, जिससे इस शब्द के अर्थ स्पष्ट हो सकें। इसके संबन्ध में लिखने से पूर्व हम पाठकों को स्मरण कराना चाहते हैं कि पुराने सभी वैदिक आचार्य महर्षिकणाद के ‘बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे’ (वै० द० ६.१.१) [वेद में वाक्य-रचना बुद्धिपूर्वक है अर्थात् इसमें बुद्धि विरुद्ध कुछ भी नहीं है] को और कि वेद के शब्द या यौगिक हैं या योगरूढ़, इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। इसी तत्त्व को सामने रखते हुए ‘पितृ’ शब्द पर विचार करना उचित होगा। अस्तु।

इस शब्द के सम्बन्ध में हम बतला चुके हैं कि यह ‘पा रक्षणे’ धातु से बनता है और कि इसका मुख्य अर्थ ‘रक्षक’ है। हम यहाँ एक अन्य रीति से इस शब्द का अर्थ खोलना चाहते हैं। वेद में पितरों के कार्ययों के वर्णन हैं। उन कार्ययों के आधार पर ‘पितृ’ या उसके बहुवचनान्त ‘पितरः’ शब्द का अर्थ-निर्णय करना सरल हो जाएगा—

१. ‘पितृ’ [पितरः का] कार्य-शोधन—

१. पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः,

पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा ।

पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः,

पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥ य० १६।३७

(सोम्यासः) सोम्य=सोमयोग्य, शान्तस्वभाव (पितरः) पितरः; पिता (पवित्रेण) पवित्र (शतायुषा) पूर्णायु [पूर्णायु के ज्ञानध्यानादि शुभानुष्ठानों के परिणाम] से (मा) मुझको (पुनन्तु) पवित्र करें (पितामहाः) दादे (पुनन्तु) पवित्र करें (प्रपितामहाः) पड़दादे (पुनन्तु) पवित्र करें। (पितामहाः) दादे (प्रपितामहाः) पड़दादे (मा) मुझको (पवित्रेण) पवित्र (शतायुषा) शतायु के साधन से (पुनन्तु) पवित्र करें। जिससे मैं (विश्वम्) संपूर्ण (आयुः) आयु (वि+अश्रवै) प्राप्त करूँ।

यहाँ ‘पितरः’ का विशेषण ‘सोम्यासः’ है। मृतपितरों के साथ यह कैसे संगत हो सकता है? फिर ‘पितरः’ के साथ ‘पितामहाः’ और ‘प्रपितामहाः’ [दादे और पड़दादे] पद भी पड़े हैं। इनके संसर्ग से ‘पितरः’ शब्द का अर्थ

‘जनकाः’ [=उत्पन्न करनेवाले पिता] ही बन सकता है, अन्य नहीं। यदि कहो कि पितामह, प्रपितामह से भी मरे दादे पड़दादे अर्थ समझा जाएगा तो ठीक नहीं, क्योंकि वादी के मत में तो मृतक दादा पड़दादा भी ‘पितर’ कहलाते हैं इस वास्ते वादी के मतानुसार ‘पितामहाः, प्रपितामहाः’ पदों की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिए, किन्तु ये पद पड़े हैं, इस वास्ते ‘पितरः’ का अर्थ ‘जनकाः’ ही ठीक है। इसके साथ ही इनसे ‘पवित्र करने की’ कामना की गई है। मृतक कैसे आकर पवित्र करेंगे ?

२. अवन=रक्षण आदि और अध्यापन, उपदेश

२. अवन्तु नः पितरः सुप्रवाचना उत देवी देवपुत्रे ऋतावृधा ।

रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मात्तो अंहसो निष्पिपत्तन ॥

ऋ० १।१०६।३

(सुप्रवाचनाः) उत्तम प्रवाचन=पढ़ाने और उपदेश करने वाले -(पितरः) पितर=ज्ञानी गुरु (उत) और (देवपुत्रे) दिव्यसन्तान वाली (ऋतावृधा) ऋत से बढ़ने वाले (देवी) दिव्य गुणयुक्त, या व्यवहार-साधिका द्यौ और पृथिवी (नः) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें, कार्य-सिद्धि करें, हमें तृप्त करें। हे (सुदानवः) उत्तम दानी (वसवः) वसुओं! (दुर्गात् रथम् न) दुर्गामार्ग से रथ की भाँति (विश्वस्मात्) संपूर्ण (अंहसः) पाप से (नः) हमें (निः+पिपत्तन) सर्वथा बचाओ।

यहाँ ‘पितरों’ का कार्य ‘अवन’=रक्षणादि बताया गया है। ‘पितरः’ का विशेषण ‘सुप्रवाचनाः’ मनन करने योग्य है। ‘सुप्रवाचनाः’ का अर्थ उत्तम अध्यापक Good Teachers अथवा ‘उत्तम उपदेशक प्रवक्ता’ Good Lecturers or Speakers होता है। क्या कभी किसी ने मृतक को अध्यापन या प्रवचन कार्य करते देखा है? मन्त्र के उत्तरार्ध में उस प्रवाचन के रूप का संक्षिप्त निदर्शन भी कर दिया गया है। जैसे कुशल सारथि दुर्गामार्ग से—बुरे रास्ते से—गाड़ी को बचा कर ले चलता है, वैसे ही पितरों से कहा गया है कि वे सब प्रकार के पापों से तारें, बचाएँ। मृत पितर कैसे पाप से बचाएँगे? फिर इसी मन्त्र में उनको ‘सुदानवः’ और ‘वसवः’ कहा गया है। ये विशेषण जीवितों में ही संगत होते हैं, मृतक में किसी भाँति भी इनका सम्बन्ध नहीं हो सकता।

३. ऋत को बलयुक्त करना—

३. अस्माकमत्र पितरो मनुष्या अभिप्रसेदुर्ध्वतमाशुषाणाः ।

अश्मव्रजाः सुदुघा वत्रे अन्तरुदुसा आजन्नुपसो हुवानाः ॥ऋ० ४।१।१३

(अत्र) इस संसार में (अस्माकम्) हमारे (मनुष्याः) मननशील, मेधावी (पितरः) पितर, बापदादा, गुरु आदि (ऋतम्) ऋत को, सत्यको, सृष्टिनियम को, यज्ञ को (आशुषाणाः) पूर्णतया बलयुक्त करते हुए (अभि+प्र+सेदुः) सर्वथा प्रसन्न होते हैं और (अश्मव्रजाः) बादलों में चलने वाली (सुदुघाः) उत्तमरीति से कामनाओं को पूरा करने वाली (दुसाः) किरणों को और

(उषसः) प्रभातों को (हुवानाः) चाहते हुए (अन्तः) भीतर (उत्+आजन्) उत्तम रीति से फेंकते हैं, संचालित करते हैं। ऐसा ही मैं (वज्रे) स्वीकार करता हूँ।

यहाँ 'पितरों' को सत्य की वृद्धि, यज्ञ की वृद्धि करके प्रसन्न होने वाला बतलाया है। बादलों में रहने वाले सूर्यकिरणों को पृथिवी पर फेंकने का कार्य भी उनका बतलाया है, यह तो अति उच्चकोटि के वैज्ञानिक का कार्य हो सकता है। प्रातःकालीन किरणों को अपने भीतर कोई जीता-जागता शरीरसाधक व्यायामकुशल अथवा प्राणायाम्यासी साधक ही कर सकता है।

'ऋत' शब्द निघंटु में यज्ञनामों में, 'अश्म' मेघनामों में पढ़ागया है।

४. गुह्यज्योति का प्रकाश—

४. त इद्देवानां सधमादा आसन्नृतावानः कवयः पूर्यासः ।

गूढं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्तसत्यमन्त्रा अजनयन्नुपासम्॥ऋ० ७।१६ ४

(ते) वे [पितरः] (देवानाम्) निष्काम ब्रह्मज्ञानियों के (सधमादाः) साथ आनन्द मनाने वाले (ऋतावानः) ऋत का अनुसरण करने वाले (कवयः) मेधावी, क्रान्तदर्शी (पूर्यासः) पूर्वो=पूर्वजों के हितकारी (आसन्) होते हैं, वे (पितरः) पितर=ज्ञानी (गूढम्) गूढ, गुप्तज्योति को (अनु+अविन्दन्) अनुकूलता से प्राप्त करते हैं और वे (सत्यमन्त्राः) यथार्थ विचारों वाले (उपासम्) अज्ञानदाहक प्रकाश को (अजनयन्) उत्पन्न करते हैं।

'पूर्यासः=पूर्वजों के हितकारी'। मृतक में यह विरुद्ध कैसे चरितार्थ हो सकता है। कोई कह सकता है कि 'आसन्' 'अविन्दन्' और 'अजनयन्' ये क्रियापद भूतकाल संबन्धी हैं, अतः 'पितरों' के 'पितर' बनने से पूर्व की अवस्था के संबन्ध में यह सब कुछ है, तो उसको यह विचारना चाहिए, कि यह पितरों की विशेषता कैसे हुई? यह गुण तो उनके 'पितर' बनने से पूर्व दशा का, आप के कथनानुसार, वर्णन करते हैं, अर्थात् जब वे इन क्रियाओं को कर रहे थे, तब वे पितर नहीं थे, अतः फिर यहाँ 'पितरः' का प्रयोग न होना चाहिए। और यह भी जानना चाहिए कि ये भूतकालिक क्रियाएँ नहीं हैं, वरन् सार्वकालिक, सामान्यकाल की क्रियाएँ हैं, जैसा कि पाणिनि जी ने लिखा है 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (३।४।६) [वेद में लुङ्, लङ् और लिट् तीनों कालों के लिए आते हैं।] इसमें कोई सन्देह नहीं कि लौकिकभाषा में ये तीनों भूतकाल के लिए प्रयुक्त होते हैं किन्तु वेद में सभी कालों के लिए इनका प्रयोग होता है।

वास्तव बात यह है कि विद्वान् दो प्रकार के होते हैं। एक वे जिनको कोई कामना नहीं, किसी प्रकार का बन्धन नहीं, ऐसों को वैदिकपरिभाषा के अनुसार 'देव' कहा जाता है, वीतराग संन्यासी, जीवन्मुक्त महात्मा इस कोटि में गिने जाते हैं। दूसरे जिनकी विद्या में तो सन्देह नहीं, किन्तु सभी सांसारिकता से ऊपर

नहीं उठे, सन्तान परिवार की ममता उनमें शेष है, ऐसे सन्तानपालक विद्वानों को पितर कहा जाता है। कहीं कहीं 'देव' और 'पितर' पर्यायवाची भी होते हैं। यथा—देवाः पितरः पितरो देवाः (अ० ६।१२३।४) देव पितर हैं और पितर देव हैं।

इस मन्त्र में स्पष्ट ही गुप्त प्रकाश की प्राप्ति और प्रकाश का उत्पादन पितरों का कार्य बताया गया है। मृतकों में यह किसी भी प्रकार संगत नहीं हो सकता। पितरों को 'देवानां सधमादः' = देवों के साथ आनन्द मनाने वाले कहा गया है। विद्वान् विद्वान् के गुण पर मुग्ध और प्रसन्न हो सकता है। मृतक किसी के गुण पर क्या मस्त होगा? जो लोग देवों और पितरों को इस लोक में न रहने वाले मानते हैं। उनके मत में देवों के रहने के स्थान को 'देवलोक' और पितरों के स्थान को 'पितृलोक' कहते हैं। उनके मत से देव और पितर परस्पर भिन्न हैं, उनके लोक भी एक दूसरे से भिन्न हैं। ऐसी स्थिति में पितर 'देवानां सधमादाः' हो ही नहीं सकते। 'सध' शब्द का अर्थ 'साथ' है। देवों के साथ पितरों का आनन्द मनाना तभी संभव हो सकता है, जब पितर और देव एक जाति के हों, और उनका लोक भी एक ही हो। 'पितृ' शब्द का अर्थ मृत पितर मानने से यह संभव नहीं। 'ऋतावानः' विशेषण भी 'पितरों' को मृतक मानने से रोकता है। मृतक ऋतानुसारी कैसे?

५. रक्षणादि—

५. पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः। जीवं व्रातं सचेमहि ॥ य० ३।५५

हे (पितरः) पालको, रक्षको! (दैव्यः) देवहितकारी (जनः) जन (नः) हमें (पुनः) फिर (मनः) मन, मननसामर्थ्य (ददातु) देवे, जिससे हम (जीवम्) जीते जागते (व्रातम्) समुदाय को (सचेमहि) सेवन करें अथवा (जीवम्) ज्ञानी और (व्रातम्) व्रतसमूह से (सचेमहि) समवेत हों, सम्बद्ध हों।

यहाँ पितरों को संबोधन किया है। मन्त्र में जो कामना की गई है यदि उसका कोई भी सम्बन्ध पितरों से हो, तो 'दैव्यजन' अवश्यमेव पितरों में से होना चाहिए। 'दैव्यजन' मृतक नहीं हो सकता। यदि 'दैव्य' मृतक होता, तो 'दैव्यजन' न कह कर 'दैव्यमृत' कहा जाता। 'जन' जीते को कहते हैं, मुर्दे को नहीं। फिर मृतक से 'जीवं व्रातं सचेमहि' कहना अत्यन्त असंगत है। प्रार्थ्य तो तभी प्रसन्न होगा, जब हम उसके समुदाय में मिलने की कामना करें। प्रार्थना कर रहे हैं मुर्दों से, और चाह रहे हैं कि 'जीवों के साथ मिले रहें।' कैसी विडम्बना है?

६. मननशीलता—

६. मनो न्वा ह्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन। पितृणां च मन्मभिः ॥ य० ३।५३

हम (नु) सचमुच (नाराशंसेन) मानव-विद्या-संबन्धी (स्तोमेन) स्तुति-समूह से युक्त तथा (पितृणाम्) पितरों=गलकों, ज्ञानियों के (मन्मभिः) मननों से युक्त (मनः) मन को (आ+ह्वामहे) चाहते हैं।

मुद्दे क्या मनन करेंगे ? यदि 'पितर' से 'मृतक' अभिप्राय होता, तो इस मन्त्र में 'पितृणाम्' के स्थान में 'मृतानाम्' पाठ होता । मृतों की चिन्ता करना वैसे भी आर्यशास्त्रों में वर्जित है ।

७. दूसरे को वर्चः=तेज से युक्त करना—

७. वर्चसा मां पितरः सोम्यासो अञ्जन्तु देवा मधुना घृतेन ।

चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तो जरसे मा जरदष्टिं वर्धयन्तु ॥ अ० १८।३।१०

(सोम्यासः) सोम्य=शान्त (पितरः) पितर (माम्) मुझको (वर्चसा) तेज से (अञ्जन्तु) व्यक्त करें, संयुक्त करें, (देवाः) देव (मधुना) मधु से और (घृतेन) घी से अथवा (मधुना घृतेन) मधुर घी से युक्त करें (चक्षुषे) चक्षु=देखने के लिए (मा) मुझको (प्रतरम्) अत्यन्त (तारयन्तः) तारें और (माम्) मुझ (जरदष्टिम्) बूढ़े को (जरसे) वृद्धावस्था के लिए (वर्धयन्तु) बढ़ाएँ ।

मन्त्र के पूर्वार्ध का अन्वय इस प्रकार भी हो सकता है । (सोम्यासः देवाः पितरः माम् वर्चसा मधुना घृतेन अञ्जन्तु) शान्ति देने वाले दिव्यगुणयुक्त पितर मुझको तेज, मधुर घृत से युक्त करें । अथवा 'सोम्यासः' पद का अर्थ 'अन्न-संपादक' है क्योंकि कौपीतकी ब्राह्मण ६.६ में 'अन्नं सोमः' [सोम का अर्थ अन्न है] लिखा है । 'पितरः' का अर्थ फिर स्वभावतः 'ऋतवः' करना होगा । इस अर्थ में पीछे प्रमाण दिया जा चुका है । ऋतुओं के कारण पदार्थों में वर्च=तेज आया करता है, 'घृत' का अर्थ जल है । निघंटु में उदक के नामों में इसको गिनाया गया है । जल की उत्पत्ति=मधु की उत्पत्ति के साथ ऋतुओं का विशेष संबन्ध है । वचं, घृत, मधु की प्राप्ति मृतकों के पास से कैसे होगी ?

८. गर्भधारण—

८. आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् । यथेह पुरुषो असत् ॥ अ० २।३३

हे (पितरः) पितरो ! ज्ञानियो ! इस (पुष्करस्रजम्) पुष्पमाला धारण करने वाले (कुमारम्) कुमार को (गर्भम्) गर्भ की भांति (आधत्त) धारण करो, अथवा तुमने धारण किया, (यथा) जिससे, यह (इह) इसी जन्म में अथवा यहाँ (पुरुषः) पुरुष, मनुष्य (असत्) होवे, या हो गया है ।

गुरुकुल में प्रवेश कराते समय बालक के अभिभावक की गुरुओं से प्रार्थना है । अथवा गुरुकुल से बालक के लौटते समय बालक के अभिभावक का गुरुओं के प्रति वचन है । जिस प्रकार गर्भ को धारण कर उसकी सुरक्षा की जाती है, जिससे कि गर्भपात न हो, अथवा गर्भावस्था में भ्रूण की मृत्यु न हो जाय । तद्वत् गुरु के पास गण बालक का रक्षा गुरु को करनी चाहिए । गर्भधारण करना, या गर्भ की भांति कुमार का धारण करना मृतकों से कैसे हो सकता है ?

९. अरुरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा बिभर्त्ति भुवनानि वाजयुः ।

मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः ॥ ऋ० ६।८।३३

(अग्रियः) सर्वप्रधान (पृश्निः) सूर्य (उषसः) उषाओं को (अरुरुचत) बार बार चमकाता है। (वाजयुः) मानो अन्न की इच्छा करता हुआ (उक्षा) वृष्टि करने वाला सूर्य (भुवनानि) लोकों को (विभस्ति) पालता है, धारण करता है। (अस्य) इसकी (मायया) शक्ति से (मायाविनः) मायाकुशल (ममिरे) निर्माण करते हैं, (नृचक्षसः) सब को दिखाने वाले (पितरः) पितर (गर्भम्) गर्भ को (आ+दधुः) धारण करते हैं।

पूर्वार्ध में स्पष्ट सूर्य का वर्णन है। उत्तरार्ध में पूर्वार्ध के साथ संगति का ध्यान करते हुए सूर्य या सूर्यसंबन्धी अर्थ करना चाहिए, इस दृष्टि से 'पितरः' का अर्थ सूर्यकिरणों या सूर्य की जगन्निर्माणसंबन्धी शक्तियाँ ही होगा। सूर्यकिरण भूमि से जल उठाकर अपने गर्भ में धारण करती रहती है। यह अर्थ न भी मानें, तब भी 'पितरों द्वारा गर्भ धारण' का उल्लेख स्पष्ट है। मृत-पितर कैसे गर्भधारण करते कराते हैं ?

६. अर्चा=पूजा, सत्कार करना—

१०. प्र वो महे महि नमो भरध्वमाङ्गूष्यं शवसानाय साम ।

येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञा अर्चन्तो अङ्गिरसो गा अविन्दन् ॥ ऋ० १।६२।२

इस मन्त्र का अर्थ पृष्ठ १३३ पर कर आए हैं, वहाँ देखिए। इसमें पितरों को 'अर्चन्तः' अर्चा=पूजा सत्कार करने वाला बताया गया है। 'मृतक' किस भाँति कब और किस की पूजा करते हैं ?

१०. सेना-संचालन—

११. स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः ।

चित्रसेना इषुबला अमृधाः सतोवीरा उरवो व्रातसाहाः ॥ ऋ० ६।७५।६

इस मन्त्र का अर्थ पृ० ११२ पर लिख आए हैं, वहाँ देखिए। यहाँ पितरों के विशेषण 'चित्रसेनाः' और 'इषुबलाः' विचारने योग्य हैं। मृतकों के पास सेना और तीर आदि हथियार कहाँ होते हैं ? यह मन्त्र स्पष्ट ही पितरों को सैनिक सिद्ध कर रहा है।

११. बड़े बल को तोड़ना, द्योलोक से पृथिवी का निर्माण करना आदि—

१२. वीळु चिद् दृढा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण ।

चक्रुर्दिवोबृहतो गातुमस्मे अहः स्वर्विविदुः केतुमुन्नाः ॥ ऋ० १।७१।२

(पितरः) पितर (नः) हमारे (दृढा) दृढ (वीळु) बल को (चित्) भी (रुजन्) तोड़ देते हैं और (अङ्गिरसः) अङ्गिरा=वायुर्वे (उक्थैः) स्तोतव्य शक्तियों से (रवेण) शब्द से (अद्रिम्) मेघ को (रुजन्) तोड़ देती हैं। अथवा (न) जैसे (अङ्गिरसः) अंगारों में होने वाले [अंगारेऽङ्गिराः अङ्गारा अङ्कनाः अंचनाः निरु० ३.१७] (पितरः) पितर (उक्थैः) स्तोतव्य शक्तियों के द्वारा और

(रवेण) शब्द द्वारा (दृढा) दृढ (बीळु) बल वाले (अद्रिम्) पर्वत या मेघ को (चित्) भी (रुजन्) तोड़ देते हैं (अस्मे) हमारे लिए (बृहतः) बहुत बड़े (दिवः) प्रकाश-पुंज या द्यौलोक से (गातुम्) पृथिवी को (चक्रुः) बनाते हैं और (उन्नाः) किरणें (स्वः) सुखदायी (अहः) दिन ; अथवा (अहः) दिन और (स्वः) प्रकाश, (केतुम्) ज्ञान-साधन को (विविदुः) प्राप्त कराते हैं ।

इस मन्त्र को ध्यान से देखिए, तो 'पितर' भगवान् की सृष्टिनिर्माण-शक्तियां प्रतीत होते हैं, अथवा गर्मी के दिनों की सूर्य-किरणें । वे बड़ों बड़ों के बल को तोड़ देती हैं, बादलों को छिन्न-भिन्न कर देती हैं । सूर्य की किरणें ही पृथिवी का निर्माण अर्थात् शोधन करती हैं, दिन प्रकाश आदि का निर्माण तो उनका काम है ही । सृष्टि के आरंभ में एक महान् प्रकाश-पुंज था, जिसे हिरण्यगर्भ भी कहते हैं, उसे यहाँ बृहत् द्यौ कहा है, उसी से पृथिवी का निर्माण हुआ था । उन निर्माणशक्तियों को यज्ञां पितर कहा गया है । जो जो कार्य इस मन्त्र में उल्लिखित हैं, उनमें से एक भी ऐसा नहीं, जो मृतक पितरों में किसी प्रकार संगत हो सके । वेद में पितरों के सम्बन्ध में प्रयुक्त इन्हीं निर्देशों के आधार पर ब्राह्मण-ग्रन्थों में इस शब्द के विविध अर्थ दिए गए हैं । सायणाचार्य जैसे पौराणिक संस्कारों वाले विद्वान् को भी इसी कारण ऋ० ६.७५.६ के भाष्यमें 'पितरः' का अर्थ 'रथस्य पालयितारः' = रथ के रक्षक लिखना पड़ा । जो लोग 'पितरः' शब्द का 'रक्षक' अर्थ देखकर उपहास किया करते हैं, वे श्रीसायण के इस अर्थ को देखें और विचारें ।

अब प्रसंग से 'अग्निष्वात्' आदि शब्दों पर थोड़ा सा विचार करते हैं— इस पर लिखने से पूर्व हम पाठकों के हृदय में सर्वदा के लिए अङ्कित कर देना चाहते हैं कि 'पितर' मृतक का वाचक तो है ही नहीं क्योंकि वेद और दूसरे ग्रन्थों में पितरों का उत्पन्न होना वर्णित है । यथा—

१. देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।

उच्छिष्टाज्जिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ अ० ११।१।२७

इस मन्त्र की व्याख्या हमारे लिखे 'वेदामृत' पृष्ठ १०३ पर देखिए । इस मन्त्र में देव, पितर, मनुष्य आदि का उच्छिष्ट से उत्पन्न होना वर्णित है । यदि 'पितर' [पितृ] शब्द मृतकों का वाचक होता, तो मन्त्र में 'ज्जिरे' क्रियापद न होकर 'मृ' धातु के किसी रूप का प्रयोग होता । पुराणों तक में पितरों का उत्पन्न होना लिखा है । जैसा कि विष्णुपुराण १।५।२८ में—

ततो देवासुरपितृन् मानुषांश्च चतुष्टयम् ।

सिसृक्षुरभस्येतानि स्वमात्मानमयूयुजत् ॥

तब देवों असुरों पितरों मनुष्यों—इन चारों को सृजन=उत्पन्न करने के अभिलाषी ने इनको और अपने देह को जल में मिलाया ।

स्पष्ट ही 'पितरों' को उत्पन्न करने की इच्छा का उल्लेख है । मनुस्मृति

(१।३७) में भी 'पितृगणों' के उत्पन्न किए जाने का उल्लेख है। इस प्रकार अन्य प्रमाण भी 'पितरों' के उत्पन्न होने के पोषक हैं। विस्तारभय से उनका यहाँ उल्लेख नहीं करते। निरुक्त के लेखक श्री यास्काचार्य ने भी कहीं 'पितृ' शब्द का अर्थ 'मृतपितर' नहीं किया। अतः 'पितृ'—शब्द के अर्थ का विचार करते हुए यह भावना हृदय से निकाल देनी चाहिए कि 'पितृ' शब्द का अर्थ मृतक भी होता है। अब देखिए—

अग्निष्वात् —

१. आयन्तुः नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः ।

अस्मिन्यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ य० १६।५८

(अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ में (नः) हमारे (सोम्यासः) सोम्य=शान्ति-शील (अग्निष्वात्ताः) अग्निष्वात् (पितरः) पितर (देवयानैः) देवों=विद्वानों के आनेजाने वाले (पथिभिः) मार्गों से (आयन्तु) आएँ, और (स्वधया) स्वधा से=आत्मधारणसामर्थ्य से (मदन्तः) आनन्दित होते हुए (अधि+ब्रुवन्तु) अधिकारयुक्त उपदेश करें और (ते) वे (अस्मान्) हमको (अवन्तु) प्रसन्न करें, तुम करें।

इस मन्त्र में 'अग्निष्वात्' पितरों का कार्य 'उपदेश देना' और दूसरों को तुम करना है। उपदेश वही दे सकता है जो स्वयं ज्ञानी हो, अतः 'अग्निष्वात्' का अर्थ 'ज्ञानी' या इससे मिलता जुलता होना चाहिए। लौकिकसंस्कृत में भी इस प्रकार अर्थ करने की रीति है। साहित्य-ग्रन्थों में इस प्रकार अर्थ करने का एक उदाहरण प्रस्तुत किया हुआ है—'प्रभिन्नकमलोदरे मधुकरः मधूनि पिबति' इस वाक्य का अर्थविचार करते हुए वहाँ कहा गया है कि 'प्रभिन्नकमलोदरे' पद का अर्थ 'खिले कमल के बीच में' तथा मधूनि का अर्थ 'मधु=शहद' और 'पिबति' पद का अर्थ 'पीता है' है। 'मधुकरः' पद का अर्थ अज्ञात है। ज्ञातार्थपदों के सहारे इस अज्ञातार्थक पद का अर्थ 'भ्रमर' किया जाता है, क्योंकि कमलमें मधुपान 'भ्रमर' ही करता है। इसी भाँति यहाँ हमने 'अग्निष्वात्' का अर्थ किया है। जब 'अग्निष्वात्' के इस मन्त्र में प्रयुक्त विशेषणों पर विचार करते हैं तब हमारे अर्थ की पुष्टि होती है—'स्वधया मदन्तः'='अपनी धारणशक्ति से आनन्दित होते हुए'। यह विशेषण मृतकों में चरितार्थ नहीं हो सकता। पितरों का 'देवयान' मार्गों से आने का उल्लेख है। 'देव' शब्द का 'विद्वान्' अर्थ हम प्रथम पाठमें ही प्रमाणपूर्वक दिखा चुके हैं। पितर आवें तो विद्वानों की चालों तथा मार्गों से आवें। अर्थात् 'पितर' विद्वानों की एक श्रेणी है। 'सोम्यासः' का अर्थ 'सोम-सम्पादिनः=सोमसम्पादन करने वाले' किया जाता है। सोम का अर्थ अन्न, सोम दोनों होता है। 'सोम्य' शब्द का अर्थ 'शान्त' भी होता है। अर्थात् 'अग्निष्वात्' पितर शान्त अथवा सोमसम्पादक या अन्ननिष्पादक होते हैं, और वे अपने

सामर्थ्य में मस्त होते हैं, वे यज्ञमें आते हैं, उपदेश करते हैं, और दूसरों को तृप्त करते हैं। इन सारी विशेषताओं का विचार करके 'अग्निष्वात्त' पदका अर्थ बनता है 'अग्निः सु-आत्तः यैः ते' अथवा 'अग्निना सु-आत्ताः' अर्थात्, जिन्होंने 'अग्नि का अच्छी तरह ग्रहण किया है वे 'अग्निष्वात्त' हैं। अर्थात् अग्निविद्या के पण्डित, अथवा निरन्तर अग्निहोत्रादि करने वाले, वा ज्ञानाग्नि में संलग्न अथवा अग्नि या ज्ञानाग्नि से सर्वथा गृहीत 'ज्ञानी' का शान्ति विशेष गुण होता है। इसी वास्ते 'अग्निष्वात्ताः' का विशेषण 'सोम्यासः' दिया गया है। यह विरोधाभास-अलङ्कार का सुन्दर उदाहरण है। जो 'अग्निष्वात्त' = अग्नि से गृहीत है, वह शान्त कैसे? किन्तु विचार करने पर यह विरोध उड़जाता है। अतः यह विरोधाभास-अलङ्कार है। और देखिए—

२. अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः ।

अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन ॥ य० १६।५६

हे (अग्निष्वात्ताः पितरः) अग्निष्वात्त पितरो ! (इह) यहाँ (आ+गच्छत)

आओ। (सु-प्र-नीतयः) अत्यन्त उत्तमनीति वाले तुम (सदःसदः) घर घर (सदत) जाओ। और (बर्हिषि) यज्ञ में (प्रयतानि) पवित्र अथवा दी हुई (हवींषि) हवियों को, भोजनों को (अत्ता=अत्त) खाओ (अथा=अथ) और (सर्ववीरम्) सब वीरों वाले (रयिम्) धनको (दधातन) धारण करो।

इस मन्त्र में 'अग्निष्वात्त पितर' वे ज्ञानी प्रतीत होते हैं, जो घर घर घूम-घूम कर जनता को उत्तम प्रीतियुक्त रीति-नीति की शिक्षा करते हैं। और जो कुछ उन्हें जनता से भोजन मिलता है, उसी पर निर्वाह करलेते हैं। इस अर्थ के साथ तैत्तिरीय ब्राह्मण (१. ६. ६. ६) के निम्नलिखित वचन की संगति लग जाती है—

सोमप्रयाजाः पितरः । ये वै यज्वानः ते पितरो बर्हिषदः ।

ये वा अयज्वानोऽगृहमेधिनस्ते पितरोऽग्निष्वात्ताः ॥

अर्थात्—सोमप्रयाज करने वाले 'पितर' होते हैं। जो यज्ञ करते रहते हैं, वे 'बर्हिषद्' पितर और जो यज्ञ न करने वाले अगृहस्थ=संन्यासी हैं, वे 'अग्निष्वात्त' पितर हैं

वेद मन्त्र में 'अग्निष्वात्त' पितरों का कार्य घर-घर घूमघूम कर रीतिनीति सिखाना बताया गया है। जो घरघर घूमेगा, वह अग्निहोत्र आदि यज्ञ नहीं कर सकेगा। अतः वह 'अयज्व' रहेगा। इस ब्राह्मणवचन को उद्धृत करने वाले सभी सज्जनों ने 'गृहमेधिनः' शब्द मानकर 'गृहस्थ' अर्थ किया है, किन्तु हमने पाणिनि जी के शब्दानुशासन के 'पठः पदान्तादति' (६. १. १०६) [पदान्त एङ्=प, ओ से परे ह्रस्व 'अ' हो, तो पूर्वरूप हो जाता है, यथा अग्ने+अत्र=अग्नेऽत्र, वायो+अत्र=वायोऽत्र] सूत्र के अनुसार 'अयज्वानो अगृहमेधिनः' पदच्छेद किया है जो उक्त-सूत्र के नियम से 'अयज्वानोगृहमेधिनः' बनता है। अवग्रह 'ऽ' चिह्न लिखना आवश्यक नहीं है, उसके न लिखा होने से लोगों को आंति हुई है। इसी तैत्तिरीय ब्राह्मण

के वचन से मिलता जुलता किन्तु अधिक स्पष्ट वचन शतपथ ब्राह्मण (२.६.१.७) में है
तद्ये सोमेनेजानाः, ते पितरः सोमवन्तः, अथ ये दत्तेन पक्केन लोकं जयन्ति
ते पितरो बर्हिषदः । अथ ये ततो नान्यतरच्चन, यानभिरेव दहन् स्वदयति ते
पितरोऽग्निष्वात्ताः ।

अर्थात्—वह जो सोम से यज्ञ करते हैं । वे सोमवान् [तैत्तिरीयका सोमप्रयाज]
पितर हैं, और जो दान द्वारा, पाक द्वारा [अर्थात् भोजन द्वारा] लोकों को जीतते हैं
[वश करते हैं] वे बर्हिषद् पितर, और जो उन दोनों में से कोई कार्य नहीं करते हैं
वरन् अग्नि ही जिनको जलाता हुआ [चतुर करता हुआ] अच्छी तरह खिलाता
है या स्वाद देता है, वे 'अग्निष्वात्त पितर' हैं । इस वचन में आप 'स्वदयति' से
बहुतों को भ्रम हुआ है 'स्वदयति' का अर्थ है 'सु+अदयति=अच्छी तरह खिलाता है' ।
यदि 'स्वदयति' शब्द को 'स्वद' धातुका रूप मानना हो, तब इसका अर्थ होगा 'स्वाद
देता है' न कि स्वाद लेता है । दूसरी बात यह है कि इससे पूर्व सोमप्रयाज=सोम-
वान् तथा बर्हिषद् पितरों का वर्णन आया है, वे यज्ञ करने वाले हैं । सोमवान्=
सोमप्रयाज पितर सोमयाग [औतयाग] करते हैं, बर्हिषद् पितर पाकयज्ञ=गृह-
याग [अन्नसत्र=सदावर्त्त]=दानपुण्य आदि करते हैं । अग्निष्वात्तों को तैत्तिरीय
ब्राह्मण के ऊपर उद्धृत वाक्य में 'अयज्वानः=यज्ञ न करने वाले कहा गया है ।
इस वास्ते 'अग्निष्वात्त' शब्द का 'अग्नि से जलाए गए' अर्थ करना अनर्थ
है । क्योंकि तब 'अग्निष्वादिताः' पद चाहिए । अतः 'अग्निष्वात्ताः' पद का हमारा
किया हुआ अर्थ सर्वथा वेदानुकूल है । और देखिए—

३. अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे नाराशंसे सोमपीथं य आशुः ।

ते नो विप्रासः सुहवा भवन्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ य० १६।६१
(ये) जिन्होंने (सोमपीथम्) सोमपान का (आशुः) उपभोग किया है उन
(ऋतुमतः) ऋतुओं वाले=ऋत्वनुकूल व्यवहार करने वाले, ऋतुओं के ज्ञानी
(अग्निष्वात्तान्) ज्ञानविदग्धों को (नाराशंसे) यज्ञ में, मनुष्यों से प्रशंसनीय
व्यवहार में (हवामहे) हम बुलाते हैं (ते) वे (विप्रासः) मेधावी(नः) हमारे
लिए (सुहवाः) आसानी से पुकारने योग्य अथवा उत्तम दानी (भवन्तु)
होवें, जिससे (वयम्) हम (रयीणाम्) धनों के (पतयः) स्वामी (स्याम) होवें
'इस मन्त्र' में 'अग्निष्वात्तों' को 'ऋतुमान्' 'सोमपान करने वाले, 'मेधावी'
उत्तमदानी 'वा' आसानी से पुकारे जा सकने वाले' कहा गया है । इनमें से एक भी
विशेषण किसी भी प्रकार मृतक पितरों पर लागू नहीं होता । 'अग्निष्वात्त' पितर
जीवित ही होते हैं, मृत नहीं, इसके लिए निम्नलिखित मन्त्र का ध्यानपूर्वक मनन
कीजिए—

४. ये अग्निष्वात्ता ये अग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।

तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति ॥ य० १६।६०

(ये) जो (अग्निष्वात्ताः) अग्निष्वात्त=अग्निविद्या के पण्डित और (ये) जो (अनग्निष्वात्ताः) अग्नि से भिन्न विद्याओं के पण्डित (दिवः) ज्ञानप्रकाशके (मध्ये) बीचमें (स्वधया) अपनी धारणशक्ति से (मादयन्ते) आनन्दित करते हैं, (स्वराट्) स्वप्रकाश परमात्मा (तेभ्यः) उनके लिए (यथावशम्) यथेच्छ, कामना के अनुकूल, सामर्थ्यानुसार (पताम्) इस (तन्वम्) देह को (असु-नीतिम्) प्राणधारणयोग्य (कल्पयाति) बनाता है।

जो ज्ञानप्रकाश में रहते हुए अपने सामर्थ्य से दूसरों को आनन्दित करते हैं परमदेव परमात्मा भी उनके देह को उनकी इच्छानुसार जीवनधारण योग्य बना देता है।

इस मन्त्र में 'अग्निष्वात्ताः' का अर्थ हमने 'अग्निविद्या के पण्डित' किया है। 'अनग्निष्वात्ताः' का अर्थ 'अग्निसे भिन्न विद्याओं के पण्डित' किया है। इन पदों का अर्थ कई महानुभाव 'आग से जलाए गए' और 'आग से न जलाए गए' अर्थात् गाढ़े, बहाए गए' करते हैं और प्रमाण ऋग्वेद १०. १५. १४ देते हैं। यथा—

५. ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।

तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति ॥

य० १९. ६० मन्त्र की इसके साथ संगति करने के लिए 'अग्निष्वात्त' का अर्थ 'अग्निदग्ध' और 'अनग्निष्वात्त' का अर्थ 'अनग्निदग्ध' करें तो कई दोष आते हैं। पहला दोष यह है कि वे दूसरों को कैसे प्रसन्न करते हैं क्योंकि वे मर चुके हैं [चाहे उनका अन्त्यकर्म अग्नि से हुआ या न] दूसरा दोष यह है कि सभी के मत में यजुर्वेद का क्रम ऋग्वेद के पश्चात् का है। अतः ऋग्वेद के मन्त्रों का स्पष्टीकरण तो यजुर्वेद में हो सकता है, यजुर्वेद के मन्त्रों का ऋग्वेद में नहीं, इस युक्ति से यह मानना पड़ेगा कि 'अग्निदग्ध' का अर्थ 'अग्निष्वात्त' और 'अनग्निदग्ध' का अर्थ 'अनग्निष्वात्त' है। अतः 'अग्निदग्ध' का अर्थ 'अग्नि में चतुर'=अग्नि से कार्य करने में कुशल और 'अनग्निदग्ध' का अर्थ 'अग्निसे भिन्न में चतुर'=अग्नि से इतर पदार्थों से कार्य लेने में 'कुशल'। परन्तु मनुस्मृति में 'अग्निष्वात्त' और 'अग्निदग्ध' दोनों को भिन्न माना गया है। जैसे अग्निदग्धाननग्निदग्धान् काव्यान् बर्हिषदस्तथा। अग्निष्वात्तांश्च सोम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत् (३.१६६) हम मनुस्मृति के इस श्लोक को प्रामाणिक नहीं मानते। किन्तु वादी को इसके अस्वीकार करने का साहस नहीं हो सकता, अतः अग्निष्वात्त और अग्निदग्ध को भिन्न मानना पड़ेगा।

निखात, परोक्ष और उद्धित

कई लोग 'निखात, परोक्ष, दग्ध' और उद्धित,—ये चार प्रकार के पितर बतलाते हैं और उसके लिए निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

१. ये निखाता ये परोक्षा ये दग्धा ये चोद्धिताः ।

सर्वैस्तान् आ वह पितृन् हविषे अत्तवे ॥

अ० १८. २. ३४

(ये) जो (निखाताः) गाड़े गए, (ये) जो (परोषाः) बहाए गए (ये) जो (दग्धाः) जलाए गए (च) तथा (उद्धिताः) ऊपर फेंक दिए गए, हे (अग्ने) अग्ने ! (तान्) उन (सर्वान्) सब (पितॄन्) पितरों को (हविषे+अत्तवे) हवि खाने के लिए (आ+वह) ले आ ।

संसार में प्रचलित अन्त्यकर्म की पद्धतियों को वेद के मन्त्रों में मढ़ने की धुन में ऐसे सज्जनों ने अनर्थ करने में भी संकोच नहीं किया । संसार में चार प्रकार की अन्त्यकर्मपद्धतियाँ प्रचलित बताई जाती हैं—१. दाहकर्म, आर्यों में मृतक को साधारणतया जला देने की रीति है इसका निर्देशक 'दग्धाः' पद है । २. गाड़ना—मुसलमानों, यहूदियों, ईसाइयों आदि में गाड़ने का चलन है । इसका 'निखाताः' पद से वर्णन किया गया है । ३. कुछ जातियों में मृतक को जल में बहा देने का व्यवहार है, उसके लिए 'परोषाः' पद आया है । पौराणिकों में संन्यासियों का जल प्रवाह किया जाता है, या नमक साथ रख कर गाड़ दिया जाता है । बच्चों को गाड़ने तथा बहाने—दोनों प्रकार का—चलन है । ४. पारसियों में ऊँचे स्थान पर शव को रख देने की रीति है, इसका प्रकाशक 'उद्धिताः' पद है ।

इन चारों विधियों को वेद में दिखाने के लिए 'परोषाः' पद का अर्थ 'जल में प्रवाह करना' कर डाला गया है । ऐसा प्रतीत होता है, उन्हें चीन देश में प्रचलित अन्त्येष्टिपद्धति का ज्ञान नहीं है, अन्यथा उसे भी किसी न किसी प्रकार वेद के गले बांध देते । उस मंत्र का यथार्थ अर्थ इस प्रकार है—

हे (अग्ने) ज्ञानिन् ! नेतः ! (ये) जो (निखाताः) खोदने वाले, (ये) जो (परोषाः) उत्तमता से बोलने वाले, (ये) जो (दग्धाः) जले हुए या जलाने वाले, (च) और (ये) जो (उद्धिताः) उठाने वाले उत्तम रक्षक हैं; (तान्) उन (सर्वान्) सब (पितॄन्) पितरों को (हविषे+अत्तवे) भोजन खाने को (आ+वह) ले आ, प्राप्त करा ।

खेती के लिए पहले भूमि खोदनी पड़ती है, चाहे वह हल चला कर खोदी जाए, या कुद्दाल से खोदी जाए । फिर उसमें बीज बोना होता है । अनेक बार खेतों में कई व्यर्थ घास पैदा हो जाते हैं, बीज डालने से पूर्व उनका जलाना अत्यन्त आवश्यक होता है, जलसिंचन, नलाई, पशु आदि से खेत की रक्षा सबसे अधिक आवश्यक होती है । ज़मीन खोदने वालों को 'निखाताः', बीज बोने वालों को 'परोषाः', व्यर्थ घास को जलाने वाले आदिकों को 'दग्धाः' और अन्तिम रक्षकों को 'उद्धिताः' कहा गया है । राष्ट्र या समाज के नेता का परम कर्त्तव्य है कि वह देखे कि इनको भरपूर भोजन मिलता रहे ।

'परोष' शब्द 'परा' उपसर्गपूर्वक 'वप्' धातु से बनता है । 'वप्' का अर्थ बीज बोना और काटना दोनों होते हैं । हमने उसीके अनुसार अर्थ किया है ।

बर्हिषद्, सोम्य

पीछे शतपथब्राह्मण तथा तैत्तिरीयब्राह्मण के प्रमाण से इन दोनों का अर्थ स्पष्ट हो चुका है । 'पितृ' शब्द के रूपों के उदाहरणमन्त्रों में भी ये शब्द आ चुके

हैं, वहाँ देख लें।

पितरों के गण, और उन सबकी एक पत्नी 'अग्निष्वात्' आदि जो विशेष पितर कहे जाते हैं, वे सब वेद में 'बहुवचन' में पड़े गए हैं। एक वचन में 'अग्निष्वात्' आदि का प्रयोग वेद में नहीं मिलता। इससे प्रतीत होता है कि ये सब पितरों की विशेष अग्नियों या गण हैं। पुराण वालों ने इन सबकी 'स्वधा' नामक एक ही पत्नी बताई है। जैसे—

अग्निष्वात्ताः बर्हिषदः सौम्याः पितर आज्यपाः ।

सांज्ञयोऽनज्ञयस्तेषां पत्नी दाक्षायणी स्वधा ॥ श्रीमद्भागवतपुराण ४।१।६३

अर्थात्—अग्निष्वात्त, बर्हिषद, सौम्य, आज्यप, साग्नि, निरग्नि पितर हैं। दाक्षायणी स्वधा उनका पत्नी है। शब्दकल्पद्रुमकोष में गरुडपुराण का निम्नलिखित उद्धरण देखने योग्य है, इसमें पितरों के ३१ गण=समुदाय बताए गए हैं—

एकत्रिंशत् पितृगणा यथा—विश्वो, विश्वभुग्, आराध्यो, धर्मो, धन्यः, शुभाननः । भूमिदो भूमिकृद्, भूतिः पितृणां ये गणा नव ॥

कल्याणः कल्पदः कल्पतरः, कल्पतराश्रयः ।

कल्पताहेतुरनघः षडिमे ते गणाः स्मृताः ॥

वरो वरेण्यो वरदो भूतिदः पुष्टिदस्तथा ।

विश्वपाता तथा धाता सप्तैते गणाः स्मृताः ॥

महान् महात्मा महितो महिमवान् महाबलः ।

गणाः पञ्च तथैवैते पितृणां पापनाशनाः ॥

सुखदो धनदो चान्यो धर्मदोऽन्यश्च भूतिदः ।

पितृणां कथ्यते चैतत् तथा गणचतुष्टयम् ॥

एकत्रिंशत् पितृगणा यैर्व्याप्तमखिलं जगत् ।

ते मेऽत्र तृप्तास्तुष्यन्तु दिशन्तु च सदा हितम् ॥

अर्थात्—इकतीस पितृगण—जैसे—१. विश्व, २. विश्वभुग्, ३. आराध्य, ४. धर्म, ५. धन्य, ६. शुभानन, ७. भूमिद, ८. भूमिकृत्, ९. भूति, [ये पितरों के नौ गण हैं] १०. कल्याण, ११. कल्पद, १२. कल्पतर, १३. कल्पतराश्रय, १४. कल्पताहेतु और १५. अनघ [ये छः गण कहे जाते हैं] १६. वर, १७. वरेण्य, १८. वरद, १९. भूतिद, २०. पुष्टिद, २१. विश्वपाता, २२. धाता [ये सात गण कहे गए हैं] २३. महान्, २४. महात्मा, २५. महित, २६. महिमवान्, २७. महाबल [उसी प्रकार पितरों के यह पाँच पापनाशक गण हैं] २८. सुखद, २९. और दूसरा धनद ३०. और अन्य धर्मद ३१. भूतिद [यह पितरों के चार गण कहे जाते हैं।] ये इकतीस पितृगण हैं जिनसे सम्पूर्ण संसार व्याप्त है। वे मुझसे तृप्त हुए सन्तुष्ट हों

और मुझे सदा कल्याण दें ।

इन नामों में कुछ गड़बड़ है । 'भूतिद' दो बार आया है । इन गणनामों पर विचार कीजिए, मृतकों का इनसे दूर का भी सम्बन्ध नहीं है ।

एक एक गण में हज़ारों पितरों का होना पौराणिक स्वीकार करते हैं । उदाहरण के लिए लीजिए—

सहस्राणां चतुःषष्टिरग्निष्वात्ताः प्रकीर्त्तिताः ।

षडशीतिसहस्राणि तथा बर्हिषदो द्विजाः ॥

अर्थात्—चौंसठ हज़ार अग्निष्वात्त कहे जाते हैं, और हे द्विजो! छियासी हज़ार बर्हिषद् ।

इन दो गणों की संख्या से शेष गणों के सम्बन्ध में भी कल्पना की जा सकती है । जाने, कितने लाख 'पितर' बनेंगे, और उन सब की एक—केवल एक—स्वधा पत्नी है । जीतों या मरों—इतनों—की एक पत्नी !!! असंभव ! सर्वथा असंभव ! अतः पत्नी शब्द का यह मुख्य-अर्थ न मान कर गौण अर्थ मानना पड़ेगा । पत्नी का अर्थ करना होगा—शक्ति, सामर्थ्य । पालकों की, शिक्षकों की, उपदेशकों की, ज्ञानियों की, सूर्यरश्मियों की—सब की शक्ति को यदि एक नाम देना हो तो वह है—स्वधा । स्वधा का अर्थ है अपना धारणसामर्थ्य । ऐसा मानने से किसी प्रकार का कोई दोष नहीं आता ।

यहाँ इन गणों से, इनकी निश्चित संख्या से, एक बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि 'पितर' [पितृ-शब्द] मृतक का वाचक कभी नहीं हो सकता । यदि मृतक का वाचक हो, तो संख्या नियत कैसे हो सकती है । प्रति दिन लाखों मनुष्य मरते और पुराणानुसार वे 'पितृ' संज्ञा प्राप्त करते हैं, फिर यह संख्या उतनी कैसे रह सकती है । पुराणकारों का यह नियत संख्या बताना सिद्ध करता है कि ये मृतक नहीं वरन् संसार के कल्याणसाधक पदार्थों का वर्गीकरण करते हुए कभी ३१ श्रेणियाँ बनाई जा सकीं । अथवा कोरी कल्पना है । जो भी हो, संक्षेप में हमने दिखा दिया है कि वेद में 'पितृ' शब्द का पौराणिक मृतकपितृवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

प्रसंग से पितृ-शब्द का भाव समझाने के लिए ये कुछ एक बातें कह दी गई हैं । अब अगला शब्द लीजिए ।

दशमः पाठः

अब 'गो' शब्द के रूप दिखाते हैं—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	गौः	गावौ	गावः
सम्बोधन	[हे] गौः	[हे] गावौ	[हे] गावः
द्वितीया	गाम्	गावौ	गाः
तृतीया	गवा	गोभ्याम्	गोभिः

चतुर्थी	गवे	गोभ्याम्	गोभ्यः
पञ्चमी	गोः	गोभ्याम्	गोभ्यः
षष्ठी	गोः	गवोः	गवाम्, गोनाम्
सप्तमी	गवि	गवोः	गोषु

‘गो’ शब्द वेद और लौकिक संस्कृत दोनों में ही पुंलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग-उभयलिङ्ग-माना जाता है। इसके रूप लोक-वेद में प्रायः समान ही चलते हैं। केवल षष्ठी के बहुवचन में वेद में ‘गोनाम्’ रूप भी होता है।

महर्षि यास्ककृत निघण्टु में इसके निम्नलिखित अर्थ दिए गए हैं—

पृथिवी (१.१)। रश्मि (१.५)। वाक् (१.११)। स्तोता (३.१६)। १.४

में साधारण नामों में गिनाया गया है। यास्काचार्य अपने निरुक्त में इस पर लिखते हैं—‘साधारणान्युत्तराणि षड् दिवश्चादित्यस्य च’ (नि० २।१३) अर्थात् अगले छः नाम द्यौ और आदित्य के साधारण=सांझे हैं। इस रीति से द्यौ और आदित्य भी ‘गो’ शब्द के अर्थ होते हैं। निघण्टु ५।५ में यह ‘गौः’ पद ‘पदनामों में पढ़ा गया है। निरुक्तकार निघण्टु के पांचवें अध्याय को देवता [=मन्त्रप्रतिपाद्य-विषय-] वाचक पदों का संग्रह बताते हैं और इस स्थल में पढ़े ‘गौः’ पद को ‘मध्यस्थाना स्त्री देवताओं’ में गिनाते हैं। वे इस स्थल पर इसके उदाहरण में आए ‘गौः’ पद का अर्थ ‘वागेषा माध्यमिका, घर्मधुग् इति याज्ञिकाः (११. ४२) लिखते हैं। अर्थात् ‘गौः’ पद का अर्थ ‘माध्यमिक वाणी=अन्तरिक्ष में होने वाली ध्वनि है। याज्ञिक लोग इसका अर्थ ‘यज्ञ को पूर्ण करने वाली’ करते हैं।

निघण्टु ४।१ में भी ‘गौः’ पद पढ़ा है। निरुक्तकार निघण्टु के चतुर्थ अध्याय में संगृहीत पदों को ‘अनेकार्थक’ मानते हैं। ‘अथ यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि, तान्यतो अनुक्रमिष्यामो उनवगत संस्कारांश्च निगमान् ।’ (४.१) अब ऐसे शब्दों का संकलन करेंगे, जो अनेक अर्थों वाले हैं, और ऐसे निगमों=प्रमाणशब्दों का भी संग्रह करेंगे, जिनका संस्कार=प्रकृति प्रत्ययादि संबन्ध ज्ञात नहीं है। तात्पर्य यह है कि निघण्टु के पहले तीन अध्यायों में एक एक पदार्थ के वाचक अनेक शब्दों का संग्रह है, जैसे निघण्टु १.१ में पृथिवी के इक्कीस नाम गिना दिए गए हैं। निघण्टु के चौथे अध्याय में अनेकार्थक पदों का संकलन है। निरुक्त (२।५—७) में इस शब्द का निर्वचन इस प्रकार है—“गौरिति पृथिव्या नामधेयम्, यद् दूरं गता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति, गातेवौकारो नामकरणः ॥

‘गौ’ यह पृथिवी का नाम है, क्योंकि यह दूर गई हुई है, और चूंकि इसमें भूत=प्राणी और अप्राणी चलते हैं, प्राप्त होते हैं। अथवा ‘गा’ धातु से ओकार=ओ [डो] नामार्थक प्रत्यय हुआ है।

तात्पर्य यह है कि ‘गौः’ [गो] पद गम् धातु [जिस का अर्थ ‘गमन’ है]

से कर्त्ता अथवा अधिकरण अर्थ में डो प्रत्यय करने से गो [गौः] शब्द बनता है। अर्थ हुआ, जाने वाला, या जाने का स्थान। पृथिवी सूर्य से निकल कर दूर चली गई है, और निरन्तर चलती रहती है और इस पृथिवी पर प्राणिसमुदाय नाना प्रकार की गतियां करते हैं, अतः पृथिवी का 'वेद' में 'गो' [गौः] नाम से उल्लेख है। निरुक्तकार ने इस शब्द की निष्पत्ति 'गा' [गाङ् गतौ, भ्वादिगण] धातु से भी मानी है। किसी भी धातु से सिद्धि मानें, रूप और फलितार्थ एक ही हैं।

२. अथापि पशुनामेह भवति एतस्मादेव ।

और इसी [अर्थात् 'गम्' या 'गाङ्' धातु] से इसमें [इन दोनों-कर्त्ता और अधिकरण कारक में] पशुवाचक [गौ=गाय] भी होता है।

३. अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति ।

'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० ६।४६।४) इति पयसः ।

४. 'अंशुं दुहन्तोऽध्यासते गवि' (ऋ० १०।६४।६) इति अधिषवणचर्मणः ।

५. अथापि चर्म च श्लेष्मा च—

'गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्व' (ऋ० ६।४७।२६) इति रथस्तुतौ ।

६. अथापि स्नाव च श्लेष्मा च—

'गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता' (ऋ० ६।७५।११) इति इषुस्तुतौ ।

७. ज्यापि गौरुच्यते । गव्या चेत्ताद्धितमथ चेन्न गव्या, गमयतीष्वन् इति ।

वृक्षे वृक्षे नियतामीमयद्रौस्ततो वयः प्रपतान् पूरुषादः । (ऋ० १०।२७।२२)

वृक्षे वृक्षे=धनुषि धनुषि, वृक्षो व्रश्चनात् । नियतामीमयद् गौः—शब्दं करो-
ति, मीमयतिः शब्दकर्मणा । ततो वयः प्रपतन्ति पुरुषानदनाय । विरिति शकुनिनाम,
वेतेर्गतिकर्मणः ।

और इस अर्थ में समष्टि की भाँति ताद्धितप्रयोग भी होते हैं। [अर्थात् 'गो' शब्द का अर्थ गो का विकार=गौ से निर्मित पदार्थ होता है]। यथा गोभिः—मन्त्र में 'गोभिः' पद का अर्थ है 'दूध से'। 'अंशुं.....मन्त्र में 'गवि' पद का अर्थ है मृगचर्म, जिस पर बैठकर सोम कूटा जाता है। और 'चर्म=चमड़ा और श्लेष्मा' भी अर्थ होता है, जैसे—'गोभिः..... रथस्तुति वाले मन्त्र में गोभिः पद का अर्थ है—चमड़े से। 'स्नायु और श्लेष्मा अर्थ' भी होता है। गोभिः.....इषुस्तुतिवाले मन्त्र में गोभिः पद का अर्थ है 'स्नायुओं से=तान्तों से।' 'ज्या'=प्रत्यश्चा=धनुष की डोरी को भी गौ कहते हैं, चाहे वह गौ के चमड़े की बनी हुई हो या न। वह इषुओं को=तीरों को गति देती है। जैसे 'वृक्षे वृक्षे...' मन्त्र में 'गौः' का अर्थ है धनुष की डोरी। [मन्त्र-खंड का अर्थ निरुक्तकार इस प्रकार करते हैं—] वृक्षे वृक्षे=धनुष-धनुष में अर्थात् प्रत्येक धनुष में। वृक्ष शब्द

‘ओत्रश्चू’ धातु से बनता है, जिसका अर्थ छेदन=काटना है। नियता=जगी हुई गौः=डोरी अमीमयत्=शब्द करती है। मीमृ धातु का अर्थ है शब्द करना। ततः=तब वयः=पक्षी अथवा वाण प्रपतान्=प्रपतन्ति=गिरते हैं। पूरुपादः=पुरुषों को खाने के लिए। [वयः पद ‘वि’ का प्रथमा बहुवचन है, जैसे कवि का कवयः।] ‘वि’ का अर्थ पक्षी है, और गत्यर्थक वी धातु—‘वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु’ से बनता है।

हमने यहाँ ३-७ खण्ड प्रयोजनवश इकट्ठे दिए हैं। ७वें ‘गव्या चेत्ताद्वितमथ चेन्न गव्या’ [चाहे वह तद्वितप्रत्ययबोध्य वस्तु ‘गौ’ का विकार हो या न हो] वाक्य ३ से ७ तक के सभी वाक्यों का एकशेष है। अर्थात् गोभिः श्रीणीत—मन्त्र में ‘गोभिः’ का अर्थ दूधमात्र है, चाहे वह गौ का हो या न हो। इसका एक बहुत प्रसिद्ध और उदाहरण भी है—‘आज्य’ शब्द का अर्थ ‘बकरी का दूध, घी आदि’ हो संकता है, किन्तु इसका अर्थ होता है—‘घी’। चाहे वह बकरी का हो वा न हो, इसी प्रकार ‘प्रत्यंचा, चर्म, स्नायु, श्लेष्म’ को वेद में ‘गो’ शब्द से व्यवहृत किया जाता है, चाहे वह ‘गौ’ के हों या न हों। इसी कारण हमने ‘गवि’ पद के निरुक्त के दिए पर्याय ‘अधिषवणचर्मणः’ का अर्थ मृगचर्म किया है। इस प्रकरण की विशेष विवेचना—हमारे लिखे ‘वैदिक स्वदेशभक्ति’ में देखिए।

एक और बात भी यहाँ ध्यान देने योग्य है। आरंभ में ‘गौः’ पद की निरुक्ति देते हुए निरुक्तकार ने सामान्य ‘गम्’ या ‘गा’ धातु से ‘गो’ शब्द की सिद्धि मानी है, किन्तु ‘ज्या’ अर्थ मान कर उसे ‘ण्यन्त’ मान कर अर्थात् भेजना भिजवाना, अर्थ मान कर अर्थ किया है।

८. अथापि इषुनामेह भवति एतस्मादेव ।

और इसी निर्वचन से यह ‘गो’ पद इषु=तीर का वाचक भी है।

९. आदित्योपि गौरुच्यते—‘उतादः परुषे गवि ।’ (ऋ० ६।५६।३)

आदित्य को भी गौ कहते हैं। ‘उतादः—मन्त्र के गवि पद का अर्थ है, आदित्य में ।’

गौरादित्यो भवति, गमयति रसान् गच्छत्यन्तरिक्षे । निरु० २।१४

गौ का अर्थ आदित्य है, क्योंकि जल भेजता है, अन्तरिक्ष में गति करता है।

१०-११. अथाप्यस्यैको राश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते, तदेतेनोपेक्षितव्यम्-आदित्यतोऽस्यदीप्तिर्भवति इति ।

सुषुम्णः सूर्येरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः । य० १८।४०

इत्यपि निगमो भवति । सोपि गौरुच्यते—

अत्राह गोरमन्वत (ऋ० १।८४।१५) इति ।

सर्वेपि रश्मयो गाव उच्यन्ते—(निरु० २।६)

और इसकी [सूर्य की] एक किरण चन्द्रमा को प्रकाशित करती है। इससे यह समझ लेना चाहिए कि सूर्य के निमित्त से इसकी [चन्द्रमा की] दीप्ति होती है। इसमें 'सुषुम्ण, सूर्य की किरण और चन्द्रमा गन्धर्व [किरण को धारण करने वाला]' (य० १८।४०) यह प्रमाण है। उस [सूर्य की सुषुम्ण नामक किरण] को भी 'गौः' कहते हैं.....। सभी किरणों को 'गौ' कहते हैं।

१२. अथ द्यौः, यत्पृथिव्या अधिदूरं गता भवति, यच्चास्यां ज्योतीषि गच्छन्ति।
(निरु० २।१४)

और 'गौ' शब्द का अर्थ 'द्यौ' भी है, क्योंकि यह पृथिवी से ऊपर दूर तक गई होती है, और कि इसमें ग्रहनक्षत्र आदि गति करते हैं।

संक्षेप में यास्काचार्य जी के मत से 'गौ' शब्द के कम से कम निम्नलिखित अर्थ अवश्य हैं—१. पृथिवी २. सूर्य की एक किरण, ३. किरणमात्र ४. वाणी ५. स्तोता, ६. सूर्य ७. द्यौ ८. चमड़ा, ९. श्लेष्मा १०. स्नायु ११. धनुष की डोरी १२. तीर १३. माध्यमिक वाणी, १४. गौ।

निरुक्तकार ने १२।७ में प्रसंग से 'गावो गमनात्' लिखा है। अर्थात् गौ का प्रवृत्तिनिमित्त और व्युत्पत्तिनिमित्त 'गमन' है। जिस जिस पदार्थ को 'गौ' कहा गया है, गति का किसी न किसी रूप में अवश्य उससे संबंध है।

इस प्रसङ्ग में ब्राह्मणग्रन्थों के निम्नलिखित निर्देश भी विचारने योग्य हैं—

१. इमे वै लोका गौः (श० ६।१।२।३४) ये लोक गौ हैं।
२. गावो वा आदित्याः (पे० ४।१७) आदित्य गौ हैं।
३. अन्नमु गौः (श० ७।५२।१६) अन्न ही गौ है।
४. यज्ञो वै गौः (तै० ३।६।८।३) यज्ञ ही गौ है।
५. यज्ञो ह्येवेयं गौः, नो ह्यते गौर्यज्ञस्तायते (श० २।२।४।१३) यज्ञ ही गौ है, क्योंकि गौ के बिना यज्ञ नहीं होता।
६. प्राणो हि गौः (श० ४।३।४।२५) प्राण गौ है।
७. इन्द्रियं वै वीर्यं गावः (श० ५।४।३।१०) इन्द्रिय (आत्मशक्ति तथा आत्मा के करण-उपकरण=साधन) तथा वीर्य गौ हैं।

ब्राह्मणों में यास्काचार्य जी की अपेक्षा १. अन्न, २. यज्ञ, ३. प्राण, ४. इन्द्रिय और ५. वीर्य—इतने अर्थ अधिक दिए हुए हैं।

पाठकों की सुविधा के लिए सारे अर्थों को यहाँ पुनः लिख देते हैं—
१. पृथिवी, २. सूर्य, ३. सूर्य की सुषुम्ण नामक किरण, ४. किरणमात्र, ५. द्यौ, ६. वाणी, ७. स्तोता, ८. गौ, ९. चर्म, १०. श्लेष्मा, ११. स्नायु, १२. धनुष की डोरी, १३. तीर, १४. माध्यमिक वाणी, १५. अन्न, १६. यज्ञ, १७. प्राण, १८. इन्द्रिय, १९. वीर्य।

पाठक इन अर्थों को भलीभाँति हृदयङ्गम कर लें; इन्हें कण्ठ कर लें। जिन जिन मन्त्रों में 'गो' शब्द के किसी रूप का प्रयोग है, प्रकरण और विशेषणों के बल से इनमें से कोई न कोई अर्थ वहाँ होगा। आगे के उदाहरणों में कुछ अर्थ आप को मिलेंगे।

'गो' शब्द के वेद में ही इतने अर्थ हैं, सो बात नहीं है। लौकिक संस्कृत में भी यह शब्द अनेकार्थक है। उसके लिए कुछ कोषों के प्रमाण हम यहाँ दे देते हैं। अमरकोष में तृतीय काण्ड के नानार्थवर्ग में निम्नलिखित अर्थ लिखे हैं—

स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले । लक्ष्यदृष्ट्यां स्त्रियां पुंसि गौः—॥३०॥

लक्ष्य (वाच्य) के विचार से गौ शब्द स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग दोनों है। इसके अर्थ स्वर्ग, तीर, गौ, वाणी, वज्र, दिशा, आँख, सूर्य, पृथिवी और जल हैं।

केशव के कल्पद्रुमकोष में इस प्रकार लिखा है—

गौर्नादित्ये बलीवर्दे किरणक्रतुभेदयोः ।

स्त्री तु स्याद्विशि भारत्यां भूमौ च सुरभावापि ॥

नृस्त्रियोः स्वर्गवज्राभ्वराश्मिह्रवाणलोमसु ।

(पुँल्लिङ्ग में) 'गौ' शब्द के बैल, किरण और यज्ञविशेष अर्थ हैं। स्त्रीलिङ्गी गौ शब्द के अर्थ दिशा, वाणी, भूमि और गौ हैं। दोनों लिङ्गों वाले गौ शब्द के स्वर्ग, वज्र, जल, किरण, नेत्र, वाण और रोम (शरीर के बाल) अर्थ हैं।

विक्रम की बीसवीं शतक के आरंभ में संस्कृत के दो महाकोष धने। एक का नाम 'शब्दकल्पद्रुम' है और दूसरे का नाम 'वाचस्पत्याभिधान' है। उनमें भी 'गो' के अनेक अर्थ माने गए हैं। पं० तारानाथतर्कवाचस्पति के बनाए 'वाचस्पत्याभिधान' में निम्नलिखित अर्थ लिखे मिलते हैं—१. गाय, २. रश्मि, ३. वज्र, ४. हीरा, ५. स्वर्ग, ६. चन्द्र, ७. सूर्य, ८. गोमेध, ९. ऋषभक नामक औषध, १०. नेत्र, ११. वाण, १२. दिशा, १३. वाणी, १४. भूमि, १५. जल, १६. पशुमात्र, १७. माता, १८. लोम=रोम, १९. वृषनामक राशि, २०. नौ संख्या, २१. पुलस्त्य की स्त्री का नाम, २२. इन्द्रियगोचर।

वाचस्पत्याभिधान के विद्वान् लेखक ने प्रत्येक अर्थ के साथ गति-अर्थ की योग्यता को भी दिखाया है। शब्दकल्पद्रुमकार ने गति-अर्थ की प्रत्येक के साथ योग्यता दिखा कर भी लिख दिया—

“वस्तुतस्त्वयं रूढ एव शब्दः । तदुक्तम्—

रूढा गवादयः प्रोक्ता यौगिकाः पाचकादयः ।

योगरूढाश्च विज्ञेयाः पंकजाद्या मनीषिभिः ॥”

वस्तुतः यह शब्द रूढ है। जैसा कि कहा है—कि गौ आदि शब्द रूढ हैं, पाचक आदि शब्द यौगिक हैं और पंकज आदि शब्द योगरूढ हैं।

हमारी समझ में नहीं आता कि यदि गौ शब्द रूढ है तो शब्दकल्पद्रुम-

कार ने इसकी व्युत्पत्ति क्यों दिखाई ? और फिर इतने अर्थों में इसकी प्रवृत्ति कैसे हो गई, यह भी बताने की कृपा नहीं की ? कोई भी विद्वान् रूढ़ शब्द के अनेक अर्थों में प्रवृत्ति का निमित्त नहीं बतला सकता । उसे बलात् शब्दों के व्युत्पत्ति-निमित्त का आश्रय लेना ही पड़ता है । अर्थात् शब्दों को यौगिक या योगरूढ़ माने बिना निर्वाह नहीं चल सकता ।

यद्यपि वेदार्थ में निरुक्त, निघण्टु एवं ब्राह्मण ग्रन्थ ही उपयोगी हैं, अमर-कोष आदि का कोई उपयोग नहीं, तथापि हमने यह दिखलाने के लिए कि लौकिक-संस्कृत में भी यह शब्द अनेकार्थक है, अमरकोष आदि के वचन यहाँ दिए हैं । इतने अर्थों की सत्ता में यह स्वीकार करना पड़ता है कि सर्वत्र 'गौः' पद का 'गाय' अर्थ करना अनर्थ है । प्रकरण और विशेषण आदि के विचार से ही अर्थ करना चारु होगा । इसका विचार किए बिना अर्थ करने से कैसा अनर्थ होता है, इसका एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा । ऋ० १।११०।८

निश्चर्मण ऋभवो गामपिशत संवत्सेनासृजत मातरं पुनः ।

सौधन्वनासः स्वपस्यया नरो जिब्री युवाना पितरा कृणोतन ॥

मन्त्र का अर्थ करते हुए श्री सायणाचार्य लिखते हैं—

पुरा कस्यचिद्वेषेर्धेनुमृती । स ऋषिस्तस्या धेनोर्वत्सं दृष्ट्वा ऋभून् तुष्टाव ।
ऋभवस्तत्सदृशीमन्यां धेनुं कृत्वा तदीयेन चर्मणा संवीय तेन वत्सेन समयोजयन्,
इत्ययमर्थः पूर्वार्धेन प्रतिपाद्यते ।

अर्थात्—पहले काल में किसी ऋषि की गौ मर गई । उस ऋषि ने उस गौ के बछड़े को देख कर ऋभुओं की स्तुति की । ऋभुओं ने उस जैसी और गौ बना कर उस गौ के चमड़े से उसे ढक कर उस बछड़े के साथ जोड़ दिया, यह अर्थ मन्त्र के पूर्वार्ध द्वारा प्रतिपादित किया जाता है ।

कोई श्री सायणाचार्य से पूछे, महाराज ! जिन ऋभुओं में नूतन गौ बनाने की शक्ति थी, उन्होंने बछड़े को क्यों न उस नई गौ के साथ जोड़ दिया । मरी गौ का चमड़ा उछेड़ने की क्या आवश्यकता थी ? ऐसे बुद्धिविरुद्ध अर्थ को श्री सायण ही लिख सकते हैं । वैशेषिक दर्शन के कर्त्ता प्रसिद्ध महर्षि कणाद कहते हैं—'बुद्धि-पूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' (वै० ६।१।१) वेदों की वाक्यरचना बुद्धिपूर्वक है । अतः इस मन्त्र का सायणकृत अर्थ बुद्धिविरुद्ध होने से वेदविरुद्ध है । इस मन्त्र का शुद्ध अर्थ हमने पृ० ११०-१११ में कर दिया है । पाठक वहाँ देखें, और विचारें । वेदार्थ अभ्यास करने में तर्क का आश्रय अवश्य लेना चाहिए । इसका निरूपण हम आगे चल कर करेंगे । अब 'गौ' पद की विभिन्न विभक्तियों के उदाहरण लीजिए—

१. दूणाशं सख्यं तव गौरसि वीर गव्यते । अश्वो अश्वायते भव ॥ ऋ० ६।४१।२६

हे (वीर) वीर ! (तव) तेरा (सख्यम्) सख्य=मित्रता (दूणाशम्) अवि-
नाशी है (गव्यते) गौ के समान आचरण करने के लिए, गौ की कामना

करने वाले के लिए तू (गौः) गौ=गौ-समान (असि) है और (अश्रायते) अश्र की कामना करने वाले के लिए तू (अश्रः) अश्र=अश्रतुल्य (भव) हो। मित्र अपने मित्र के सद्भावों की सदा रक्षा ही करता है।

२. गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ ।

सृकाणं धर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः॥ऋ० १।१६४।२८

(मिषन्तम्) शब्द करते हुए, हंभारते हुए (वत्सम्+अनु) बच्छड़े के पीछे (गौः) गौ (अमीमेत) हंभारती है=शब्द करती है। (उ)मानो (मातवै) सत्कार करने के लिए [बच्छड़े के] (मूर्धानम्) माथे को (हिङ्ङ+अकृणोत्) चाटती हुई हिंकारती है। (सृकाणम्) सिरजन करने वाले (धर्मम्) गरमी, धूप को (अभि+वावशाना) लक्ष्य करके चाहती हुई, मानों (मायुम्) शब्द को (मिमाति) निर्माण करती है और (पयोभिः) जलों के साथ, दूधों के साथ (पयते) गति करती है, गति देती है।

इस मन्त्र के पहले भाग में गौ=गाय के एक स्वभाव का वर्णन किया गया है। गौ अपने बछड़े का शब्द सुनकर अवश्य हंभारने लगती है, और मानो उसका आदर करने के लिए उसका माथा चाटती हुई बोलती जाती है। उत्तरार्ध में सामान्य गौ के सादृश्य से पृथिवीरूपी गौ का वर्णन है। पृथिवी मानो धूप की कामना करती है, क्योंकि आतप में सृष्टि के साधन अधिक होते हैं, पृथिवी गति करती है, किन्तु जलों को साथ लेकर चलती है, तभी तो लौकिक साहित्य में 'ससागराभरा धरा' कहलाती है।

'धर्म' शब्द का एक अर्थ 'यज्ञ' भी होता है। इस अर्थ के अनुसार उत्तरार्ध 'गौ=गाय अर्थ' पर भी लागू हो जाता है। सिरजन करने वाले यज्ञ की कामना करती हुई गौ शब्द करती है। और फिर दूधों के साथ गति करती है। अर्थात् जब गौ का ऋतु आता है, तब वह बोलने लगती है। 'धर्म' शब्द का अर्थ 'गरमी' करें, तब भी ऊपर वाला भाव ठीक है। साधारण बोलचाल में कहते हैं—'अब यह गौ गरम हो गई है, अतएव बोल रही है।'

३. अयं स शिक्ते येन गौरमीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता ।

सा चित्तिमिनि हि चकार मर्त्यं विद्युद्वन्ती प्रति वव्रिमौहता॥ऋ० १।१६४।२९

(अयम्) यह (सः) वह प्रसिद्ध बच्छड़ा=मेघ [पृथिवी को लक्ष्य करके] (शिङ्ङ्क्ते) गर्जता है (येन) जिससे (अमीवृता) घिरी हुई (गौः) पृथिवी (ध्वसनौ+अधि) परिधि में (श्रिता) आश्रित हुई (मायुं) शब्द को (मिमाति) करती है अथवा (मायुम्) परिमित मार्ग को (मिमाति) जाती है। (हि) सचमुच (सा) वह (चित्तिभिः) चयनों के द्वारा, तहाँ Layers के द्वारा (मर्त्यम्) मरणधर्मा पदार्थों का (नि+चकार) निश्चय कराती है और उसी में (भवन्ती) विद्यमान (विद्युत्) विद्युत्-विजली (वव्रिम्) रूप को (प्रति+

औहत) प्रति पदार्थ में सुझाती है ।

सूर्य की गरमी से पृथिवी पर का जल ऊपर को जाकर बादल का रूप धारण करता है, इस कारण मेघ को पृथिवी का वत्स कहा है । मेघ गर्ज रहा है । पृथिवी मेघ से घिरी रहने पर भी, पतनशील परिधि में रहती भी अपने मार्ग पर चली जा रही है । एक वैज्ञानिक तथ्य का अन्योक्ति द्वारा परमकवि परमात्मा उपदेश करते हैं कि संसार के मोहमायारूप विघ्न बाधाओं से घिरे रहने पर भी मनुष्य को सन्मार्ग से विचलित नहीं होना चाहिए । पृथिवी अपनी तहों Layers के द्वारा निश्चय कराती है कि वह संयोगजन्य है, अतः एक दिन उसका विनाश अवश्य होगा ।

अन्तिम चरण में एक विज्ञानगर्भित दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण किया गया है । रूप आग का धर्म है, फिर पृथिवी में रूप कहाँ से आ गया ? इसका उत्तर दिया है—‘विद्युद्भवन्ती प्रति वत्रिमौहत ।’ पृथिवी में विद्युत्=अग्नि= Magnet=चुम्बकीय शक्ति है, वही सब रूपों का निर्माण तथा भान कराती है ।

४. अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात् ।

सा कद्रीची कं स्विदर्थं परागात्क स्वित्स्वते नहि यूथे अन्तः॥ऋ० १।१६४।१७

(वत्सम्) वत्स को (बिभ्रती) धारण करती हुई (गौः) गौ=पृथिवी (परेण) परले (पदा) मार्ग से (अवः) निचले को और (एना) इस (अवरेण) निचले मार्ग से (परः) परले मार्ग को (उत्+अस्थात्) उठती रहती है । (कद्रीची) अदृश्य गतिवाली (सा) वह पृथिवी (कं+स्वित्) किस (अर्धम्) भाग को (परा+गात्) लौट जाती है, और (क+स्वित्) किसी (यूथे+अन्तः) समुदाय के बीच में (नहि) नहीं (सूते) सन्तान उत्पन्न करती ।

पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूम रही है । इसकी गति चर्म-चक्षुओं से दिखाई नहीं देती । सूर्य के चारों ओर घूमती हुई अपनी धुरी पर भी घूमती है, अतः इसका एक भाग ही, कभी कोई कभी कोई, सूर्य के सामने रहता है । पृथिवी के साथ ही साथ इसका वायुमण्डल, और अतएव मेघमण्डल भी घूमता है, अर्थात् वायुमण्डल और मेघमण्डल को साथ लेकर ही सप्तागराम्बरा वसुन्धरा सूर्य के चारों ओर घूमती है । मन्त्र के पूर्वार्ध से कुछ ऐसा प्रतीत है, मानों पृथिवी अपने भ्रमण में कुछ झुकती सी है, अन्यथा ‘निचले मार्ग’ आदि शब्दों का व्यवहार न होता ।

५. एवा हि ते शं सवना समुद्र आपो यत् आसु मदन्ति देवीः ।

विश्वा ते अनु जोष्या भूद्वौः स्रींश्चिद्यदि धिषा वेषि जनान्॥ऋ० १।१७३।

हे मनुष्य ! (समुद्रे) समुद्र में, अन्तरिक्ष में (आपः) जलों की भाँति (ते) तेरे (सवना) ऐश्वर्य, यज्ञकर्म (शम्) शान्तिदायक (एवा=एव) ही [होते हैं] (यत्) जब (ते) तेरे (देवीः) दिव्य साधन, सुखसाधन (आसु) इन

जलों में (मदन्ति) हर्षित करते हैं। (ते) तेरी (विश्वा) संपूर्ण (गौः) वाणी, विद्या, शक्ति, पृथिवी (अनु+जोष्या) अनुकूलता से सेवन करने योग्य (भूत) हो जाती है (यदि) यदि तू (धिपा) बुद्धि से, धैर्य से (सूरीन्) विद्वान् (चित्) ही (जनान्) जनों को (वेपि) चाहता है।

मनुष्य की वाणी, विद्या, धनसंपत्ति की सफलता इसी में है कि वह विद्वानों, ज्ञानियों की कामना करे; उनका संग करे, उनकी सेवा करे। जिस प्रकार समुद्रस्थ अथवा अन्तरिक्ष में होने वाले जल उसी के लिए शान्ति सुख के दाता होते हैं, जो उनका उपयोग करना जानता और उपयोग करता है।

समुद्र का अर्थ अन्तरिक्ष भी होता है क्योंकि निघण्टु १।३ में अन्तरिक्ष नामों में पड़ा है। निरुक्त में इसका निर्वचन इस प्रकार दिया है— समुद्रवस्ति अस्मादापः संभद्रवन्त्येनमापः (निरु० २।१०) जिसमें जल बह कर जाएं, या जिससे बह कर आएँ। अन्तरिक्ष से जल बह कर आते हैं, और सागर में बह कर जाते हैं, अतः दोनों का नाम समुद्र है।

६. महि ज्योतिर्निहितं वक्षणास्वामा पक्वं चरति बिभ्रती गौः ।

विश्वं स्वाद्य सम्भृतमुस्त्रियायां यत्सीमिन्द्रो अदधाद्भोजनाय ॥ ऋ० ३।३०।१४

(वक्षणासु) नदियों में, (निहितम्) रखे हुए (महि) महान् (ज्योतिः) प्रकाश को और (आमा) कच्चे तथा (पक्वम्) पक्के को (बिभ्रती) धारण करती हुई (गौः) गौ=पृथिवी (चरति) चल रही है। और (भोजनाय) भोजन के लिए (इन्द्रः) इन्द्र=परमेश्वर ने, अथवा सूर्य ने (सीम्) सब और (यत्) जो (अदधात्) रखा है, वह (विश्वम्) सब (स्वाद्य) स्वादु पदार्थ-समुदाय (उस्त्रियायाम्) किरण में या पृथिवी में (संभृतम्) धारण किया हुआ है।

'वक्षणा' निघण्टु १।१३ में नदीनामों में हैं। नदियों के जल में विद्युत्=विजली होती है। आज-कल अधिकतर नदियों और जलप्रपातों से विजली निकाली जाती है। पृथिवी में कच्चे-पक्के दोनों प्रकार के पदार्थ हैं। भगवान् ने मनुष्यादि प्राणियों के खाने के लिए जो स्वादिष्ट पदार्थ बनाये हैं, वे सभी पृथिवी में हैं।

७. वृक्षे वृक्षे नियतामीमयद्रौस्ततो वयः प्रपतान् पूरुषादः ।

अथेदं विश्वं भुवनं भयात् इन्द्राय सुन्वदपये च शिक्षत् ॥ ऋ० १०।२७।२२

(वृक्षे वृक्षे) धनुष्य-धनुष्य पर=प्रत्येक धनुष्य पर (नियता) लगी (गौः) डोरी=रत्यञ्चा (अमीमयत्) शब्द करती है (ततः) उससे (पूरुषादः) पुरुषों को खानेवाले (वयः) पक्षी=वाणरूपी पक्षी (प्रपतान्) वेग से गिरते हैं। (अथ) और (इदम्) यह (विश्वम्) संपूर्ण (भुवनम्) लोक (इन्द्राय) इन्द्र के लिए=प्राणी के लिए (सुन्वत्) ऐश्वर्य देता हुआ (च) और (ऋषये) ऋषि को (शिक्षत्) शिक्षा देता हुआ (भयान्ते) डरता है।

इस मन्त्र के पूर्वार्ध को निरुक्तकार ने भी उद्धृत किया है। हमने निरुक्त-
कार की व्याख्या पृष्ठ १४६ पर लिखी है।

निस्सन्देह यह संसार जीवके लिए ऐश्वर्य का साधक है चाहे वह
सांसारिक ऐश्वर्य हो या पारमार्थिक। योगदर्शन में भी कहा है—भोगापवर्गार्थं
दृश्यम् (यो. द. २। १८) [यह दृश्य=जगत् भोग और मोक्ष के लिए है]।
ऋषि=क्रान्तदर्शी=पदार्थों का साक्षात् कर चुके महात्मा के लिए यह संसार बहुत
बड़ा शिक्षणालय है। जनन, जरा, व्याधि, मरण आदि को देखकर ज्ञानी को
संसार की असारता का निश्चय होता है। उससे उसे संसार से निर्वेद और निर्वेद
के पश्चात् वैराग्य होता है। वैराग्ययुक्त होकर वह मोक्ष के साधनों को अपनाता है।

८. या गौर्वर्तनिं पर्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः।

सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्विषा विवस्वते ॥ऋ. १०।६।६
(या) जो (गौः) पृथिवी, चन्द्र-आदि भ्रमणकारी गोल (व्रतनीः) व्रत का
मानो पालन करता हुआ (पयः) रस (दुहाना) देता हुआ (निष्कृतम्)
निश्चित (वर्तनिम्) मार्ग को (अवारतः) निरन्तर (परिभ्रमति) चारों ओर
जाता है (सा) वह लोक [मानो] (दाशुषे) दान करने वाले (वरुणाय)
श्रेष्ठकर्मकारी को (प्रब्रुवाणा) उत्तम उपदेश देता हुआ (देवेभ्यः) देवों
से=दिव्य पदार्थों से (विवस्वते) विज्ञानी के लिए (हविषा) हवि के द्वारा
(दाशत्) पदार्थ देता है।

अथवा 'विवस्वते' पद का विभक्ति-परिणाम करके 'पर्येति' से सम्बन्ध
करें, तो अर्थ होता है, 'सूर्य के चारों ओर घूमता है।'

इस मन्त्र में 'गौः' पद का अर्थ 'घूमने वाला लोक' है। पृथिवी, चन्द्र
आदि सभी ग्रह, उपग्रह आदि निरन्तर घूमते हैं। घूमते हुए ही ये संसार का
उपकार सिद्ध करते हैं। इस प्रकार मानो वे ज्ञानों को उपदेश कर रहे हैं, कि
निरन्तर घूम कर संसार का उपकार करो।

यहां 'गौः' शब्द स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हुआ है। स्त्रीलिंग और पुंलिंग में रूप
समान हैं।

६. यस्य गावावरुषा स्र्यवस्यू अन्तरुषु चरतो रेरिहाणा।

स सृञ्जयाय तुर्वशं परादाद् वृचीवतो दैवताताय शिक्षन् ॥ऋ. ६। २७। ७
(यस्य) जिसकी (अरुषा) लाल (स्र्यवस्यू) उत्तम भूसा चाहने वाली
और (रेरिहाणा) चाटती हुई (गावौ) दो गौएं (अन्तः) भीतर (ऊ) ही
(षु=सु) अच्छी तरह (चरतः) विचरण करती हैं। (सः) वह (वृची-
वतः) छेदन भेदन करने वालों को (दैवताताय) दैववायु के लिए (शिक्षन्)
देता हुआ (सृञ्जयाय) प्राण शत्रु पर विजय पाने के लिए (तुर्वशम्) पर-
पदार्थ-अपहारक मनुष्य को (पराभूतात्) परे कर देता है।

यहां 'गावौ' पदका अर्थ राजनीति के दो प्रकार एक 'रक्षणात्मक' और दूसरा 'विघातात्मक' हैं।

जिस राजा की प्रजारक्षणनीति तथा शत्रु-विनाश-नीति सर्वथा जागरूक हैं, वह प्रजा के पदार्थों को छीनने वाले मनुष्य को परे फेंक देता है, और प्रजा का छेदन-भेदन करने वालों को दैववात के=घोर-विपत् के हवाले कर देता है।

१०. अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः । सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः ॥

ऋ० १।२३।१८

(यत्र) जिनमें (सिन्धुभ्यः) नदियों से, समुद्रों से (नः) हमारी (हविः) हविः, भोजनादि सामग्री (कर्त्तव्यम्) करने को (गावः) सूर्य-किरणें (पिबन्ति) पान करती हैं, उन (देवीः) दिव्यगुणयुक्त, अथवा अन्तरिक्षस्थ (अपः) जलों को मैं (उप+ह्वये) समीप चाहता हूँ।

नदियों, समुद्रों आदि जलाशयों से सूर्य-किरणें जल खींच कर ऊपर को ले जाती हैं। उस क्रिया में सूर्य-किरणों का अपना कोई स्वार्थ नहीं होता, वरन् वे हमारे भोजनादि के लिए ही ऐसा करती हैं क्योंकि वह जल वृष्टि के रूप में भूमि पर बरस कर अन्न आदि की उत्पत्ति का हेतु बनता है, उस जल की सभी कामना करते हैं।

निरुक्त में 'सिन्धु' शब्द के अर्थ 'सिन्धुःस्यन्दनात्' (निरु.६।२५) [स्यन्दन=बहने के कारण सिन्धु] 'सिन्धु...नदीम्' (निरु.७.७) [सिन्धु=नदी] 'सिन्धुः स्रवणात्...स्रोतांसि' (निरु.५.२७) [स्रवण=बहने, चूने के कारण सिन्धु,...स्रोत] और 'सिन्धु-नाम् स्यन्दमानानाम्...अपाम्' (निरु.१०।५) [बहते हुए जलों का] लिखे हैं।

११. दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः ।

अपां विलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वाँ अप तद्वार ॥ ऋ० १।३२।११

(पणिना) वणिक या ग्वाले से (निरुद्धाः) रोक दी हुई (गावः) गौओं की (इव) भाँति (दासपत्नीः) मेघस्वामित्व वाले (अहिगोपाः) मेघ से रक्षित, जल (निरुद्धाः) रोके हुए (अतिष्ठन्) ठहरे रहते हैं। (अपाम्) जलों का (यत्) जो (विलम्) बिल (अपिहितम्) रुका हुआ, बन्द (आसीत्) होता है, [सूर्य अथवा वायु] (वृत्रम्) मेघ को (जघन्वान्) मार गिराता है और (तत्) उस बिल को (अप+ववार) खोल देता है, नंगा कर देता है।

निरुक्त (२.१७) में इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार लिखी है—

दासपत्नीर्दासाधिपत्यो, दासो दस्यतेः, उपदासयति कम्माणि । अहि-गोपा अतिष्ठन्, अहिना गुप्ताः; अहिः अयनात् एत्यन्तरिक्षे; अयमपीतरोऽहिरे-तस्मादेव, निर्द्वंसितोपसर्गः—आहन्तीति । निरुद्धा आपः पणिनेव गावः, पणिर्व-णिरभवति, पणिः पणनात्, वणिक् पण्यं नेनेकि । अपां विलमपिहितं यदासीत्,

विलं भरं भवति विभर्त्तेः । वृत्रं जघ्नवान् अप ववार तत्, वृत्रो वृणोतेर्वा, वर्त्ततेर्वा, वर्धतेर्वा, 'यद्वृणोत्तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्त्तते तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते, यदवर्धते तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते' ।

अर्थात्=दासपत्नीः=दासाधिपत्निये । दास शब्द 'दसु उपक्षये' धातु से बनता है, जो कर्मों को समाप्त करा दे, वह दास । अहिगोपाः=...=अहि से रक्षित । 'अहि' शब्द 'अह गतौ' धातु से बनता है, मेघ अन्तरिक्ष में गति करता है । यह दूसरा 'अहि'=साँप भी इसी कारण अहि है, और इसी धातु से बनता है । अथवा 'आ' पूर्वक 'हन् हिंसागत्योः' धातु से बनता है । आहि बन कर 'आ' उपसर्ग को ह्रस्व होकर 'अहि' बनता है । निरुद्धा.....=पणि का अर्थ वणिक्=व्यापारी है, पणि शब्द 'पण व्यवहारे स्तुतौ च' धातु से बनता है, पणिकु सौदा=विक्रेय पदार्थ को शुद्ध करता है, पृथक्-पृथक् रखता है । अपां...=विल=भर,=जो भरा जाए अर्थात् विल शब्द 'डुभृन् धारणपोषणयोः' धातु से बनता है । वृत्रं जघ्नवान्... । वृत्र शब्द 'वृज् वरणे' धातु से अथवा 'वृत् वर्त्तने' अथवा 'वृधु वृद्धौ' धातु से बनता है । ब्राह्मण-ग्रन्थों से प्रतीत होता है कि 'जो ढके वह वृत्र, जो हो वह वृत्र और जो बढ़े वह वृत्र ।'

एक बात बता देना यहाँ अत्यावश्यक है, निरुक्त में जब किसी वाक्य के अन्त में 'इति विज्ञायते' 'इति ह विज्ञायते' वाक्य हो, तो उस वाक्य को ब्राह्मण-ग्रन्थ का वचन समझना चाहिए । निरुक्तकार ने 'वृत्र' शब्द के जो अर्थ किए हैं, उसके लिए ब्राह्मणवचन प्रमाण में दिए हैं । ढकनेवाले पदार्थ का नाम वृत्र होने से मेघ, पाप आदि वृत्र हैं । सूर्यप्रकाश को ढकने के कारण मेघ वृत्र है । आत्मा के सद्गुणों पर आवरण डालने के कारण पाप वृत्र है ।

इस मन्त्र में बादल में जल के निरुद्ध होने तथा वायु एवं सूर्य के द्वारा मेघ के छिन्न-भिन्न होकर वर्षा होने का आलङ्कारिक मनोहारी वर्णन है ।

१२. ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।

अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि ॥ ऋ० १।१५।६

(यत्र) जहाँ (भूरिशृङ्गाः) अत्यन्त तेजस्वी (गावः) किरणें (अयासः) प्राप्त रहती हैं (वाम्) तुम दोनों के (ता) उन (वास्तूनि) निवास स्थानों को (गमध्यै) जाने को (उश्मसि) हम चाहते हैं । (अत्र) यहाँ (अह) ही (उरुगायस्य) बड़ी कीर्तिवाले (वृष्णः) वर्षा करने वाले का (परमम्) सर्वोत्कृष्ट (पदम्) प्राप्त करने योग्य पद (भूरि) अत्यन्त (अव+भाति) चमकता है ।

अन्तरिक्ष में जहाँ प्रखर सूर्य-किरणें चमकती हैं, वहाँ मेघ का स्थान है ।

निरुक्त (२।७) में इस मन्त्र की इसी प्रकार की व्याख्या लिखी है । वहाँ 'वृष्णः' का अर्थ 'विष्णोः=सूर्य का' किया गया है । वहाँ 'शृङ्गा' शब्द की निरुक्ति इस प्रकार लिखी है—

शृङ्गं श्रयतेर्वा, शृणातेर्वा, शम्नातेर्वा, शरणायोद्धतमिति वा, शिरसो निगतिमिति वा ।

अर्थात् शृङ्ग शब्द 'श्रिञ् सेवायाम्', वा 'शृ हिंसायाम्', वा 'शमु हिंसायाम्' धातुओं में से किसी एक से निष्पन्न होता है । अथवा इसका अर्थ है—शरण= मारने के लिए जो निकला हो अथवा जो शिर से निकला हो ।

१३. यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम् ।

भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु ॥ ऋ० ६।२८.६

हे (गावः) ज्ञानियो ! (यूयम्) तुम (मेदयथा=मेदयथ) स्नेह करते हो (कृशम्) कृश को, दुबले को (चित्) भी और (अश्रीरम्) शोभाशून्य को (चित्) भी (सुप्रतीकम्) सुन्दर (कृणुथा=कृणुथ) करते हो । हे (भद्रवाचः) भली बोली वालो ! (गृहम्) घर को (भद्रम्) भला (कृणुथ) करो, बनाओ । (सभासु) सभाओं में (वः) तुम्हारा (वयः) जीवन, तेज, ज्ञान (बृहत) बड़ा (उच्यते) कहा जाता है ।

ज्ञानियों का कितना सुन्दर सरल एवं स्पष्ट निरूपण है । जो ज्ञानवान् होकर इन कार्यों को नहीं करता, वह ज्ञानी ही नहीं । ज्ञानी को घर का सुधार अवश्य करना चाहिए ।

१४. ऊर्जं गावो यवसे पीवो अत्तन ऋतस्य याः सदने कोशे अङ्घ्वे ।

तनूरेव तन्वो अस्तु भेषजमा सर्वतातिमदिति वृणीमहे ॥ ऋ. १०।१००।१०

हे (गावः) गौओ ! (याः) जो तुम (ऋतस्य) ऋत के, सृष्टिनियम के (कोशे) खुले विकसित (सदने) ठिकाने में (अङ्घ्वे) गति करती हो ऐसी तुम (यवसे) भूसे में (ऊर्जम्) बल, पराक्रम को तथा (पीवः) स्थूलता को खाओ । (तनूः) शरीर (एव) ही (तन्वः) शरीर का (भेषजम्) औषध (अस्तु) हो । हम (सर्वतातिम्) सर्वत्र रहने वाली (अदितिम्) अखण्डनीय शक्ति को (आ+ वृणीमहे) स्वीकार करते हैं ।

जिस प्रकार गौपं भूसा खाकर बल, पराक्रम एवं पुष्टि प्राप्त करती हैं, इसी प्रकार सृष्टि-नियम का अनुसरण करते हुए मनुष्य को भी बल पराक्रम के लिए भोजन करना चाहिए, न कि स्वाद के लिए । यदि मांस मदिरा आदि का सेवन न किया जाए, तो यह शरीर अपनी चिकित्सा आप कर लेता है । सर्व-व्यापक प्रभु को सदा सामने रखना चाहिए ।

१५. मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः ।

रायस्पोषेण बहुला भवन्ती जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम ॥ अ. ३।१४।६

हे (गावः) गौओ ! (मया) मुझ (गोपतिना) गोपति के साथ (सचध्वम्) संबद्ध रहो । (अयम्) यह (जीवन्तीरुप) जीवन्तीरुप (वः) तुम्हारा

(पोषयिष्णुः) पालन करने वाला है। (रायः+पोषेण) धनकी वृद्धि के साथ (बहुलाः) बहुत होती हुई (जीवन्तीः) जीती हुई (वः) तुमको (जीवाः) जीते हुए हम (उप+सदेम) समीप प्राप्त हों।

प्रत्येक मनुष्य को गोपति=गोपालक होना चाहिए। गौओं की पुष्टि, वृद्धि में यत्नवान् होना चाहिए, जैसे जैसे धन बढ़ता जाए, तैसे तैसे मनुष्यों को गौओं की संख्या भी बढ़ाते जाना चाहिए। गौएं जीती-जागती ही रखनी चाहिए।

१६. प्र सा चितिरसुर या महि प्रिय ऋतावानावृतमा घोषथो बृहत् ।

युवं दिवो बृहतो दक्षमाभुवं गां न धुर्युप युञ्जाथे अपः ॥ ऋ. १।१५।१४

हे (असुर) प्राण के दाता मित्रावरुणो ! (सा) वह (क्षितिः) भूमि (प्र) अत्यन्त प्राप्त करने योग्य होती है, (या) जो (महि) बहुत (प्रिया) प्यारी हो। हे (ऋतावानो) ऋत के रक्षको ! तुम दोनों (बृहत) बहुत बड़े (ऋतम्) सत्य को (आ+घोषथः) घोषित करते हो (आभुवम्) अत्यन्त बलवान् (गाम्) बैल की (न) भाँति (अपः) जलों को या कर्म को तथा (बृहतः) महान् (दिवः) द्यौलोक अथवा प्रकाश के (दक्षम्) सामर्थ्य को (युवम्) तुम दोनों (धुरि) धुरा में, आगे (उप+युञ्जाथे) उपयुक्त करते हो।

इस मन्त्र का देवता 'मित्रावरुणौ' है। 'मित्रावरुण' के संबंध में ८६-६३ पृष्ठों में लिख चुके हैं। वहाँ देखिए और फिर विचारिये, कि यह मन्त्र कितने महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक तथा राजनैतिक एवं आध्यात्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहा है। प्रकाश और जलरचना प्राकृतिक-मित्र और वरुण का कार्य है। ज्ञान से प्राप्त बल और कर्मों को आगे रखना आध्यात्मिक मित्रावरुण=प्राण-अपान की क्रिया है। इस प्रकार सब क्षेत्रों में सोच लीजिए।

१७. निश्चर्मणो गामरिणीत धीतिभिर्यां जरन्ता युवशा ता कृणोतन ।

सौधन्वना अश्वादश्वमतक्षत युक्त्वा रथमुप देवाँ अयातन ॥ ऋ० १।१६।१७

(धीतिभिः) बुद्धियों के द्वारा (गाम्) वाणी को (चर्मणः) चमड़े से (निः) रहित करके (अरिणीत) प्राप्त करो। (या) जो दो [माता-पिता] (जरन्ता) बूढ़े [हो रहे हैं] (ता) उन दोनों को (युवशा) युवा-समान (कृणोतन) करो। हे (सौधन्वनाः) धनुर्विद्या में कुशलो ! (अश्वात्) अश्व से (अश्वम्) अश्व को (अतश्चत) बनाओ और (रथम्) रथको (युक्त्वा) जोड़ कर (देवान्) दिव्य पदार्थों को (उप+अयातन) समीप होकर प्राप्त करो। अथवा (रथम्) रथ को (युक्त्वा) जोड़ कर (देवान्) विद्वानों के (उप+अयातन) समीप जाओ।

बुद्धि से ऐसा यत्न करो कि बात चर्मरहित=आवरणशून्य=स्पष्ट हो जाए। मनुष्य का कर्तव्य है कि वृद्धों के वार्धक्यभाव को दूर करके उन्हें सदा जवान बनाता रहे। प्रत्येक कार्य-पदार्थ के उपपन्न कारण को जान कर व्यवहार कर-

ना चाहिए और रथ=रमणसाधनों को प्राप्त करके उत्तम भोगों की प्राप्ति करनी चाहिए। 'अश्व' शब्द का अर्थ लौकिक-संस्कृत में सामान्यतया 'घोड़ा' है, किन्तु वेद में इसके अर्थ कुछ अन्य भी हैं। यथा—

१. अप्सुजा उ वा अश्वः । श० ७५।२।१८

अश्व जल में उत्पन्न होता है अर्थात् विजली।

२. वीर्यं वा अश्वः । श० २।१।४।२४ वीर्य ही अश्व है।

३. क्षत्रं वा अश्वः । श० १३।२।२।१५ क्षत्र (क्षत्रियशक्ति) ही अश्व है।

४. यजमानो वा अश्वः । तै० ३।६।१७।५ यजमान ही अश्व है।

५. वज्रो वा अश्वः । श० ४।३।४।२७ वज्र ही अश्व है।

६. इन्द्रो वा अश्वः । कौ० १५।४ इन्द्र ही अश्व है।

७. असौ वा आदित्योऽश्वः । तै० ३।६।२३।२ यह सूर्य ही अश्व है।

८. अग्निरेव यदश्वः । श० ६।३।३।२२ यह अग्नि अश्व है।

निरुक्त (२।२७) में लिखा है 'अश्नुते अध्वानम्, महाशनो भवति इति वा।' जो मार्ग को व्याप्त करे अथवा बहुत खाने वाला हो, वह अश्व है। निरुक्त का अभिप्राय यह है कि 'अश्व' शब्द 'अशूङ् व्याप्तो' और 'अश भोजने' दोनों धातुओं से बन सकता है। उद्धृत ब्राह्मणवचनों के अनुसार अश्व शब्द के ये अर्थ हैं—

विजली, वीर्य, क्षत्रियशक्ति, यजमान, वज्र, इन्द्र, सूर्य, अग्नि। इन सब में 'अश' या 'अशू' धातु के अर्थ की झलक अवश्य है।

इससे सुतरां सिद्ध होता है कि वेद के शब्द यौगिक हैं। अन्यथा एक शब्द के इतने अर्थ कैसे संभव हो सकते हैं। अस्तु। इन अर्थों को सामने रख कर प्रकृत मन्त्र के 'अश्वादश्चमतक्षत' का अर्थ बनता है—'विजली से वज्र बनाओ।' क्योंकि 'अश्वाद.....' आदेश 'सौधन्वनों=धनुर्विद्या में कुशलों' को किया गया है। अथवा 'विजली से अश्व=सवारी का साधन बनाओ' यह अर्थ होता है।

१८. अनस्वन्ता सत्पतिर्मांहे मे गावा चेतिष्ठो असुरो मघोनः ।

त्रैवृष्णो अग्ने दशभिः सहस्रैर्वैश्वानर त्र्यरुणश्चिकेत ॥ ऋ० ५।२७१

(सत्पतिः) सज्जनपालक (चेतिष्ठः) अतिशयज्ञानी (असुरः) प्राणज्राता (मे) मुझ (मघोनः) धनी के (अनस्वन्ता) रथयुक्त (गावा) दो बैलों की (मांहे=ममहे) स्तुति करता है, सत्कार करता है। हे (दशभिः) दस (सहस्रैः) हजारों से युक्त (वैश्वानर) सब मनुष्यों के हितकारिन्! (अग्ने) नेतः! [इस बात को] (त्रैवृष्णः) त्रिलोकी में सुखवृष्टि करनेवाला (त्र्यरुणः) त्रिलोकी को गुणानुरक्त करने वाला (चिकेत) जानता है।

वेद में अनेक स्थलों पर शरीर को रथ का रूपक दिया गया है। उस शरीररूपीरथ में प्राण-अपान रूप दो बैल जुते हैं। कोई महाज्ञानी प्राणों में रमण

करने वाला ही उनका सत्कार कर पाता है। कोई विरला जगद्वितैषी उन्हें जान पाता है।

१६. नहि त्वा रोदसी उभे ऋधायमाणमिन्वतः ।

जेषः स्वर्वतीरपः सं गा अस्मभ्यं धूनुहि ॥ ऋ० १।१०।८

हे इन्द्र ! सकलैश्वर्यसंपन्न परमेश्वर ! (उभे) दोनों (रोदसी) लोक, धौ और पृथिवी (त्वा) तुझ (ऋधायमाणम्) पूजनीय को (नहि) नहीं (इन्वतः) व्याप्त करते हैं। तू (स्वर्वतीः) सुख वाले (अपः) कम्मों को (जेषः) जय करता है (अतः अस्मभ्यम्) हमारे लिए (गाः) इन्द्रियों को (सं+धूनुहि) भली प्रकार प्रेर ।

भगवान् इस त्रिलोकी से कहीं बड़े हैं। प्रभु ही हमारी इन्द्रियों में शक्ति देते हैं।

२०. न ये दिवः पृथिव्या अन्तमापुर्न मायाभिर्धनदां पर्यभूवन् ।

युजं वज्रं वृषभश्चक्र इन्द्रो निज्योतिषा तमसो गा अधुबत् ॥ ऋ० १।३३।१०

(ये) जो (दिवः) सूर्य का तथा (पृथिव्याः) पृथिवी का (अन्तम्) अन्त (न) नहीं (आपुः) पा सकते, और जो (मायाभिः) बुद्धियों के द्वारा (धनदाम्) धनदाता को (न) नहीं (परि+अभूवन्) दबा सकते, जीत सकते। उन पर (वृषभः) वर्षणशील (इन्द्रः) इन्द्र (युजम्) योग्य (वज्रम्) वज्र को (चक्रे) करता है, फेंकता है और (तमसः) अन्धकार से (निः) रहित (गाः) पृथिवियों को, इन्द्रियों को (ज्योतिषा) प्रकाश से (अधुबत्) भरपूर कर देता है।

इस मन्त्र में के 'चक्रे' पद का अर्थ हम ने 'फेंकता है' किया है। धातु-पाठ में कृ [डु-कृ-ञ्] धातु का अर्थ करण=करना लिखा है। इससे कइयों को भ्रम हो जाता है। वास्तव में धातुपाठ में दिप् अर्थ तो नमूनामात्र हैं, धातुओं के अन्य अर्थ भी होते हैं। जैसा कि महामुनि पतंजलि जी शब्दानुशासन (अष्टाध्यायी) के १.३.१ सूत्र पर भाष्य करते हुए लिखते हैं—

'बहुर्या अपि धातवो भवन्ति' धातु अनेकार्थक भी होते हैं और वहीं अनेक उदाहरणों में 'कृ' धातु के भी अनेकार्थता में उदाहरण दिए हैं। यथा—

करोतिरभूतप्रादुर्भावे दृष्टः, निर्मलीकरणे चापि वर्तते 'पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु'। उन्मृदान इति गम्यते। निक्षेपणे चापि वर्तते, कटे कुरु, घटे कुरु, अशमानमितः कुरु, स्थापय इति गम्यते।

'कृ' धातु का अर्थ अनुत्पन्न को करना=बनाना' है, किन्तु 'शुद्ध करना' अर्थ भी होता है जैसे 'पृष्ठे...कुरु' उन्मृदान=साफ़ कर, यह अर्थ समझा जाता है, निक्षेपण=डालना, या फेंकना अर्थ भी होता है, जैसे—'कटे'—'चटाई पर डाल या रख, घड़े में डाल या रख। पत्थर को यहाँ रख या फेंक।

२१. वि षू मृधो जनुषा दानमिन्वन्नहन् गवा मधवन्त्सञ्चकानः ।

अत्रा दासस्य नमुचेः शिरो यदवर्त्तयो मनवे गातुमिच्छन् ॥ ऋ० ५।३०७

हे (मघवन्) पूजित ऐश्वर्य्य वाले ! तू (संचकानः) उत्तम कामना करता हुआ (जनुपा) जन्म से (दानम्) दान को (इन्वन्) प्राप्त करता हुआ (गवा) वज्र के द्वारा (मृधः) संग्रामस्थ मारक शत्रुओं को (वि+धू=सु+अहन्) विविध प्रकार से उत्तमता से मारता है। (अत्रा=अत्र) यहां=इन संग्रामों में (दासस्य) उपक्षय को प्राप्त होने वाले [किन्तु इस समय] (नमुचेः) जल न छोड़ने वाले मेघ के (शिरः) सिर को (मनवे) मननशील मनुष्य के लिए (गातुम्) पृथिवी अथवा ज्ञान की (इच्छन्) कामना करता हुआ तू (यत्) जो (अवर्त्तयः) काटता है।

मेघ जब घनघोर छा जाते हैं, तब सूर्यादि के प्रकाश को वे रोक देते हैं। उस समय सूर्य्य नमुचि=जल न छोड़ने वाले मेघ का सिर काट देता है, जिस से प्रकाश का विस्तार होता है। इसी प्रकार जो अभ्यासी नमुचि=न छोड़ने वाले संस्कार का सिर काट देता है, यह सुखी होता है। यह दैवासुर संग्राम जन्म से लगा रहता है।

२२. इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्य्य रोहयद्दिवि । वि गोभिरद्रिभैरयत् ॥ ऋ० १।७।३

(इन्द्रः) परमेश्वर (दीर्घाय) दीर्घ (चक्षसे) दर्शन के लिए (सूर्य्यम्) सूर्य्य को (दिवि) धौ में (आ+रोहयत्) चढ़ाता है और (गोभिः) किरणों के द्वारा (अद्रिम्) मेघ को (वि+पेरयत्) विविध प्रकार से हिलाता है।

भगवान् ने सूर्य्य को धौ में इस वास्ते स्थापित किया है कि सभी लोकों में रहने वाले प्राणी पदार्थों को देख सकें।

२३. सेमं नः काममापृण गोभिरश्वैः शतक्रतो । स्त्वाम त्वा स्वाध्यः ॥ ऋ० १।१६।६

हे (शतक्रतो) अनन्त ज्ञान-कर्म वाले भगवन् ! (सः) वह तू (नः) हमारी (इमम्) इस (कामम्) कामना को (गोभिः) गौओं के द्वारा, इन्द्रियों के द्वारा, पृथिवी के द्वारा, विद्या के द्वारा, प्रकाश के द्वारा (अश्वैः) घोड़ों के द्वारा, अग्नि आदि के द्वारा (आ+पृण) पूरा कर। हम (स्वाध्यः=सु+आध्यः) उत्तम विचारक (त्वा) तुझ को, तेरी (स्त्वाम) स्तुति करं।

सब की कामनाएं भगवान् पूरी करता है, अतः उसकी स्तुति आदि करनी चाहिए।

२४. त्वेषं रूपं कृणुत उत्तरं यत्संपृचानः सदने गोभिरद्भिः ।

कविर्बुध्नं परिमृज्यते धीः सा देवताता समितिर्बभूव ॥ ऋ० १।६५।८

जो (उत्तरम्) श्रेष्ठ अथवा उत्पन्न होने वाले (त्वेषम्) कान्तिमान् (रूपम्) रूप को (कृणुते) करती हैं और (यत्) जिससे (संपृचानः) संपर्क करता हुआ (कविः) क्रान्तदर्शी ज्ञानी (सदने) घर में (गोभिः) किरणों के द्वारा और (अद्भिः) जलों के द्वारा (बुध्नम्) प्राणसंबन्धी विज्ञान को [कृणुते=करता है]। [जिसके संबन्ध से] (धीः) बुद्धि (परि+मृज्यते) सब प्रकार बार बार

शुद्ध की जाती हैं। (सा) वह (समितिः) समिति (देवताता) देवसंबन्धिनी
या दैवी (बभूव) होती है।

समिति, दैवी समिति का सुन्दर लक्षण है। जिससे मनुष्यों का अन्तरङ्ग बहिरङ्ग रूप उज्ज्वल हो, ज्ञानी का ज्ञान बढ़े, वह समिति है, वह देवताता समिति है।

२५. कद्रुद्राय प्रचेतसे मीढुष्टमाय तव्यसे । वोचेम शन्तमं हृद ॥ ऋ० १४३१

२६. यथा नो अदितिः करत् पञ्चे नृभ्यो यथा गवे । यथा तोकाय रुद्रियम् ॥

क्र० १।४३।२

२७. यथा नो मित्रो वरुणो यथा रुद्रश्चिकेतति । यथा विश्वे सजोषसः ॥

क्र० १४३ ३

हम (कत्=कदा) कब (प्रचेतसे) उत्कृष्ट ज्ञानी (मीढुष्टमाय) सर्वोत्तम
सुखसेचक (तव्यसे) अत्यन्त शक्तिमान् (रुद्राय) रुद्र प्रभु के प्रति (हृदे) हृदय
के लिए (शान्तमम्) अत्यन्त शान्तियुक्त (वोचेम) बोलें ॥१॥

(यथा) जिससे (अदितिः) जगन्माता (नः) हमारे (पशवे) पशु के लिए (नृभ्य) नरों के लिए तथा (यथा) जिससे (गवे) गौ के लिए और (यथा) जिससे (तोकाय) सन्तान के लिए (रुद्रियम्) रुद्रकर्म (करत्) करे ॥२॥

(यथा) जिससे (मित्रः) मित्र प्राण (वरुणः) वरुण, अपान और (यथा) जिससे (रुद्रः) परमेश्वर वा जीव और (यथा) जिससे (विश्वे) संपूर्ण (देवासः) दिव्य गुणों वाले (नः) हमें (चिकेतति) सुझाते हैं ।

इन तीन मन्त्रों में भगवान् का स्तव करने का फल बताया गया है। तीनों मन्त्रों का अन्वय इकट्ठा है, इस वास्ते तीनों को एक साथ दिया गया है।

प्रसंग से रुद्र शब्द का अर्थ बतलाने वाला मन्त्र यहां उद्धृत करते हैं—

२८. गाथपतिं मेधपतिं रुद्रं जलाशमेषजम् । तच्छ्रियोः सुम्नमीमहे ॥ ऋ० १।४३।४

(गाथपतिम्) स्तावक विद्वानों के स्वामी (मेधपतिम्) पवित्रों के पालक (जलाषमेघजम्) सुख दायक चिकित्सक (रुद्रम्) रुद्र को [अपना कर] (तत्) उससे (शंयोः) शान्ति और दुःखाभाव एवं (सुगम्) मोक्षसुख को (ईमहे) हम चाहते हैं ।

२६. तेन नो वाजिनीवसू पश्ये तोकाय शंगवे । वहतं पीवरीरिषः । ॠ० ८५।२०

हे (वाजिनीवसू) उषा की भाँति वेगयुक्ता, बलयुक्त धन-धान्य प्राप्त कराने वाले अश्वियो ! (तेन) उसके द्वारा (नः) हमारे (पश्वे) पशु के लिए (तोकाय) सन्तान के लिए तथा (गवे) इन्द्रिय के लिए (पीवराः) पुष्कल, पुष्ट (इषः) अन्न आदि (शम्) सुखपूर्वक (वहतम्) प्राप्त कराइए ।

इस मन्त्र का देवता 'अश्विनौ' हैं।

३०. स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः ।

विश्वं सुभूतं सुविद्वत् नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥ अ० १।३१।४

(नः) हमारी (मात्रे) माता के लिए (उत) और (पित्रे) पिता के लिए

(स्वस्ति) स्वस्ति=स्वास्थ्य आदि सुख (अस्तु) हो। (गोभ्यः) गौओं के लिए, गौ आदि पशुओं के लिए (जगते) संसार के लिए (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिए (स्वस्ति) स्वास्थ्य आदि सुख हो। (नः) हमारे लिए (विश्वम्) संपूर्ण संसार (सुभूतम्) उत्तम भूति वाला एवं (सुविदग्मम्) श्रेष्ठ प्राप्ति वाला (अस्तु) होवे।

‘नमः’ ‘स्वस्ति’, ‘स्वधा’, ‘अलम्’, और ‘वषट्’ के योग में चतुर्थी विभक्ति आती है, यह नियम पहले बतलाया जा चुका है, उसके अनुसार यहां ‘स्वस्ति’ के योग में ‘मात्रे, पित्रे, गोभ्यः, जगते, पुरुषेभ्यः’ शब्दों से चतुर्थी विभक्ति आई है।

३१. त्वमायसं प्रतिवर्त्तयो गोर्दिवो अश्मानमुपनीतमृश्वा ।

कुत्साय यत्र पुरुहूत वन्वञ्छुष्णमनन्तैः परियासि वधैः ॥ ऋ० १।१२१।६

हे (पुरुहूत) अनेकों से पुकारे जाते हुए ! (वन्वन्) आदर करता हुआ (त्वम्) तू (यत्र) जहां (कुत्साय) स्तोता ऋषि के लिए (अनन्तैः) अनन्त (वधैः) वधसाधनों के द्वारा (शुष्णम्) सुखाने वाले बल को (परि+यासि) दूर करता है, वहां तू (दिवः) आकाश से (उपनीतम्) लाए हुए (अश्मानम्) पत्थर वज्र=विद्युत् के समान (आयसम्) जोड़े के बने [हथियार] को (गोः) पृथिवी से, गौ से (ऋश्वा) मेधावी के द्वारा (प्रति+वर्त्तयः) लौटा, हटा।

‘कुत्स’ का अर्थ हमने ‘स्तोता ऋषि’ किया है, निरुक्त (३.११) में लिखा है—‘ऋषिः कुत्सो भवति, कर्त्ता स्तोमानाम्, इति औपमन्यवः’ अर्थात् औपमन्यव आचार्य के मत में कुत्स का अर्थ ऋषि है क्योंकि वह स्तोमों का=स्तुति-समूहों का कर्त्ता=प्रयोगकर्त्ता है। राजादि का कर्त्तव्य है, कि वह जहां ऋषियों की, ज्ञानियों की रक्षा करे, वहां पृथिवी तथा गौ-आदि पशुओं की भी रक्षा करे।

३२. विश्वा रोधांसि प्रवतश्च पूर्वीद्यौर्ऋष्वजनिमन्त्रेजत चाः ।

आ मातरा भरति शुष्म्या गोर्नृवत् परिज्मन्नोनुवन्त वाताः ॥ ऋ० ४।२२।४

(ऋष्वात्) शक्तिशाली पदार्थ से (जनिमन्) उत्पत्ति के समय (द्यौः) बिजली (विश्वा) संपूर्ण (रोधांसि) रुकावटों, तथा (पूर्वीः) पुरानी (प्रवतः) निचानों तथा (क्षाः) पृथिवियों को (रेजत) कंपाती हैं। वह (शुष्म्या) सब को सुखा देने वाली, अत्यन्त बलवती [बिजली] (मातरा) माता पिता अथवा दोनों लोकों को (आ+भरति) सब तरह धारे रखती है। (गोः) पृथिवी से (वाताः) हवाएं (परिज्मन्) पृथिवी के चारों ओर अन्तरिक्ष में (नृवत्) मनुष्य की भांति (नोनुवन्त) वार वार शब्द करती हैं।

जब बिजली किसी शक्तिशाली पदार्थ से उत्पन्न होती है, तब उस समय सब पदार्थों को हिला देती है। द्यौः में तो बिजली की सत्ता सभी को अभिमत है, पृथिवी में भी चुम्बक शक्ति Magnet के रूप में विद्यमान है, उसी के कारण उस

में आकर्षण है, जगत् का निर्माण, धारण, पोषण अधिकतर विद्युत् पर निर्भर रखता है। पृथिवी के चारों ओर जो हवाएं चलती रहती हैं, उन का मूल कारण भी विद्युत्-शक्ति है। आधुनिक विज्ञान के इस सिद्धान्त को संसार का पुरातनतम ग्रन्थ कितने स्पष्ट और सरल शब्दों में निरूपण कर रहा है।

३३. विश्वरूपां सुभगामच्छावदामि जीवलाम् ।

सा नो रुद्रस्यास्तां हेतिं दूरं नयतु गोभ्यः ॥ अ० ६।५६।३

(विश्वरूपाम्) अनन्तरूपों वाली (सुभगाम्) उत्तम सुखदायी (जीवलाम्) जीवला-नामक औषध के मैं (अच्छा+वदामि) अच्छी प्रकारं गुण कहता हूं। (सा) वह (रुद्रस्य) रुद्र के (अस्ताम्) फेंके हुए (हेतिम्) हननसाधन-हथियार को (नः) हमारी (गोभ्यः) गौओं से (दूरम्) दूर (नयतु) ले जाए।

‘रुद्र’ का अर्थ रुलाने वाला है। रोगाणुओं को भी रुद्र कहते हैं। पशुओं में रोगाणुओं Germs के कारण आए रोग को ‘जीवला’ नामक औषधी दूर करती है। ‘जीव-ला’ का अर्थ है—‘जीवन लाने वाली।’

३४. अन्येभ्यस्त्वा पुरुषेभ्यः गोभ्यो अश्वेभ्यस्त्वा ।

निः क्रव्यादं नुदामसि यो अग्निर्जीवितयोपनः ॥ अ० १२।२।१६

(यः) जो (जीवितयोपनः) जीवननाश करने वाला (अग्निः) अग्नि-यक्ष्मा-है, ऐसे (त्वा) तुझ (क्रव्यादम्) कच्चा मांस खाने वाले को (अन्येभ्यः) दूसरे (पुरुषेभ्यः) पुरुषों से (गोभ्यः) गौओं से और (त्वा) तुझ को (अश्वेभ्यः) घोड़ों से भी हम (निः+नुदामसि) सर्वथा दूर करते हैं।

राजयक्ष्मा—तपेदिक—पेसा रोग है, जो कच्चा मांस खाता है। जीवन का अन्तकारी है। इस से केवल अपनों की ही रक्षा नहीं करनी चाहिए वरन् परायों की भी; केवल मनुष्यों की ही नहीं, अपितु पशुओं की भी रक्षा करना चाहिए। क्योंकि यह रोग संसर्ग से फैलता है। ‘अश्व’ भारवाहक पशुओं का उपलक्षण है ‘गौ’ दूध देने वाले पशुओं का उपलक्षण है।

३५. अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यं जिगीषमाणमिष आ पदे गोः ।

यदा ते मर्त्तो अनु भोगमानलादिद् ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः ॥ ऋ० १।१६३।७

(गोः) पृथिवी के, इन्द्रिय के (पदे) ठिकाने में (इषः) अश्वों के, विषयों के सदृश (अत्रा=अत्र) इसी शरीर में, इसी संसार में (ते) तेरे (जिगीषमाणम्) जीतने की इच्छा करने वाले=आकर्षक (उत्तमम्) सर्वश्रेष्ठ (रूपम्) स्वरूप को (आ+अपश्यम्) सब ओर मैंने देखा है, (यदा) जब (मर्त्तः) मनुष्य (ते) तेरी (अनु) अनुकूलता से (भोगम्) भोग को (आनट्) प्राप्त करता है (आत्) तब (इत्) ही (ग्रसिष्ठः) अतिशय ग्रसनशील होकर (ओषधीः) ओषधियों को दोषनाशक पदार्थों को (अजीगः) निरन्तर प्राप्त कर सकता है।

योगी को जो अनुभव होता है उसका बहुत सुन्दर निरूपण इस मन्त्र में है। योगी को जब आत्मा और परमात्मा का दर्शन होता है, तब उसे प्रतीत होता है कि आत्मा तथा परमात्मा का यह स्वरूप तो अत्यन्त आकर्षक है, और कि यह तो उसे मानो पहले से जीतने—अपनी ओर खींचने—की इच्छा कर रहा था। जिस प्रकार प्राकृत मनुष्य को पृथिवी पर के अन्नादि या इन्द्रियों के विषय खींचते हैं, उसी प्रकार आत्मा तथा परमात्मा का अलौकिक दिव्य स्वरूप उसे अपनी ओर खींच रहा होता है। जब मनुष्य को—योगसमृद्धि से समृद्ध मनुष्य को—परमात्मा का साक्षात्कार होता है, तब वह अपने आप को प्रभु-अर्पण कर देता है, अपनी सब क्रिया-चेष्टा प्रभु के आदेशानुकूल करने का यत्न करता है, तब ही वह सबसे श्रेष्ठ भोक्ता बनता है, और सब प्रकार की ओषधि=अन्नादि को प्राप्त करता है, और वे सब पदार्थ उसके लिए दोषनाशक बन जाते हैं।

३६. साम द्विर्हो महि तिग्मभृष्टिः सहस्ररेता वृषभस्तुविष्मान् ।

पदं न गोरपगूढं विविद्वानग्निर्मह्यं प्रेदु वोचन्मनीषाम् ॥ ऋ० ४।५।३

(द्विर्होः) दो में—विद्या विनय में—बड़ा हुआ (तिग्मभृष्टिः) तीव्र परिपाक वाला (सहस्ररेताः) अतुलपराक्रमी (वृषभः) श्रेष्ठ (तुविष्मान्) बलवान् (अग्निः) अग्रणी, अगुआ (विविद्वान्) विशेष विद्वान् (मह्यम्) मुझे (गोः) गौ के, पृथिवी के, इन्द्रिय के, ज्ञान के (अपगूढम्) अत्यन्त गुप्त (पदम्) पद की, ठिकाने की (न) भांति (महि) बड़े (साम) सिद्धान्त का, सिद्धान्तित कर्म का (उ) तथा (मनीषाम्) प्रज्ञा, बुद्धि का (प्र+वोचत्) उत्तमता से उपदेश करे।

जिज्ञासु को चाहिए कि वह अपनी शङ्काओं के समाधान के लिए, ज्ञान प्राप्ति के लिए महाविद्वान् विद्याविनयसंपन्न ज्ञानी के पास जाए। वह विद्वान् जिज्ञासु को सब गुप्त रहस्य समझा दे। वह उसे सिद्धान्त ज्ञान के साथ, उसके व्यवहार की बुद्धि, युक्ति भी सुझा दे।

मन्त्र में ज्ञानी के लिए प्रयुक्त हुए 'विविद्वान्' 'तिग्मभृष्टिः' शब्द बहुत ध्यान देने योग्य हैं। ज्ञानी साधारण नहीं होना चाहिए, वरन् विशेष विद्वान् होना चाहिए जिसे उस विषय का विशिष्ट ज्ञान हो। केवल उसे उस विषय का विशिष्ट ज्ञान ही न हो, अपितु उसमें वह अत्यन्त परिपक्व भी हो। अर्थात् उसको ज्ञान के अनुष्ठान की परिपक्व अनुभूति Mature Experience भी हो। पंजाबी शब्दों में, 'पढ़ने के साथ गुढ़ना' भी उस में हो। तुविष्मान् विशेषण शारीरिक बल के संबन्ध में है। 'सहस्ररेताः=अतुल पराक्रमी' का अभिप्राय है कि वह शिष्य को, जिज्ञासु को अनेक प्रकार से समझा सकता हो। गूढ़ पद को सुझाने का तात्पर्य अनुमान आदि प्रमाणों से बोध कराना है।

३७. त्वं नो अग्ने तव देव पायुभिर्मघोनो रक्ष तन्वश्च वन्द्य ।

त्राता तोकस्य तव्ये० मनामस्यनिमेषं० रक्षमाणास्तव० व्रते ॥ ऋ० १।३।१२

हे (देव) दिव्य स्वभाव (वन्द्य) वन्दनीय, पूजनीय (अग्ने) अग्रणीः, सर्वरक्षक ! प्रभो (त्वम्) तू (तव) तेरी, अपनी (पायुभिः) रक्षणशक्तियों के द्वारा (मघोनः) प्रशंसनीय-धनयुक्त (नः) हम लोगों को (च) और हमारे (तन्वः) शरीरों को (रक्ष) बचा, रक्षा कर । (अनिमेषम्) निरन्तर (रक्षमाणः) रक्षा करता हुआ तू (तव) तेरे (व्रते) व्रत में नियम में रहने वाले (तोकस्य) बच्चे के तथा (गवाम्) इन्द्रियों के, पशुओं के (तनये) सन्तान में (आता) रक्षक (भव) हो ।

भगवान् सब का रक्षक है, उसी से रक्षार्थ प्रार्थना करनी चाहिए । वह निरन्तर हमारी रक्षा करता रहता है ।

३८. मदेमदे हि नो ददिर्यूथा गवामृजुक्रतुः ।

संगृभाय पुरुशतोभयाहस्त्या वसु शिशिहि राय आभर ॥ ऋ० १।८१।७
(ऋजुक्रतुः) सरल बुद्धि, सीधे कर्मों वाला तू (मदेमदे) प्रत्येक वर्ष के अवसर पर (नः) हमें (गवाम्) गौओं के (यूथा) यूथ, रेवड़, झुंड (ददिः) देता (हि) ही है । (उभयाहस्त्या) दोनों हाथों से सिद्ध होने वाले (पुरु) अनेक (शता) सैकड़ों (वसु) धन को (सम्+गृभाय) भली प्रकार संग्रह करके (शिशिहि) व्यय कर और (रायः) धनों को (आ+भर) सब ओर से ला ।

मनुष्य को धनसंग्रह में पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए, और उदारतापूर्वक व्यय भी करना चाहिए ।

३९. वेधा अदृष्टो अग्निर्विजानन्नुधर्न गोनां स्वाद्या पितृनाम् ।

जने न शेव आहूर्यः सन्मध्ये निषत्तो रणवो दुरोणे ॥ ऋ० १।६६

(वेधाः) मेधावी, बुद्धिसंपन्न (अदृष्टः) अहंकाररहित (विजानन्) ज्ञान-संपन्न (अग्निः) अग्रणी=नेता (गोनाम्) गौओं के (ऊधः) स्तनाधार=हवाने के (न) समान और (पितृनाम्) अन्नों के (स्वाद्या=स्वाद्य) स्वाद्य की भांति होता है । वह (जने) मनुष्य में (शेवः) सुख की (न) भांति (आहूर्यः) बुलाया जाने योग्य (सन्) होकर (मध्ये) बीच में=जनता के बीच में (निषत्तः) बैठा हुआ (दुरोणे) घर में के समान (रणवः) रमण कराने वाला होता है, अथवा उपदेशा होता है ।

विद्वान् को चाहिए, कि वह अहङ्कार एवं मोह से रहित हो, लोगों को वह अत्यन्त मीठा प्रतीत हो, लोग उसकी अन्न और गोदुग्ध की भांति कामना करें। सभी उसे बुलाना चाहें । किसी स्थान में जाकर वह अपने आप को परदेशी न समझे वरन् सर्वत्र घर में के समान समझे । ऐसा विद्वान् सब का सत्कर्तव्य एवं पूज्य समझा जाता है ।

४०. शतं राज्ञो नाधमानस्य निष्कान् शतमश्वान् प्रयतान् सद्य आदम् ।

शतं कक्षीवाँ असुरस्य गोनां दिवि श्रवोऽजरमा ततान ॥ ऋ० १।१२६।२

(नाधमानस्य) ऐश्वर्यसंपन्न (राज्ञः) राजा के (शतम्) सैकड़ों (प्रयतान्)

अत्यन्त सधे हुए (अश्वान्) घोड़ों को तथा (असुरस्य) असुर=प्राणदाता की (गोनाम्) गौओं के (शतम्) सैंकड़ों को (सद्यः) तत्काल, एक साथ ही (आदम्) लेता हूँ और (कक्षीवान्) अनेक विद्याओं वाला मैं (दिवि) द्यौलोक में (गोनाम्) किरणों के [यश की भांति] (अजरम्) अविनाशी (अवः) यश को (आ+ततान) विस्तृत करता हूँ।

राजा विद्वान् को गौ अश्व आदि पशु तथा सोना आदि धन देता है, विद्वान् उसके यश को चिरस्थायी कर देता है।

४१. अव चिप दिवो अरमानमुच्चा येन शत्रुं मन्दसानो निजूर्वाः।

तोकस्य सातौ तनयस्य भूरेरस्माँ अर्द्धं कृणुतादिन्द्र गोनाम् ॥ ३० २।३०।५

(दिवः) आकाश से (उच्चा) ऊँचा (अरमानम्) पत्थर, या मेघ (अव+क्षिप) नीचे को फेंक, (येन) जिसके द्वारा (मन्दसानः) मस्त होता हुआ तू (शत्रुम्) शत्रु को (निजूर्वाः) नितरां मार सके। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यदायक! (भूरेः) बहुत (तोकस्य) बच्चों और (तनयस्य) सन्तान की (सातौ) सेवा के निमित्त (अस्मान्) हमको (गोनाम्) गौओं का (अर्द्धम्) ठिकाना (कृणुतात्) कर।

राजा को चाहिए, कि शत्रु वध के लिए आकाश से मेघसमान अक्ष फेंके, और प्रजा की सन्तान के पालन के लिए प्रजा में गोवंश की वृद्धि करे।

४२. त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्।

इन्द्र एकं सूर्य्य एकं जजान वेनादेकं स्वधया निष्टतक्षुः ॥ ३० ४।५८।४

(देवास्तः) विद्वानों ने (गवि) वाणी में (गुह्यमानम्) गुप्त किए जाते हुए (घृतम्) घृततुल्य विज्ञान को (त्रिधा) तीन प्रकार से (हितम्) रखा हुआ (पणिभिः) व्यवहार-कुशलों द्वारा (अनु+अविन्दन्) जाना, प्राप्त किया। (एकम्) एक को (इन्द्रः) इन्द्र और (एकम्) एक को (सूर्य्यः) सूर्य्य (जजान) प्रकट करता है और (एकम्) एक को (स्वधया) स्वधा=अपनी धारणावती प्रज्ञा के द्वारा (वेनात्) कमनीय परमेश्वर से (निः+ततक्षुः) प्राप्त करते हैं।

विज्ञान के मुख्य तीन अधिकरणों का संकेत इस मन्त्र में मिलता है।

१. इन्द्र=वायु, २. सूर्य्य तथा ३. वेन=परमात्मा। आध्यात्मिक दृष्टि से यह प्राण, आत्मा, तथा परमात्मा की ओर संकेत कर रहे हैं। वाणी इनका पूरा वर्णन नहीं कर सकती।

४३. उतादः परुषे गवि सूरश्चक्रं हिरण्ययम्। न्यैरयद्रथीतमः ॥ ३० ६।५६।३

(उत) और वह (सूरः) विद्वान्, शूरवीर (रथीतमः) सर्वश्रेष्ठ रथी (परुषे) कठोर (गवि) वचन पर (अदः) उस प्रसिद्ध (हिरण्ययम्) सुवर्णादि से युक्त, अति हितरमणीय तेजस्वी (चक्रम्) चक्र को (नि+पेरयत्) नितरां चलाता है।

वीर और विद्वान् मनुष्य कठोर वचन के बदले में हितसाधन का चक्र चलाया करते हैं।

४४. यच्चिद्धि सत्य सोमपा अनाशस्ता इव स्मसि ।

आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ ऋ० १।२६।१
हे (सत्य) सत्यस्वरूप ! (सोमपाः) सोमरक्षक ! जगत्पालक ! (यत्+चित्) जो कुछ (हि) ही, हम (अनाशस्ताः-इव) अप्रशंसनीय जैसे,=निन्दित-से (स्मसि) हैं, तू (तू=तु) तो, हे (तुवीमघ) विपुल पेश्वर्यवाले (इन्द्र) राजन् ! (नः) हम को (सहस्रेषु) हजारों (शुभ्रिषु) स्वच्छ पवित्र (गोषु) गौओं के निमित्त तथा (अश्वेषु) अश्वों के निमित्त (आ+शंसय) सब तरह प्रशंसनीय बना ।

अयोग्य प्रजा को भी योग्य बनाना राज्य का आवश्यक कार्य है ।

४५. अश्वावति प्रथमो गोषु गच्छति सुप्रावीरिन्द्र मर्त्यस्तवोतिभिः ।

तमितृणक्षि वसुना भवीयसा सिन्धुमापो यथाभितो विचेतसः ॥

ऋ० १।८३।१

हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! जो (सुप्रावीः) अत्यन्त प्रीतिमान् (मर्त्यः) मनुष्य (प्रथमः) मुखिया होकर (तव) तेरी (ऊतिभिः) रक्षाओं के साथ (गोषु) गौओं के निमित्त (अश्वावति) घोड़ों वाले रथ में (गच्छति) जाता है, (तम्) उसको (इत्) ही (भवीयसा) अत्यन्त अधिक होने वाले (वसुना) धन से (पृणक्षि) तू युक्त करता है । (यथा) जिस प्रकार (विचेतसः) चेतनारहित (आपः) जल (अभितः) सब ओर से (सिन्धुम्) सिन्धु को [मरते हैं] ।

राजा के आज्ञाकारी भृत्य पर राजा की कृपा की वृष्टि हुआ करती है ।

[ख]

वेद में ओकारान्त शब्द बहुत न्यून हैं । 'गो' शब्द के अतिरिक्त 'द्यौ' शब्द हैं । उसके रूप और उपलभ्यमान रूपों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं । पाठकों ने यदि 'गो' शब्द के रूप और उदाहरण भली-भाँति अभ्यस्त किये हैं, तो इसके रूपों का समझना उन्हें कठिन नहीं होगा ।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमाविभक्ति	द्यौः	द्यावौ, द्यावा	द्यावः
संबोधन	हे द्यौः	हे द्यावौ, द्यावा	हे द्यावः
द्वितीयाविभक्ति	द्याम्	द्यावौ, द्यावा	द्याः
तृतीयाविभक्ति	द्यावा	द्योम्याम्	द्योमिः
चतुर्थीविभक्ति	द्यवे	द्योम्याम्	द्योम्यः
पंचमीविभक्ति	द्योः	द्योम्याम्	द्योम्यः
षष्ठीविभक्ति	द्योः	द्यवोः	द्यवाम्
सप्तमीविभक्ति	द्यवि	द्यवोः	द्योषु

१. मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम् ।

पिपृतां नः भरीमभिः ॥ ऋ० १।२२।१३

(मही) बड़ी, विशाल (द्यौः) द्यौः, प्रकाशमय लोकसमूह (चं) और (पृथिवी) प्रकाशशून्य अथवा परतःप्रकाश्य लोकसमूह (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ को (मिमिक्षताम्) सिंचित करें और (नः) हमें (भरीमभिः) भरणपोषण के साधनों से (पिपृताम्) भरपूर करें ।

वैदिक परिभाषा में प्रकाशमय—सूर्यादि—लोकों को 'द्यौ' नाम से पुकारा जाता है, और प्रकाशशून्य या परतःप्रकाश्य—पृथिवी, चन्द्र आदि—को पृथिवी नाम दिया जाता है । प्राणिमात्र का पालन-पोषण तथा जीवनयज्ञ इन दोनों प्रकार के लोकों पर अवलम्बित है ।

२. भूरि त इन्द्र वीर्यं तव स्मस्यस्य स्तोतुर्मघवन् काममा पृण ।

अनु ते द्यौर्वृहती वीर्यं मम इयं च ते पृथिवी नेम ओजसे ॥

ऋ० १।५।५

हे (इन्द्र) इन्द्र ! (ते) तेरा (वीर्यम्) सामर्थ्य (भूरि) बहुत है । हम (तव) तेरे (स्मसि) हैं । हे (मघवन्) पूजितधनवन् ! (अस्य) इस (स्तोतुः) स्तोता की (कामम्) अभिलाषा को (आ+पृण) सब तरह पूरा कर । (वृह-तो) विशाल (द्यौः) द्यौ (ते) तेरे (वीर्यम्) सामर्थ्य के (अनु) अनुकूल (ममे) निर्माण करती है । (च) और (इयम्) यह (पृथिवी) पृथिवी (ते) तेरे (ओजसे) ओज के लिए (नेमे) झुकती है ।

संसार शक्ति के आगे झुकता है ।

३. अस्येदु भिया गिरयश्च दृढा द्यावा च भूमा जनुषस्तुजेते ।

उपो वेनस्य जोगुवान ओणि सद्यो भुवद्वीर्याय नोधाः ॥ ऋ० १।६।१४

(अस्य) इसके (इत्) ही (भिया) भय से (उ) ही (गिरयः) पर्वत (दृढाः) है (च) और (द्यावा) द्यौ और (भूमा=भूम) पृथिवी (जनुषः) जन्म से (तुजेते) काँपते हैं । (जोगुवानः) निरन्तर अव्यक्त शब्द करनेवाला (नोधाः) स्तोता (वेनस्य) मेधावी के (ओणिम्) दुःख दूर करने के (उपो) समीप (सद्यः) तत्काल (वीर्याय) सामर्थ्य का कारण (भुवत्) हो जाय ।

मन्त्र का देवता इन्द्र है । प्रभु की शक्ति से ही सब पदार्थ अपने अपने ठिकाने कार्य कर रहे हैं ।

४. रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः ।

समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिमाने ॥ ऋ० १।११।३२

(रुशद्वत्सा) सूर्यरूपी वत्स वाली (रुशती) लाल लाल सी (श्वेत्या) शुभ्र प्रभात वेला (आ+अमात) आती है और (कृष्णा) रात्रि (अस्याः)

इसके (सदनानि) ठिकानों को (आरैक्) रक्त कर देती है, खाली कर देती है। ये दोनों (अमृते) प्रवाह से अविनाशी (समानबन्धु) एक जैसे बन्धुओं वाली या एक ही सूर्यरूप बन्धु वाली (अनूची) एक दूसरे के अनुकूल (आमिमाने) एक दूसरे को मानो फँकती हुई सी (द्यावा) प्रकाशमान [प्रभात तथा रात] (वर्णम्) अपने अपने वर्ण को, रूप को (चरतः) प्राप्त करती हैं। रात के पश्चात् प्रभात का कितना स्वाभाविक एवं काव्यमय वर्णन है।

महाराज निरुक्तकार ने (२।२०) ने 'द्यावा' को प्रथमाविभक्ति का द्विवचन मान कर द्यावा=द्यावौ व्याख्यान किया है, जैसा कि हमने ऊपर किया है। उसके साथ 'अपि वा द्यावा चरतः तथा मह चरतः' कह कर 'द्यावा' को तृतीया का एकवचन भी माना है, तब अर्थ होता है—वे रात और प्रभात प्रकाश के साथ गति करते हैं।

५. अभि त्वं मेघं पुरुहूतमृगिमयमिन्द्रं गीर्भिर्मदता वस्वो अर्णवम् ।

यस्य द्यावो न विचरन्ति मानुषा भुजे मंहिष्ठमभि विप्रमर्चत ॥

ऋ० १।५१।१

(द्यावः) किरणों के (न) समान (मानुषा) मनुष्यहितकारी कार्य्य (यस्य) जिसके (भुजे) भोगके निमित्त (विचरन्ति) विचर रहे हैं (त्यम्) उस (मेघम्) सब को प्रेरणा देने वाले (पुरुहूतम्) अनेकों से स्तुति किये जाते हुए (ऋगिमयम्) स्तुतियों से मान करने योग्य (वस्वः) धन के (अर्णवम्) समुद्र (इन्द्रम्) पेश्व-य्यसंपन्न राजा को (गीर्भिः) बातों से (अभि+मदत) सर्वथा प्रसन्न करो और (मंहिष्ठम्) अत्यन्त पूजनीय (विप्रम्) मेधावी विद्वान् को (अभि अर्चत) सब तरह पूजो।

धार्मिक राजा और विद्वान् के मान करने का विधान है।

६. अद्रोघ सत्यं तव तन्महित्वं सद्यो यज्जातो अपिबो ह सोमम् ।

न द्यावा इन्द्र तवसस्त ओजो नाहा न मासाः शरदो वरन्त ॥

ऋ० ३।३२।६

हे (अद्रोघ) द्रोहरहित! प्रीतिभाजन! (इन्द्र) इन्द्र! (तत्) वह (तव) तेरा (स-त्यम्) सच्चा (महित्वम्) महत्व है (यत्) जो (जातः) प्रकट होते (ह) ही तू (सो-मम्) सोम को, जल को, रसको (अपिबः) पी लेता है, खींच लेता है (ते) तेरे (तवसः) बल के (ओजः) ओज को, तेज को (न) न तो (द्यावः) प्रकाशमय लोक, (न) न (अहा) दिन (न) न (मासाः) मास और (शरदः) शरद=संवत्सर (वरन्त) रोक सकते हैं।

इन्द्र के तेज का निरूपण है। भौतिक संसार में इन्द्र का अर्थ सूर्य है, सूर्य पृथ्वीस्थ जलादि को सुखा देता है। अध्यात्म में आत्मा इन्द्र है, सभी ऐश्वर्य उसी के लिए है, और वह अविनाशी है, काल के प्रभाव से बाहर है। इस प्रकार परमात्मा समस्त संसारके रसों को सुखा देता है। संसार का कोई बलवत्तम

पदार्थ भी उसके तेज को नहीं सह सकता ।

७. पूर्वीरस्य निष्विधो मर्त्येषु पुरु वसूनि पृथिवी विभर्ति ।

इन्द्राय द्याव ओषधीरुतापो रयिं रक्षन्ति जीरयो वनानि ॥ ऋ० ३।५१।५
(मर्त्येषु) मनुष्यों में (अस्य) इस की (पूर्वीः) पहले से आ रही (निष्विधः) नितरां साधक क्रियाएं हैं । (पृथिवी) पृथ्वी (पुरु) अनेक (वसूनि) धनों को (विभर्ति) धारण करती हैं । (इन्द्राय) पेशवर्य के लिए (द्यावः) विद्युत् आदि प्रकाश (ओषधीः) ओषधियों (उत) और (आपः) जल (जीरयः) जीर्ण मनुष्य (वनानि) वन (रयिम्) धन की (रक्षन्त) रक्षा करते हैं ।

राजा का कर्त्तव्य है कि वह प्रजा के हितसाधक उपायों का सदा विस्तार करता रहे, धनलोलुप न हो । पृथ्वी आदि अनेक पदार्थ उसके लिए पेशवर्य धारण किए हुए हैं, बुद्धि से कार्य लेने की आवश्यकता है ।

८. हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।

स दाधार पृथिवीं द्यामुत्तेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋ० १।०।१२।१
(हिरण्यगर्भः) ज्योतिर्मय सूर्यादि जिस के बीच में रहते हैं, ऐसा प्रभु (अग्रे) सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व (सम्+अवर्त्तत) एकरस रहता है । वह (जातः) प्रसिद्ध (भूतस्य) जगत्-मात्र का (एकः) अकेला (पतिः) पालक, रक्षक, स्वामी (आसीत्) है (सः) वह भगवान् (पृथिवीम्) पृथिवी को= परतः प्रकाश लोकों को (उत) और (इमाम्) इस (द्याम्) द्यौ को=स्वतः प्रकाश लोकों को (दाधार) धारण करता है । उस (देवाय) दिव्यगुणयुक्त (कस्मै) आनन्दस्वरूप प्रभु की (हविषा) शुद्धभक्तिरूप हवि से (विधेम) सेवा करें । भगवान् सृष्टि से पूर्व भी रहते हैं; सृष्टि के पश्चात् भी रहेंगे । संपूर्ण प्रकाश-अप्रकाश लोकों की स्थिति भगवान् पर आश्रित है ।

९. यदिन्द्राह्नप्रथमजामहीनामान्मायिनाममिनाः प्रोत मायाः ।

आत्सूर्यं जनयन्द्यामुषासं तादीना शत्रुं न किला विवित्से ॥ ऋ० १।३२।४
हे (इन्द्र) इन्द्र ! (यत्) जब, तू (अहीनाम्) कुटिलस्वभाव वालों में से (प्रथमजाम्) प्रथम उत्पन्न को, अगुआ को (अहन्) मार देता है (उत) और (आत) साथ ही (मायिनाम्) छलियों के, चालाकों की (मायाः) छलों को, चालाकी को (अमिनाः) नाश कर देता है (आत) तब (सूर्यम्) सूर्य को, (द्याम्) प्रकाशमयी (उपासम्=उषसम्) प्रभात को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ तू (तादीना) उस समय (शत्रुम्) शत्रु को (किला=किल) सचमुच (न) नहीं (विवित्से) प्राप्त करता है ।

जिस प्रकार सूर्य जब अहि=मेघ को मार कर, अन्धकार को छिन्न भिन्न कर देता है, तब उसके सामने कोई शत्रु नहीं रहता, इसी प्रकार राजा को भी उचित है कि वह कुटिलों के नेता को मार कर छलियों के छलों का नाश कर दे ।

तब वह शत्रुरहित हो जाएगा, तभी सर्वत्र निरावरण प्रकाश होगा ।

१०. वि सुपर्णो अन्तरिक्षाय ख्यद् गभीरवेपा असुरः सुनीथः ।

केशदानीं सूर्यः कश्चिकेत कतमां द्यां रश्मिरस्या ततान ॥ ऋ० १।३५।७

(गभीरवेपाः) गंभीर गति वाला (असुरः) प्राणप्रदाता (सुनीथः) सुमार्ग-
दायक (सुपर्णः) उत्तम रश्मियों वाला सूर्य (अन्तरिक्षायि) अन्तरिक्षों को,
सब लोकों को (वि+अख्यत) विशेषता से प्रकाशित करता है । (कः) कौन
(चिकेत) जानता है कि (सूर्यः) सूर्य (इदानीम्) अब (क) कहाँ है और
(अस्य) इसकी (रश्मिः) किरण (कतमाम्) कौन से (द्याम्) प्रकाश को
(आ+ततान) फैला रही है ।

सूर्य का अद्भुत वैज्ञानिक वर्णन है । सुपर्ण=उत्तम पालक शक्तियों
वाला । सूर्य की उत्तम पालक शक्तियों का कौन अपलाप कर सकता है ? 'गभीर-
वेपाः' का ठीक ठीक अर्थ है-गंभीर वेप=रूपकपी Sensation वाला । सूर्य की
गति इन्द्रियागोचर है अतः वह गंभीर है, किन्तु गति है अवश्य । कोई भी परि-
छिन्न पदार्थ एक क्षण के लिए भी गतिरहित नहीं रह सकता । सूर्य का असुर=
प्राणप्रद होना सर्वसम्मत है । सूर्य की कौनसी रश्मि क्या प्रकाश देती है, इस
का निश्चय करना अल्पज्ञ जनों के लिए अति कठिन है । सूर्य का स्थान कौन
बता सकता है ? वेद कहना चाहता है, सूर्य ऐसे प्रत्यक्ष पदार्थ में जब तुम्हारी
मति गति प्रतिहत हो जाती है, तो इन्द्रियागोचर पदार्थों का तो कहना ही क्या है ?
११. त्वं महां इन्द्र यो ह शुष्मैर्द्यावा जज्ञानः पृथिवी अमे धाः ।

यद्ग ते विश्वा गिरयश्चिदम्बा भिया दृढासः किरणा नैजन् ॥ ऋ० १।६३।१

हे (इन्द्र) इन्द्र ! (त्वम्) तू (महां=महान्) महान् है । (यः) जो तू (शुष्मैः)
अपने सामर्थ्यों से, (द्यावा+पृथिवी) प्रकाश और अप्रकाश लोकों को (जज्ञानः)
उत्पन्न करके (ह) ही (अमे) ठिकाने पर (धाः) धर देता है । और (यत्)
जो (विश्वा) सब (गिरयः) पर्वत, मेघ (चित्) भी (ते) तेरे (अम्बा) अभूत-
पूर्व (भिया) भय से (दृढासः) दृढ़ हैं । और (किरणाः) किरणें (ह) भी (न)
न (एजन्) कांपती हैं ।

भगवान् इन सारे पदार्थों का निर्माण करके यथायोग्य स्थान भी देता
है । सभी सृष्ट पदार्थ मानों उसके भय से अपनी अपनी मर्यादा में बंधे रहते हैं ।

१२. स भिक्षमाणो अमृतस्य चारुण उमे द्यावा काव्येना वि शश्रथे ।

तेजिष्ठा अपो मंहना परिव्यत यदी देवस्य श्रवसा सदो विदुः ॥ ऋ० १।७०।२

(सः) वह (चारुणः) सुन्दर (अमृतस्य) जीवन की (भिक्षमाणः) अभि-
लाषा करता हुआ (उमे) दोनों (द्यावा) द्यौ और पृथिवी को (काव्येना=
काव्येन) काव्यद्वारा, ज्ञानद्वारा (वि+शश्रथे) विवृत करता है । (तेजिष्ठाः)
दीप्तिमान् (अपः) जलों को=कम्लों को (मंहना) महिमा से (परिव्यत) सब

ओर से ढक देता है। (यदी=यदि) जब (अवसा) अन्न के द्वारा (देवस्य) देव के (सदः) ठिकाने को (विदुः) जान पाते हैं।

अमृत-वास्तविक जीवन-का अभिलाषी ज्ञाननेत्रों से दोनों लोकों को खोल कर देखता है। जिस प्रकार सूर्य अपने तेज से अन्तरिक्षस्थ जलों को ढक देता है, वैसे ज्ञानी अपने गौरव से कमलों को तिरोहित सा कर देता है।

१३. आ प्रुषायन्मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः ।

बृहस्पतिरुद्धरन्नश्मनो गा भूम्या उद्रेव वि त्वचं बिभेद ॥ ऋ० १०।६८।४

(मधुन=मधुना) जल से (आ+प्रुषायत्) सींचता हुआ, (ऋतस्य) जल के (योनिम्) कारण को अर्थात् मेघ को (अवक्षिपन्) नीचे गिराता हुआ (द्योः) द्यौं से=आकाश से (उल्काम्+इव) उल्का की भाँति (अश्मनः) बादल से (गाः) किरणों को (उद्+हरन्) उद्धार करता हुआ, छुड़ाता हुआ (अर्कः) स्तुति योग्य (बृहस्पतिः) बृहस्पति (उद्गाइव) मानो जल के द्वारा (भूम्याः) पृथिवी की (त्वचम्) त्वचा को, ऊपर की तह को (वि+बिभेद) विविध रीति से फाड़ देता है।

बृहस्पति शब्द के अनेक अर्थ हैं। यहाँ सूर्य अथवा गड़गड़ाहट, कड़-कड़ाहट करने वाला विद्युत् वाला वायु है।

१४. उत स्मास्य तन्यतोरिव द्योर्ऋघायतो अभियुजो भयन्ते ।

यदा सहस्रमभि पीमयोधीद्दुर्वर्तुः स्मा भवति भीम ऋञ्जन् ॥

ऋ० ४।३८।८

(उत) और (अस्य) इस (ऋघायतः) हिंसा करने वाले (अभियुजः) अभियोक्ता=चढ़ाई करने वाले के (तन्यतोः) बिजली के (इव) समान (द्योः) प्रकाश से (भयन्ते) डरते हैं (स्म) ही। (यदा) जब कोई (दुर्वर्तुः) दुष्ट-स्वभाव वाले के (सहस्रम्) हज़ारों के साथ (पीम्=सीम्) सब ओर से (अभि+अयोधीत्) संमुख युद्ध करता है, तब वह (ऋञ्जन्) सरल स्वभाव वाला (स्म) भी (भीमः) भयङ्कर (भवति) हो जाता है।

राजा का तेज यद्यपि विद्युद्विजास की भाँति क्षणिक होता है किन्तु हानि प्रचुर करता है, अतः लोग उससे डरते रहते हैं। सरल मनुष्य भी दुष्टों के साथ युद्ध के समय भयङ्कर हो जाता है। अर्थात् तिग्मता और क्रजुता समय के अनुसार बर्तनी चाहिए।

१५. तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्यौरुपस्थे ।

अनन्तमन्यदुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्वरितः संभरन्ति ॥ ऋ० १।११५।५

(मित्रस्य) मित्र के और (वरुणस्य) वरुण के (अभिचक्षे) संमुख दर्शन के लिए (सूर्यः) सूर्य (द्योः) आकाश की (उपस्थे) गोद में (तत्) वह (रूपम्) रूप (कृणुते) करता है (अस्य) इसका (अनन्तम्) अनन्त (रुशत्)

जलती ज्वाला के समान लाल लाल (पाजः) बल (अन्यत्) अन्य है और (अन्यत्) उससे भिन्न (कृष्णम्) को (हरितः) दिशापै (सं+भरन्ति) भली प्रकार धारण करती हैं।

मित्र=Oxygen। वरुण=Hydrogen। मित्र और वरुण सूर्य से विविध रंग कराने में हेतु हैं। सूर्य के लाल रंग का बल और है और कृष्णरूप Ultra Violet Colour का फल और है। इसके इस दूसरे रूप को दिशापै धारण करती है। अर्थात् यह सर्वत्र विद्यमान है।

१६. ता हि क्षेत्रं धारयेथे अनु घ्नन् दृढेथे सानुमुपमादिव द्योः।

दृढो नक्षत्र उत विश्वदेवो भूमिमातान् द्यां धासिनायोः ॥ ऋ० ६।६।६

(हि) सचमुच (ता) वे तुम दोनों (अनु+घ्नन्) प्रतिदिन (क्षत्रम्) राज्यशक्ति को, रक्षणसामर्थ्य को (धारयेथे) धारण करते हो (द्योः) प्रकाश की (उप-मात-इय) उपमा से (सानुम्) उन्नत अवस्था को (दृढेथे) दृढ़ करते हो। (दृढः) दृढ़ (नक्षत्रः) अक्षाण सामर्थ्य वाला (उत) और (विश्वदेवः) सबका प्रकाशक (धासिना) अन्नादि से, धारणसामर्थ्य के द्वारा (धायोः) मनुष्य के (भूमिम्) भूमि=शरीर को तथा (द्याम्) प्रकाश=ज्ञान को (आ+अतान्) बढ़ाते हैं।

इस मन्त्र का देवता=प्रतिपाद्य विषय 'मित्रावरुणौ' है। अधिराष्ट्रपक्ष में ये राजा और मन्त्री हैं। राज्यशक्ति इन्हें के पास रहती है। अन्नादि के द्वारा मनुष्य के शरीरबल तथा ज्ञानबल की वृद्धि करना इनका परम कर्त्तव्य है। अध्यात्म में प्राण अपान मित्रावरुण हैं, शरीर में किसी प्रकार की क्षति हो, उसकी पूर्ति प्राण और अपान करते हैं। साधन-द्वारा प्राप्त उन्नत अवस्था को बनाये रखना भी इनका काम है। जब साधक मित्र और वरुण—प्राण और अपान—पर यथेष्ट अधिकार कर लेता है, तब अविनाशी आत्मा सर्वप्रकाशक परमात्मा की सहायता से अपने शरीर और ज्ञान की वृद्धि करने में समर्थ होता है।

१७. नहि वः शत्रुर्विविदे अधि द्यवि न भूम्यां रिशादसः।

युष्माकमस्तु तविषी तना युजा रुद्रासो नू चिदाधृषे ॥ ऋ० १।३६ ४

हे (रिशादसः) हिंसा के नाश करने वालो! (वः) तुमको (नहि) न तो (द्यवि+अधि) आकाश पर और (न) न (भूम्याम्) भूमि पर (शत्रुः) शत्रु (विविदे) मिलता है। हे (रुद्रासः) रुलाने वालो! (आधृषे) प्रौढ कार्य के लिए (युजा) युक्ति से (तना) विस्तृत (तविषी) बलवती सेना (चित्) भी (युष्माकम्) तुम्हारी (नू=नु) ही (अस्तु) हो।

मन्त्र का देवता=प्रतिपाद्य 'मरुतः' है। 'मरुत' का अर्थ वायु भी किया जाता है। 'मरुतः' निघण्टु ३।१८ में ऋत्विक्—नामों में पढ़ा गया है। 'मरुत' का धातु-अनुसारी अर्थ है—मरने मारने पर तत्पर अर्थात् सैनिक। निस्सन्देह सैनिक

रुद्र=रुलाने वाले होते हैं, किन्तु यदि सैनिक 'रिशादस्=हिंसानाशक हों, तो सच-मुच कोई भी उनका विरोधी कहीं न रहे ।

१८. ऊर्जो नपातमध्वरे दीदिवांसमुप द्यवि । अग्निमीळे कविक्रतुम् ॥

ऋ० ३।२७।१२

में (द्यवि) प्रकाशमय (अध्वरे) हिंसाशून्य यज्ञ में (ऊर्जः) बल के (नपा-तम्) न गिराने वाले (दीदिवांसम्) देदीप्यमान (कविक्रतुम्) कवियों के कार्यसाधक (अग्निम्) ज्ञानाग्नि की (ईळे) स्तुति करता हूँ ।

ज्ञानाग्नि बल को क्षीण नहीं होने देता, सदा प्रकाशमान रहता है । मनुष्यों की सदा ज्ञानयज्ञ में ज्ञानाग्नि को प्रदीप्त रखना चाहिए ।

प्रसंग से यहां 'द्यौः'=द्यौः शब्द के कुछ अर्थों का उल्लेख कर देते हैं—

१. द्यौर्वा अस्य (अग्नेः) परमं जन्म । (श० ६।२।३।३६)

द्यौ इत्स अग्नि का परम जन्मस्थान है ।

२. द्यौर्वै तृतीयं सवनम् (श० १२।८।२।१०) द्यौ यज्ञ का तृतीय सवन है ।

३. द्यौर्वै तृतीयं रजः (श० ६।७।४।५) द्यौ तीसरा लोक है ।

४. द्यौर्वा अपां सदनं, दिवि ह्यापः सन्नाः (श० ७।५।२।५६)

द्यौ जलों का ठिकाना है द्यौ में=अन्तरिक्ष में जल समाप्त होते हैं ।

५. आपो वै द्यौः (श० ६।४।१।६) जल ही द्यौ है ।

६. वृष्टिर्वै द्यौः (तै० ३।२।६।३) वृष्टि द्यौ है ।

७. द्यौर्यशः (श० १२।३।४।७) यश द्यौ है ।

८. द्यौर्वै सर्वेषां देवानामायतनम् । (श० १४।३।२।८)

द्यौ सब देवों का=प्रकाशकों का ठिकाना है ।

इन वचनों के अनुसार १ अग्नि का मुख्य उत्पत्तिस्थान २. यज्ञ का तृतीय सवन ३. तीसरा लोक । ४. जलाधार अन्तरिक्ष, या समुद्र । ५. जल । ६. वृष्टि । ७. यश । ८. सब देवों=इन्द्रियों, ग्रह नक्षत्रादि का ठिकाना अर्थात् मास्तिष्क या द्यौलोक 'अर्थ' हैं । इसके अतिरिक्त 'उषा' अर्थ भी ब्रह्मण ग्रन्थों में लिखा मिलता है । भाष्यकारों ने 'दिव' धातु के अर्थों को सामने रखकर परमात्मा, आत्मा, प्रकाश, सूर्य आदि अर्थ भी लिखे हैं । इन सारे अर्थों को पाठक हृदयङ्गम कर लें । वेदाभ्यास में इनसे बहुत सहायता मिलेगी ।

एकादशः पाठः

‘३’

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा विभक्ति	राः	राथौ	रायः
संबोधन	राः	राथौ	रायः

द्वितीया विभक्ति	रायम्	रायौ	रायः
तृतीया विभक्ति	राया	राभ्याम्	राभिः
चतुर्थी विभक्ति	राये	राभ्याम्	राभ्यः
पंचमी विभक्ति	रायः	राभ्याम्	राभ्यः
षष्ठी विभक्ति	रायः	रायोः	रायाम्
सप्तमी विभक्ति	रायि	रायोः	रासु

‘रै’ शब्द का अर्थ धन है। सभी प्रकार के धनों को वेद में ‘रै’ कहा गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसी कारण ‘पशवो वै रायः’ श। ३। ३। १। ८ [पशु ही रै=धन है] कहा गया है। वेदमें इसकी सभी विभक्तियों के रूप नहीं मिलते, अतः इस के उदाहरण थोड़े ही होंगे।

१. तवोतिभिः सचमाना अरिष्टा बृहस्पते मघवानः सुवीराः ।

ये अश्वदा उत वा सन्ति गोदा ये वस्त्रदाः सुभागास्तेषु रायः॥ ३०५। ४२। ८
हे (बृहस्पते) बड़ों के भी स्वामिन् ! (तव) तेरी (ऊतिभिः) रक्षाओं, कृपाओं से (सचमानः) संबद्ध होने वाले (अरिष्टाः) अहिंसित, कष्टशून्य, (मघवानः) धनवान् (सुवीराः) उत्तमवीरों वाले (ये) जो (अश्वदाः) अश्वों = घोड़ों, विद्युत् आदि के दाता (उत+वा) अथवा (गोदाः) गौओं=गाय, विद्या, वाणों आदि के दाता (सन्ति) हैं और (ये) जो (वस्त्रदाः) वस्त्रों के दाता हैं (रायः) धन (तेषु) उनमें (सुभगाः) सौभाग्यवान् हैं, सुफल हैं।

परमेश्वर के कृपापात्र वीर धनी सदा ही दूसरों की आवश्यकताओं का विचार करके उपयोगी वस्तुओं का दान करते रहते हैं। वेद के कथनानुसार उन्हीं का धन सुफल है।

२. न स जीयते मरुतो न हन्यते न स्नेधति न व्यथते न रिप्यति ।

नास्य राय उपदस्यन्ति नोतय ऋषिं वा यं राजानं वा सुषूदथ ॥

३०। ५। ५४। ७

हे (मरुतः) मरुतो ! (यम्) जिस (ऋषिम्) ऋषि को (वा) अथवा राजा को (वा) अथवा जिस किसी अन्य को (सुषूदथ) रक्षा करते हो, (सः) वह (न) न (जीयते) जीता जा सकता है (न) न (हन्यते) मारा जा सकता है। (न) न (स्नेधति) क्षीण होता है (न) न (व्यथते) न डरता, कांपता, विचलता है (न) न (रिप्यति) हिंसा करता है, दुःखित होता है (न) न (अस्य) इसके (रायः) धन (उप+दस्यन्ति) क्षीण होते हैं और (न) न (ऊतयः) कार्यसिद्धियां क्षीण होती हैं।

‘मरुत’ का अर्थ प्राण, वायु, मरने मारने पर तत्पर सैनिक है।

३. शन्नो भगः शम्भु नः शंसो अस्तु शं नः पुरन्धिः शम्भु सन्तु रायः ।

शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शन्नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु ॥ ३०७। ३५। २

(भगः) पेश्वर्य्य (नः) हमारे लिए (शम्) सुखकारी हो। (शंसः) उपदेश (नः) हमारे लिए (शम्) सुखकारी (उ) ही (अस्तु) हो। (पुरन्धिः) शरीर-धारक सामर्थ्य (नः) हमारे लिए (शम्) सुखदायी हो। (रायः) धन (शम्) शान्तिदायक (उ) ही (सन्तु) हों। (सुयमस्य) उत्तम नियन्त्रणकारी, सुनियमों से प्राप्त होने योग्य (सत्यस्य) सत्य का, त्रिकालाभ्यधित परमेश्वर का (शंसः) स्तवन, अनुशासन (नः) हमारे लिए (शम्) शान्तिकारी हो (पुरुप्रजातः) अनेकों में प्रसिद्ध (अर्यमा) आर्यों, सज्जनों का मान करने वाला न्यायकारी (नः) हमारे लिए (शम्) सुखकारी हो।

इन सब पदार्थों का सुखकारी होना मनुष्य के अपने पुरुषार्थ और प्रयोग के अधीन है।

४. रायसार्धि स्वधावोस्ति हि तेऽग्ने देवेष्वप्यम्।

त्वं वाजस्य श्रुत्यस्य राजसि स नो मृड मह्यं असि ॥ ऋ० १।३६।११

हे (स्वधावः) स्वधावन्=शक्तिमन्! (रायः) धन को (पूर्धि) पूराकर। हे (अग्ने) तेजस्विन्! (हि) यतः (ते) तेरा (देवेषु) देवों में (अप्यम्) सख्य (अस्ति) है। (त्वम्) तू (श्रुत्यस्य) श्रवण करने योग्य (वाजस्य) अन्न का, ज्ञान का, बल का (राजसि) राजा है। तू (महान्) महान् (असि) है, अतः (सः) ऐसा तू (नः) हमें (मृड) सुखी कर।

शक्तिशाली, तेजस्वी, देवमित्र (विद्वानों का मित्र) ही धन धान्य की वृद्धि और पूर्ति कर सकता है।

५. ता नो रासन्नातिषाचो वसून्त्या रोदसी वरुणानी शृणोतु।

वरुत्रीभिः सुशरणो नो अस्तु त्वष्टा सुदत्रो वि दधातु रायः ॥ ऋ० ७।३४।२२
(रातिषाचः) दानसंबन्ध वाले (नः) हमें (ता) वे (वसूनि) धन (आ+ रासन्) देवें। (रोदसी) रुद्र की पत्नी=प्राण की शक्ति तथा (वरुणानी) वरुणपत्नी=अपानशक्ति (शृणोतु) सुने। (सुशरणः) उत्तम आश्रयवाला (वरुत्रीभिः) वरुणीय विद्याओं के साथ (नः) हमारा (अस्तु) हो! (सुदत्रः) उत्तमदानी (त्वष्टा) दुःखविच्छेदक (रायः) धनों को (वि+दधातु) निर्माण करे, अथवा दान करे।

इन्द्र, वरुण, रुद्र आदि की पत्नी से तात्पर्य्य उस पदार्थ की स्वकीय शक्ति से है। त्वष्टा के संबन्ध में नवमपाठ के आरंभ में देखिए।

६. सन्नो राया बृहता विश्वपेशसा मिमिक्षा समिळाभिरा।

सं घुम्नेन विश्वतुरोषो मा सं वाजैर्वाजिनीवति ॥ ऋ० १।४८।१६
(नः) हमें (विश्वपेशसा) विश्वरूप (बृहता) बहुत बड़े (राया) धन से (सम्+ मिमिक्षा=मिमिक्ष) सिंचितकर, युक्तकर और (हव्यभिः) भूमि वाणी और

नीति से (सम्+आ) भली प्रकार सिंचित कर। हे (उषः) उषा की भान्ति ज्ञानप्रकाश संपन्ने! (विश्वतुरा) सबको शीघ्र क्रियायुक्त करने वाले (द्युम्ने) ज्ञातृप्रकाश से (सम्) संयुक्त कर। हे (महि) पूजनीये! (वाजिनीवति) प्रशंसनीय वेगवती क्रियाओं वाली! (वाजैः) धन, अन्न, ज्ञान, बल वेगों से हमें (सम्) संयुक्त कीजिए।

उषा के मिष से ज्ञानवती, बलवती स्त्री को संबोधन करके कहा गया है। सचमुच स्त्री बहुत ही अद्भुत कार्य कर सकती है। चाहे तो वह समाज को शिखर पर चढ़ा दे, चाहे तो गर्त में गिरा दे।

७. समिन्द्र राया समिषा रभेमहि सं वाजेभिः पुरुश्चन्द्रैरभिद्युभिः ।

सं देव्या प्रमत्या वीरशुष्मया गोअग्रयाऽशवावत्या रभेमहि ॥ ऋ० १।५३।५

पे (इन्द्र) इन्द्र परमेश्वर! हम (राया) धन के साथ (सं+रभेमहि) भली प्रकार आरंभ करें (इषा) धर्मभावना के साथ (सम्) भली प्रकार आरंभ करें (पुरुश्चन्द्रैः) अत्यन्त आनन्द देने वाले (अभिद्युभिः) सर्वत्र प्रकाश वाले (वाजेभिः) विज्ञानगुणों के साथ (सम्) उत्तमता से आरंभ करें। (देव्या) दिव्यगुणयुक्त (प्रमत्या) उत्तम बुद्धि के साथ और (वीरशुष्मया) वीरों की बलवाली शक्ति के साथ, तथा (गोअग्रया) गौ, वाणी, इन्द्रियां, पृथिवी आदि जिसमें अग्र=मुख्य हैं जिसमें उसके साथ (अशवावत्या) अश्वयुक्ता श्रेष्ठ बुद्धि के साथ (सं+रभेमहि) हम आरंभ करें।

कार्यारंभ करने के लिए न्यून से न्यून इनकी आवश्यकता अवश्य होती है—धन, धर्मभावना, इच्छा, ज्ञान, वीरता, बुद्धि। इन के विना कार्य का आरंभ करना विडम्बनामात्र है। 'सं+रभेमहि' का एक अर्थ उत्तम जोश अर्थात् होश के साथ जोशयुक्त होवें भी है। तात्पर्य यह कि कार्यारंभ के समय उस के लिए पूर्ण उद्वेग का होना परमावश्यक है किन्तु उस के साथ विवेक का होना और भी अनिवार्य होता है।

८. अस्मान्त्सु तत्र चोदयेन्द्र राये रभस्वतः । तुविद्युन्न यशस्वतः ॥ ऋ० १।६।६

हे (तुविद्युन्न) अत्यन्त यशयुक्त धनवन्। (इन्द्र) परमेश्वर्यदायक परमेश्वर! (तत्र) उस में (अस्मान्) हम (रभस्वतः) वेगवालों और (यशस्वतः) यशवालों को (राये) धन के लिए (सु+चोदय) उत्तमता से प्रेरणा कर।

धन प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करना मनुष्य का कर्तव्य है।

९. तमित्सखित्व ईमहे तं राये तं सुवीर्ये ।

स शक्र उत नः शक्रदिन्द्रो वसु दयमानः ॥ ऋ० १।१०।६

(तम्) उस परमेश्वर्यदायक प्रभु को (इत) ही (सखित्वे) मैत्री के कार्य में (ईमहे) चाहते हैं। (तम्) उसी को (राये) धनादि के लिए और (तम्) उसी को (सुवीर्ये) उत्तम बलकार्य में, शत्रु-निवारण कार्य में [हम

चाहते हैं] (उत) और (सः) वह (शक्रः) शक्तिसंपन्न (इन्द्रः) परमैश्वर्य्यदाता (नः) हमें (वसु) धन (दयमानः) दान करता हुआ (शक्त) समर्थ होता है।

परमेश्वर ही सच्चा मित्र है, धन, बल आदि सभी उसी से माँगने चाहिए। वही सर्वसमर्थ है। सदा-प्राणियों को उनके आवश्यक पदार्थ देता ही रहता है।

१२. स शेवृधमधि धा द्युम्नमस्मे महि चत्रं जनाषाडिन्द्र तव्यम् ।

रक्षा च नो मघोनः पाहि सुरीन् राये च नः स्वपत्या इषे धाः ॥

० ऋ० १।५४।११

हे (इन्द्र) ऐश्वर्य्यसंपादक ! (जनाषाट्) लोगों को सहन करने वाला (सः) वह तू (अस्मे+अधि) हमारे अधिकार में (शेवृधम्) सुख (महि) महान् (द्युम्नम्) धन, यश और (तव्यम्) बहुत बड़ी (क्षत्रम्) क्षत्रशक्ति (धाः) दे। (च) और (नः) हमें और हमारे (मघोनः) धन वालों को (रक्षा=रक्ष) बचा। (सुरीन्) विद्वानों को (पाहि) प्रालन कर (च) और (नः) हमको (राये) धन के लिए तथा (स्वपत्यै) उत्तम सन्तानयुक्त (इषे) अन्नादि के लिए (धाः) धारण कर।

राजा का कर्तव्य है कि प्रजा के धनधान्य, सुख समृद्धि की सदा वृद्धि करे। प्रजा में क्षत्र=स्वात्मरक्षण की भावना को सदा जागरूक रखे। राष्ट्र की समृद्धि के लिए धनियों और ज्ञानियों की सदा रक्षा किया करे। प्रजा में प्रजनन-शक्ति को कम न होने दे। प्रजा की बातों को सहे और उसको वश में रखे।

तृतीय पाठ (क) के २६ मन्त्र 'अग्ने नय—' में भां 'राये' पद चतुर्थी का एकवचन है। ३३वें पृष्ठ पर देखें।

११. अश्व्यस्य त्मना रथ्यस्य पुष्टेर्नित्यस्य रायः पतयः स्याम ।

ता चक्राणा ऊतिभिर्नव्यसीभिरस्मन्ना रायो नियुतः सचन्ताम् ॥

० ऋ० ४।४१।१०

हम (त्मना) अपने आप से (अश्व्यस्य) अश्व—आदि संबन्धी, शीघ्र-गामी पदार्थों में होने वाली (रथ्यस्य) रथों से सम्बद्ध, रमणसाधनों में होने वाली (पुष्टेः) पुष्टि के तथा (नित्यस्य) अविनाशी (रायः) धन के (पतयः) स्वामी (स्याम) हों। (ता) वे दोनों—मित्र और वरुण—(चक्राणा=चक्राणौ) निरन्तर कार्य्य करते हुए (नव्यसीभिः) अत्यन्त नवीन (ऊतिभिः) साधनों से (अस्मन्ना) हममें होने वाले (नियुतः) निश्चित (रायः) धनों को (सचन्ताम्) प्राप्त करें।

'रायः' पद इस मन्त्र में दो बार आया है। पहला पष्ठ्यन्त है और दूसरा द्वितीयाविभक्ति का बहुवचन है। 'सचन्ताम्' का अर्थ है—सम्बन्ध करें। तात्पर्य्य यह है कि यदि प्रजा समृद्धिशालिनी हो तो वह मित्र और वरुण—राजा और मन्त्री को—धन दे सकती है।

मन्त्र का देवता 'मित्रावरुणौ' है।

१२. वरिष्ठे न इन्द्र वन्धुरे धा वहिष्ठयोः शतावन्नश्वयोरा ।

इषामा वक्षीषां वर्षिष्ठां मा नस्तारीन्मघवन्नायो अर्यः ॥ ऋ० ६।४७।६

हे (इन्द्र) इन्द्र ! (शतावन्) सैंकड़ों की रक्षा करने वाले ! सैंकड़ों साधनों वाले (नः) हमें (वहिष्ठयोः) अत्यन्त वहनसमर्थ (अश्वयोः) दो अश्वों के— धन और ऋण—Positive & Negative—विजलियों के (वरिष्ठे) अति-श्रेष्ठ (वन्धुरे) बन्धन में (आ+धाः) सब तरह धारण कर । तू (इषम्) अन्न को (आ+वक्षि) सब तरह प्राप्त कर और हे (मघवन्) युजित धनवन् (रायः) धन का (अर्यः) स्वामी (नः) हमारे (वर्षिष्ठाम्) अत्यन्त उत्तम (इषाम्) अन्न धन को (मा) मत (तारीत्) परे हटाए ।

जितनी समृद्धि विद्युत् के द्वारा संभव है, उतनी अन्य किसी साधन से नहीं। राजा का कर्त्तव्य है कि प्रजा में विद्युद्विद्या का प्रचार कराए, जिससे लोग धनधान्य से समृद्ध हों।

१३. स सुन्वे यो वसूनां यो रायामानेता य इळानाम् । सोमो यः सुचितीनाम् ॥

ऋ० ६।१०८।१३

(सः) वह (सोमः) सोम (सुन्वे) निष्पन्न किया जाता है (यः) जो (वसूनाम्) तसुओं का (यः) जो (रायाम्) ऐश्वर्यों का (यः) जो (इळानाम्) पृथिवियों का, वाणियों का और (यः) जो (सुचितीनाम्) उत्तम मनुष्यों का (आनेता) आनयन करने वाला है, सब प्रकार से आगे ले जाने वाला है।

'रै' शब्द के इन विभक्तियों के अतिरिक्त रूप वेद में नहीं मिलते।

द्वादशः पाठः

अब औकारान्त 'ग्लौ' शब्द के रूप लिखते हैं—

	एक वचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा विभक्ति	ग्लौः	ग्लावौ	ग्लावः
संबोधन	ग्लौः	ग्लावौ	ग्लावः
द्वितीयाविभक्ति	ग्लावम्	ग्लावौ	ग्लावः
तृतीया विभक्ति	ग्लावा	ग्लौभ्याम्	ग्लौभिः
चतुर्थी विभक्ति	ग्लावे	ग्लौभ्याम्	ग्लौभ्यः
पचमी विभक्ति	ग्लावः	ग्लौभ्याम्	ग्लौभ्य
षष्ठी विभक्ति	ग्लावः	ग्लावोः	ग्लावाम्
सप्तमा विभक्ति	ग्लावि	ग्लावोः	ग्लौषु

वेद में केवल एक बार 'ग्लौः' और एक बार 'ग्लौभिः' आया है। हम उनके ही मन्त्र यहां उद्धृत करते हैं।

१. असूतिका रामायण्यपचित्प्रपतिष्यति ।

ग्लौरितः प्र पतिष्यति स गलुन्तो नशिष्यति ॥ अ० ६।८३।३

(रामायणी) नाड़ियों में रहने वाली बीमारी (असूतिका) उत्पत्ति न करती हुई [अर्थात् आगे को और रोग न बढ़ाती हुई] (अपचित्) हाँस को प्राप्त होती हुई (प्र+पतिष्यति) पूरी तरह गिर जायगी (ग्लौः) दुःखदायी (इतः) यहाँ से (प्र+पतिष्यति) गिर जायगा । (सः) वह दुःखदायी (गलुन्तः) गलता हुआ (नशिष्यति) नष्ट हो जायगा ।

'ग्लौ' यहाँ कोई फोड़ा प्रतीत होता है ।

२. इन्द्रस्य क्रोडोऽदित्यै पाजस्यं दिशां जत्रवोऽदित्यै भस्मञ्जीमूतान् हृदयौपशेनान्तरिक्षं पुरीतता नभ उदर्येण चक्रवाकौ मतस्त्राभ्यां दिवं वृक्षाभ्यां गिरीन् प्राशिभिरुपलान् ग्रीह्वा वल्मीकान् क्लोमभिर्ग्लौमिर्गुल्मान् हिराभिः स्रवन्तीर्हृदान् कुक्षीभ्यां समुद्रमुदरेण वैश्वानरं भस्मना ॥

य० २५।८

(इन्द्रस्य) इन्द्र का=बिजली का (क्रोडः) डूबना, झपकना (अदित्यै) पृथिवी के लिए (पाजस्यम्) श्रेष्ठ अन्नसाधक, (दिशाम्) दिशाओं की (जत्रवः) सन्धियों (अदित्यै) अखण्ड ज्योति की (भस्मन्) लपटें सी हैं । (जीमूतान्) मेघों को (हृदयौपशेन) हृदयस्थ जीव के समान, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (पुरीतता) पुरीतता नाड़ी के समान (नभः) आकाश को (उदर्येण) उदरस्थ पदार्थ के समान (चक्रवाकौ) चक्रवाकों को (मतस्त्राभ्याम्) गले के दोनों मार्गों के समान (दिवम्) प्रकाश को (वृक्षाभ्याम्) वृक्षों के समान (गिरीन्) पर्वतों को (प्राशिभिः) प्राशियों के समान (उपलान्) उपलों को (ग्रीह्वा) ग्रीहा के समान (वल्मीकान्) बाँवियों को (क्लोमभिः) क्लोमों के समान (गुल्मान्) गुल्मों को (ग्लौमिः) ग्लौओं के समान, चन्द्रों के समान (स्रवन्तीः) नदियों को (हिराभिः) नाड़ियों के समान (हृदान्) तालाबों को (कुक्षीभ्याम्) दो कुक्षियों के समान (समुद्रम्) समुद्र को (उदरेण) उदर के समान (वैश्वानरम्) वैश्वानर को (भस्मना) भस्म के समान जानो ।

इसमें पिण्ड ब्रह्माण्ड की सदृशता का चित्र खींचा गया है । आरंभ में विद्युद्विलास का प्रयोजन बतला कर जीवित शरीरस्थ अङ्गों आदि का ब्रह्माण्डस्थ पदार्थों के साथ समानता का वर्णन किया गया है ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य वेदानन्देत्यन्वर्थापराभिधानस्य श्रीमतो दयानन्दतीर्थस्वामिनः कृतिषु वेदप्रवेशे प्रथमा पद्धतिः समाप्ति गता ।

(चैत्रशुक्ला प्रतिपत् १६६७ वि०)

ओं शम्

ओ३म्

शास्त्रार्थ फीरोजाबाद।

जोकि

आर्यसमाज फीरोजाबाद और जैनधर्मवालों
से

श्रीमती आर्यप्रतिनिधिसभा पश्चिमोत्तर
और अवधदेश की आज्ञानुसार
हुआ।

वैदिकयन्त्रालय, अजमेर

में

मुद्रित हुआ।

संवत् १९७१ सन् १९१४ ई०

चतुर्थावृत्ति
२०००



मूल्य प्रतिपुस्तक

१॥७॥

॥ ओ३म् ॥

भूमिका ॥



उस परब्रह्म परमात्मा को अनेकशः धन्यवाद देना चाहिये जिसकी प्रेरणा और परमकृपा से सब मनुष्य अपने २ कर्तव्यधर्मों में प्रवृत्त होते हैं, उस परमात्मा ने अपनी परमदयालुता से सब प्राणियों के हितार्थ उस सर्वोत्तम विद्या का उपदेश किया कि जिससे संसार और परमार्थ का सुखे सिद्ध हो। और परमेश्वर वही हो सकता है जिसके ऊपर कोई न हो और उसकी आज्ञा भी सब के लिये एकसी होनी चाहिये यदि किसी समुदाय को अन्य उपदेश दे तथा किसी को भिन्न आज्ञा देवे तो समझिये कि उन दो समुदायों में विरोध करानेवाला ईश्वर ही हो जावे फिर ऐसे को ईश्वर मानना सिद्ध न हो सकेगा इसलिये ईश्वर वही है जो सब के लिये एक हो और उसका उपदेश वा आज्ञा भी सब के लिये एकसी होवे। प्रयोजन यह है कि संसार में परस्पर विरुद्ध अनेक मत जो प्रवृत्त हैं उन सब का मूल ईश्वर नहीं है, किन्तु मनुष्य लोगों की ओर से हैं। इन मतों में जो २ बातें सब की एकसी मिलती हैं वे सब ईश्वरीय विद्या वेद से वहां २ गई हैं। जैसे—ईश्वर को प्रायः मानते हैं और बहुधा ईश्वर के गुण कर्म-स्वभावों को भी एक प्रकार से मानते हैं वे सब ठीक हैं और जो २ ईश्वर विषय में भी परस्पर विरुद्ध गुणगति मानते हैं वे सब बीच के बनावटी हैं। जो लोग नास्तिक समझे जाते हैं वे भी किसी सिद्ध पुरुष को सर्वज्ञादिगुणविशिष्ट अपना इष्टदेव मानते हैं पर उस को अनादि सनातनसिद्ध सर्वशक्तिमान् सृष्टिकर्त्ता नहीं मानते। इस मन्तव्य में यह विरोध आता है कि जो अनादि न होगा और बीच में सिद्ध हो जायगा तो वह अपने उत्पन्न होने से पहिले का हाल नहीं जान सकता क्योंकि पिता के जन्म का दर्शन पुत्र को होना कदापि सम्भव नहीं है। जब ऐसा है तो उसको सर्वज्ञ मानना कदापि ठीक नहीं है। इस अनेक प्रकार के मतान्तर का फैलना मनुष्यों की अविद्या से होता है पर इस सृष्टि में जो २ सर्वज्ञहितकारी विद्वान् होते हैं वे प्रायः यही यत्न करते हैं कि ईश्वरीय व्यवस्थानुसार सब का मन्तव्य ठीक २ हो जावे परस्पर का वैरविरोध मिटकर शुद्ध वैदिकधर्म की सर्वत्र प्रवृत्ति होवे। इसी के अनुसार श्रीमत् दयानन्दसरस्वतीजी महाराज ने भी प्रयत्न

किया कि सब मतों का वैर विरोध मिटाके एक वैदिकमत को सब मानें, पर मतवादी लोग ऐसे पक्षपात में प्रस्त हो रहे हैं कि आर्य लोग आंख से देखते हैं तो हम नाक से देखने लगे जब से श्रीमदुक्त स्वामीजी ने वैदिक आर्यधर्म की उत्तमता का उपदेश किया है तब से अनेक मतवादियों ने (अपनी बनावटी लीला को कटते देखकर) जहां तहां शास्त्रार्थ करने का प्रारम्भ किया परन्तु वे लोग शास्त्रार्थ करने में यदि विचारपूर्वक पक्षपात छोड़के केवल सत्यासत्य के निर्णय के लिये प्रवृत्त हों तब तो अवश्य अच्छा फल होवे, परन्तु उन लोगों की दृष्टि यह रहती है कि हमारे पक्ष की मूर्खमण्डली (जिससे हमारा सब धनादिका काम निकलता है) गड़बड़ा कर हमारे फन्दे से न निकल जावे इसलिये शास्त्रार्थ का इल्ला करके अपना विजय सब को प्रकट कर देंगे । आजकल अनेक स्थलों में शास्त्रार्थ होते हैं पर उनसे ऐसा कोई पूर्णलाभ नहीं होता कि जो अनेक सत्पुरुषों को सत्यासत्य मालूम होजावे तथापि बुद्धिमान् लोग उस विवाद में यथोचित बलाबल समझ ही लेते हैं इससे वैदिकधर्म की उन्नति शनैः २ होती ही जाती है ॥

जिला आगरा में एक फीरोज़ाबाद नामक कस्बा है वहां जैनियों का तीर्थ है प्रतिवर्ष चैत्र में मेला होता है, यह प्रसिद्ध है कि जिन नगरों में जैनी आदि की पोपलीला के मुख्यस्थान हैं वहां आर्यसमाज की उन्नति वा स्थिति होना कठिन होता है इसी के अनुसार नगर फीरोज़ाबाद में भी आर्यसमाज का आरम्भ होना जैनियों को महा अनिष्टकारी हुआ, उन्होंने समाज तोड़ने के कई एक उपाय किये दो एक बार समाज में अपना आदमी भेजा कि हम मतविषय में शास्त्रार्थ करना चाहते हैं, समाज से पत्रद्वारा उत्तर दिया गया कि हम भी शास्त्रार्थ करने को कटिबद्ध हैं इस प्रकार की बातें आर्यसमाज फीरोज़ाबाद और उस नगर के जैनियों में हो ही रही थीं कि इतने में सनातन आर्यधर्मोपदेशक श्रीस्वामि भास्करानन्दसरस्वतीजी सं० १९४४ फाल्गुन मास में इस फीरोज़ाबाद नगर में पधारे और सनातनधर्म की वृद्धि पर व्याख्यान दिया । इस पर इसी उक्त नगर के रईस जैनधर्मावलम्बी सेठ फूलचन्दजी ने कहा कि मतविषय पर वार्त्ता होनी चाहिये जिसका मत ठीक और सनातन निकले द्वितीय पक्षवाला उसी का ग्रहण करे (स्वा० भा० जी के साथ) फूलचन्द ने और उक्त स्वामीजी ने परस्पर प्रतिज्ञा की कि जिसका पक्ष गिर जावे वह द्वितीय पक्ष को स्वीकार करे । तब स्वा० भा० जी ने कहा कि तुम्हारी ओर से जो कोई शास्त्रार्थ करनेवाला हो उसको बुलाओ इस पर सेठ फूलचन्दजी ने पं० पन्नालाल

जैनधर्मी को बुलाया वे किसी विशेष कारण से न आये तब यह बात निश्चित हुई कि प्रथम चैत्रसुदि ३ से ८ तक मतविषय पर आर्य और जैनियों का शास्त्रार्थ हो। इस बात को लेख भी सप्ताचारपत्रों में छप गया था और यह बात सम्पूर्ण हिन्दुस्तान में प्रकट होगई दोनों पक्षवालों ने अपने २ पक्ष के पण्डितों को बुलाने प्रारम्भ किया। आर्यों की ओर से शास्त्रार्थ करनेवाले पण्डित चैत्रसुदि द्वितीया तक आगए, परन्तु जैनपक्ष के पण्डित द्वितीया को नहीं आये, आर्यों की ओर से द्वितीया के दिन जब पण्डित लोग आगये तब सर्वसम्मति के अनुसार पं० गंगाधरजी उपदेशक आर्य-समाज जसवन्तनगर ने सेठ फूलचन्दजी से जाकर कहा कि शास्त्रार्थ कल तृतीया से प्रारम्भ होना चाहिये जैसा कि सर्वत्र प्रसिद्ध हो चुका है इसलिये (पहिले से) आज ही शास्त्रार्थ के नियम और विषय नियत हो जाने चाहियें जिससे शास्त्रार्थ होते समय कालात्यय न हो, इस पर उक्त सेठजी ने उत्तर दिया कि हमारे पण्डित लोग तृतीया को आजावेंगे उसी समय सब नियमादि हो जावेंगे। जब जैन पण्डित द्वितीया की रात को आगये तो उसी समय में समाज के मन्त्री और उक्त पं० गंगाधरजी ने फिर जाकर सेठजी से कहा कि शास्त्रार्थ के नियम बँधजाने चाहियें तथा प्रबन्धकर्त्ता और सभापति भी नियत होजाने चाहियें जिससे शास्त्रार्थ के समय में किसी प्रकार की गड़बड़ न हो तब उन्होंने यह कहा कि ये सब बातें सभा में इकट्ठे होकर कर लेंगे। इस पर बहुत कहने सुनने से दोनों पक्ष की ओर से दो २ प्रबन्धकर्त्ता नियत किये गये आर्यों की ओर से सभापति आर्यसमाज फीरोज़ाबाद श्रीमान् चतुर्वेदी कमलापतिजी और पं० गङ्गाधरजी और जैनियों की ओर से लाला मञ्जूलाल साहब तथा लाला प्यारेलाल साहब नियत हुए फिर एक पंचम पुरुष सरपंच सभापति के लिये कहा गया वह पुरुष सरकारी ओहदेदार वकील आदि हो वा शहर का कोई प्रतिष्ठित रईस हो वा कोई जमींदार हो चाहे किसी मजहब का क्यों न हो उसको दोनों पक्षवाले निष्पक्षपाती धर्मात्मा समझ के स्वीकार करें। वह सभापति शास्त्रार्थ के नियम और विषयों पर दोनों पक्ष के शास्त्रार्थकर्त्ताओं के हस्ताक्षर करा अपने पास रखे जो कोई नियम वा विषय से चलायमान हो उसको यथोचित रोके। इस पर सेठ फूलचन्दजी ने कहा कि सभापति और नियमादि सब प्रातःकाल नियत कर लिये जावेंगे और शास्त्रार्थ का समय भी उसी समय नियत कर दिया जायगा। मन्त्री और पं० गङ्गाधरजी सब को धन्यवाद देकर अपने स्थान को चले आये और आये हुए आर्य पण्डितजनों से निवेदन किया कि उन्होंने प्रातःकाल शा-

स्वार्थ के नियम, पंच और विषय स्थिर करने के लिये कहा है सब की सम्मति हुई कि प्रातःकाल ही सही । तब प्रातःकाल सेठजी साहब ने रात्रि की बातों पर कुछ ध्यान और प्रबन्ध न किया । अर्थात् ऐसा भुलादिया कि जानो स्वप्न हुआ था, प्रातःकाल और का और ही ठाठ उचमारा कि एक पत्र संस्कृत का (जिसमें किसी के हस्ताक्षर भी नहीं थे) लिख भेजा, इस पर मंत्री ने एक पत्र चढ़ूँ जवान में लिखा कि आप कृपाकर यह लिख भेजिये कि यह पत्र आपका ही है ? । इस पर सेठजी साहब के अनुयायी पण्डित आदि बहुत लाल ताते हुए और कहा कि हमको ग्लेच्छभाषा क्यों लिख भेजी, इस पर मंत्री और पं० गङ्गाधरजी त्रिपाठी पुनः सेठजी के पास गये और कहा कि आपने पंचम प्रबन्धकर्त्ता पुरुष और नियमों का कुछ प्रबन्ध अभी तक न किया तब उन्होंने उस पत्र पर पं० छेदालाल के हस्ताक्षर करा दिये और उत्तर दिया कि नियम और पंचम मनुष्य का सब निश्चय पत्रों से हो जायगा आप पत्र का उत्तर दीजिये, मंत्री ने फिर भी निवेदन किया कि ऐसी बातों के निश्चयार्थ पत्रों की लिखा पढ़ी करने की आवश्यकता नहीं किन्तु दोनों पक्ष के मद्रपुरुष मिलकर सकान, नियम और जिन विषयों पर शास्त्रार्थ हो, निश्चय कर लें उन्होंने मेरे कथन को सुना न सुना कर यही जवाब दिया कि आप पत्र का उत्तर दीजिये, मंत्री ने कहा बहुत अच्छा परन्तु यह काम इस रीति से कदापि अच्छा न होगा, मंत्री ने अपनी पण्डितमण्डली को वह उक्त संस्कृत का पत्र हस्ताक्षर कराया हुआ उत्तर देने को दिया, इस पत्र के उत्तर की शीघ्रता करने में उनका अभिप्राय यह था कि हमने जो अपनी ओर से दाम देकर पण्डितों को भाड़े का टट्टू बनाया है आर्य लोग इस संस्कृत के पत्र का उत्तर नहीं दे सकते हैं, इसलिये मिलकर प्रबन्ध करना चाहते हैं और जैनियों का मुख्य भीतरी आशय यह था कि इस प्रकार पत्र भेजने करने में ही कुछ समय व्यतीत हो जबतक कोई और कारण खड़ा हो जायगा तो शास्त्रार्थ होना बचा रहे और आर्यों का अभिप्राय था कि साधारण बातों के लिये पत्रव्यवहार से कालक्षेप न हो और मुख्य शास्त्रार्थ का आरम्भ शीघ्र होवे ।

वह जैनियों का प्रथम संस्कृत पत्र यह है:—

यथा-(श्रीः)

श्रीमदार्यसमाजसभ्यैः फिरोजाबादनगरस्थजैनधर्मिकृतनव्युत्तरमदोऽवगन्तव्यम् ।

शराब्ध्यङ्केद्वितीयप्रथमचैत्रशुक्लपक्षगुर्वन्विततृतीयायां शास्त्रार्थो भविष्यती-
ति तत्र २ भवद्विरणितस्मुद्रितं च अतस्स पाङ्क्तवण्टाध्वननतः पाथोऽधिघण्टाध्व-
ननावध्यधैव कर्त्तव्यः पतन्तु शास्त्रार्थपदशक्यस्य शास्त्रीयवाक्यतात्पर्यावबो-
धनिर्णायकतया शास्त्राणां संस्कृतरूपत्वेन च परस्परसंस्कृतोत्पादपूर्वक एवं
शास्त्रार्थः कर्त्तव्य इत्यस्मदीयेऽस्मत् शास्त्रार्थानन्तरं शास्त्रार्थविषयः संस्कृते भाषायां
च जगद्वैदित्यज्ञेयः । शास्त्रार्थोपेक्षितजयाजयनिर्णेतृमध्यस्थविवेचनं समक्षतः
परस्पराभिलाषातोवानुष्ठेयः, एतावतैवालमल्पाङ्कनतोऽप्यभिप्रायावगन्तुं श्रेष्ठे ।

संवत् १९४५ प्रथम चैत्रशुक्ल
३ गुरुवारे

भवत्स्नेहिनः फीरोजाबादस्था
जैनधर्मावलम्बिनः

नियतसमयात्पूर्व पत्रोत्तराभिलाषिणश्च-
हः छेदालालजैन.

भाषार्थ—श्रीमान् आर्यसमाज के सभ्यों को फीरोजाबाद नगरस्थ जैनधर्मवालों ने
किये नमस्कार के पश्चात् यह जानना चाहिये कि सं० १९४५ के प्रथमचैत्र शुक्लपक्ष
तृतीया बृहस्पतिवार को शास्त्रार्थ होगा इस प्रकार उन २ शहर आदि में आप लोगों
ने कहा और छपाया है इससे वह शास्त्रार्थ १० बजे से ४ बजे तक आज ही कर
लेना चाहिये, परन्तु शास्त्रार्थपद का जो अभिप्राय है वह शास्त्रसम्बन्धी वाक्यों से निकले
तात्पर्य के बोध का निश्चय करानेवाला होने और शास्त्रों के संस्कृतरूप होने से
आपस में संस्कृतभाषण पूर्वक शास्त्रार्थ करना चाहिये यह हमारी इच्छा है, शास्त्रार्थ
के पश्चात् उसका विषय संस्कृत में और भाषा में अनुवाद कराके जगत् को विदित
करना चाहिये, जय पराजय का निश्चय करनेवाला एक मध्यस्थ विद्वान् शास्त्रार्थ में
अपेक्षित है उसका विवेचन सामने मिलकर वा परस्पर की इच्छा से होना चाहिये ।
इस थोड़े ही लेख से भी अभिप्राय जानने वालों में उत्तम ज्ञाताओं में समाप्ति है ।

समीक्षा—सब महाशयों को ध्यान रखना चाहिये कि पूर्वोक्त जैन धर्मियों का
संस्कृतपत्र कैसा है, इसमें शब्द, अर्थ और सम्बन्ध की कहां २ अशुद्धि हैं, सो यह
पत्र हमारे भ्रातृवर्गस्थ पं० जियालाल तथा पं० मिहिरचन्द्रजी की सहायता से लिखा
हुआ है क्योंकि इसका पूर्ण अनुमान इससे हुआ कि जैनों के पं० छेदालालादि
ने जो पत्र सभा में सबके समक्ष लिखे (जिनमें मिहिरचन्द्रादि की सहायता
नहीं ले सके) हैं उनमें इससे बहुत अधिक अशुद्धियां हैं । अथरूप अशुद्धियां तो

(६)

उनके भाषार्थ से ज्ञात हो जावेंगी (शराब्ध्यङ्के द्वन्दीय) यहां (द्वेन्द्र) ऐसा चाहिये अस्तु, छोटी २ बातों पर ध्यान न देकर बड़ी अंशुद्धि देखी (मध्यस्थ विवेचनं ० ० ० वा नुष्ठेयः) विवेचनं नपुंसक लिङ्ग का विशेषण अनुष्ठेयः पुलिङ्ग के साथ किया है संस्कृतज्ञ लोगों के समाने यह अशुद्धि छोटी नहीं है इससे यह अनुमान होता है यदि धनादि के लोभवश होकर—नास्तिक पक्ष की सहायता न करते तो पं० जियलालादि से ऐसी अशुद्धि होनी सम्भव न थी, ईश्वरविमुखों को सहायता देने से इन पर अन्तर्धामी ईश्वर की अप्रसन्नता हुई जिससे उनकी बुद्धि स्वस्थ न रही। नास्तिक जन अपने सब काम ईश्वर की सहायता से करते हैं। इस उक्त संस्कृत पत्र के उत्तर में आर्यसमाज का संस्कृत पत्र ही द्वारा उत्तरः—

ओ३म्

श्रीमज्जैनधर्मावलम्बिषु

भवतां पत्रं समागतं रात्रौ यन्निर्णीतं तस्मिन् विषये किमपि न लिखितं, शास्त्रार्थप्रबन्धकर्तारः पञ्चसज्जनाः पूर्वं नियोजनीयाः पश्चात्स्थानं निर्णेतव्यं यत्र शास्त्रार्थः स्यादिति। ततो यैर्नियमैः शास्त्रार्थः स्यात्तेऽपि निश्चेतव्याः। यत्र २ विषये शास्त्रार्थेन भवितव्यं सोऽपि लेख्य एव।

संवत् १९४५ चैत्रशु० ३.

हस्ताक्षराणि गंगाराम वर्मणः

फीरोजाबादस्थार्यसमाजामात्यस्य

भाषार्थ—श्रीमान् जैनधर्मावलम्बि योग्य—पत्र आपका आया रात को जो निश्चय हुआ था उस विषय में आपने कुछ नहीं लिखा। पहिले शास्त्रार्थ के प्रबन्धकर्त्ता पांच सज्जन पुरुष नियुक्त करने चाहियें, इसके पश्चात् जहां शास्त्रार्थ हो उस स्थान का निश्चय करना चाहिये, इसके अनन्तर जिन नियमों के अनुकूल शास्त्रार्थ हो उनका निश्चय करना योग्य है, जिस २ विषय में शास्त्रार्थ हो वह भी लिखना चाहिये।

इस पत्र के जाने पर जैनियों का द्वितीय पत्र जो संस्कृत में आया वह यह हैः—

श्रीमदार्थमतानुयायिनः

भवदीरितं पत्रमुपलब्धम्

शास्त्रार्थसमयः संस्कृतएव भविष्यतीति नियमः। मध्यस्थभवनप्रकारश्च पूर्वपत्रएव लिखितः मञ्जूलालप्यारेलालौप्रबन्धकर्त्तारौ जैनपाठशालास्थानं च हस्ताक्षराणिकारयितुमागतेभ्यो गंगारामवर्मभ्योऽवधि विषयनिर्णयश्च शास्त्रार्थ-

काले भविष्यति यतो वयं यूयञ्च न दूरस्थाः परन्तु समयनियममध्यस्थानां-
लिखितानामप्युत्तरं भवद्भिर्नालेखि । शास्त्रार्थलिखितसमयमतीत्यपत्रोत्तरप्रदाने
किं कारणम् ।

संवत् १६४५ १२ वजे दिन के ह० छेदालालजैनधर्मिणः
प्र० चै० शु० ३ वृ०

भाषार्थ—श्रीमान् आर्य्यमत के अनुयायियो ! आपका भेजा पत्र मिली शो-
क्षार्थ का समय वही होगा जो हम पूर्व संस्कृत में लिख चुके हैं और मध्यस्थ होने
का प्रकार भी पूर्व पत्र में लिख चुके हैं । हमारी ओर से मंजूलाल प्यारेलाल प्रब-
न्धकर्त्ता होंगे । शास्त्रार्थ का स्थान जैनपाठशाला होना चाहिये सो हस्तक्षर कराने
को आये गङ्गाराम वर्मा से कह दिया था । विषय का निर्णय शास्त्रार्थ होने के
समय हो जायगा क्योंकि हम और तुम दोनों दूर नहिं हैं, परन्तु समय, नियम
और मध्यस्थ विषयक उत्तर आपने नहीं लिखा । शास्त्रार्थ का समय जो १० वजे
का लिखा था उसके पश्चात् उत्तर देने में क्या कारण है ? ॥

इस पर आर्य्यसमाज की ओर से उत्तर (संस्कृत ही में)

ओ३म्

भावन्मारजित्कत्तान्तसदसदुदन्तालब्धगरिष्ठवरिष्ठाः

तत्र भवतां पत्रमातुङ्गितम् । श्रुतार्थानेहाः पूर्वभाविनियमेतरेतगोररीकृतानन्त-
रं वादिप्रतिवादिभ्यां समसातजनने चोरीकर्त्तव्यः जयाजयनिर्णेत कश्चिदपि
भवितकुं नार्हति कस्यचित्सार्वभौमसर्वपरीक्षकाधिगतयाथातथ्यार्थस्य पक्षद्व-
यवकिवेचनसामर्थ्याधिष्ठितत्वाभावात् । वादिप्रतिवादिनोल्लेखनद्वारास्पष्टीकृतो
विषयएव जयाजयसूचको भविष्यतीति मन्यध्वम् । यच्चोक्तं शास्त्रार्थकालएव
विषयो निर्णेत्य इति तन्न कुतः सति कुड्ये चित्रं भवतीतिवत् पूर्वमेव विषयो नि-
र्णेतव्यः । यच्चोल्लिखितं शास्त्रार्थसमयमतीत्योत्तरप्रदाने किं कारणमिति तत्त्व-
स्माभिरङ्गीकृतमन्तरैणात्ययनं वक्तुमशक्यम् ॥

प्र० चै० शु० ३ सं० ४५

ह० गङ्गारामस्य

भाषार्थ—श्रीमान् सहनशील सत्यासत्य को प्राप्त होनेवाले महाजनों में श्रेष्ठ
जैनधर्मावलम्बियो !

आप का पत्र आया, शास्त्रार्थ का समय पूर्व होने वाले नियम परस्पर स्वीकृत

होजाने के पश्चात् दोनों पक्षवालों की सम्मति से स्वीकार करना चाहिये, जय परा-जय का निश्चयकर्त्ता कोई निज मनुष्य नहीं हो सकता, कोई सब पृथिवी पर सर्वोपरि शास्त्री सत्यवक्ता पक्षपातरहित यथार्थभाव का ज्ञाता दोनों पक्षों का विवेचन करने में समर्थ अधिष्ठाता हो ब्रह्म मध्यस्थ हो सके सो सर्वगुणाकर पुरुष का मिलना प्रायः असम्भव होने से मध्यस्थ होना अधुनिक समय पर दुर्लभ है इसलिये वादिप्रतिवादि के लेखद्वारा स्पष्ट किया हुआ विषय ही जय पराजय का सूचक हो जायगा, अर्थात् उस लेख से अपनी २ बुद्धि के अनुसार दोनों पक्ष में बलावल समझ लेंगे। और जो आपने कहा कि शास्त्रार्थ होते समय विषय का निश्चय कर लेंगे सो मेरी अल्प बुद्धि से ठीक नहीं क्योंकि जब तक भित्ति (दीवार) न बन जावे उस पर चित्र चिह्न चिन्ह धरना बन नहीं सकता इसी प्रकार पहिले विषय का निश्चय कर लिया जाय तब उस पर शास्त्रार्थ का आरम्भ हो सकता है। और जो लिखा कि शास्त्रार्थ का समय होजाने बाद उत्तर देने में क्या कारण है सो जब केवल अपने पक्ष की सम्मति से तुम लोगों ने नियत किया और हम लोगों की उस पर कुछ सम्मति न हुई तो (इकतर्फी डिगरी हुई) हमारा पत्रोत्तर देना काल व्यतीतकर हुआ यह तुम्हारा कहना ठीक नहीं है।

इस पर जैनियों का जो तृतीय पत्र आया वह यह है कि:—

श्रीमदार्यमतानुसारिणः

द्वितीयपत्रद्वयघटात्रयकालात्ययउपलब्धम्

भवद्भिर्जयाजयनिर्णेतुमध्यस्थासम्भवोऽभाणि, लेखद्वारा जयाजयस्पष्टताङ्गीकृता शास्त्रार्थसमयात्पूर्वम्विषयनिर्णयश्चापेक्ष्यते शास्त्रार्थस्थानसमयसंस्कृतभाषाशास्त्रार्थविषयेकिञ्चिदपि नाऽभाषि, यदि विषयनिर्णयोत्तरमेव शास्त्रार्थचिकीर्षा तर्हि समाचारपत्रेषु विषयनिर्णयमन्तरा मुद्रापण्डकिंविचार्याकारिमध्यस्थासम्भवेशास्त्रार्थासम्भवः। लेखतः शास्त्रार्थस्य वादिप्रतिवादिनोर्विदेशस्थत्वेऽपि सम्भवेऽत्र तत्तत्समाजमन्यादीनां सङ्गमकृतेः किं प्रयोजनम्। तथापि यदि शास्त्रार्थचिकीर्षा तर्हि सप्तघण्टाध्वनिमारभ्यदशघण्टाध्वनिपर्यन्तं जैनपाठशालास्थान आगत्य कर्त्तव्यः त्रिषयोऽप्येतत्पत्रोत्तरे भवद्भिरेव लेख्यः, नोचेदलमृथा समयात्ययेन।

सं० १६४५ प्र० चै० शु० ३ व ४ वजे

ह० छेदालालजैनधर्मिणः।

भाषार्थ—श्रीमान् आर्यमतानुयायियो ! आपका दूसरा पत्र तीन घण्टा में मिला, आपने जयपराजय के निश्चयकर्त्ता मध्यस्थ का होना असम्भव कहा और लेखद्वारा जयपराजय स्पष्टता स्वीकार की और शास्त्रार्थ होने के पहिले विषय का निर्णय चाहते हो । शास्त्रार्थ का स्थान, समय तथा संस्कृत वा भाषा में होने के विषय में कुछ नहीं कहा जो विषय का निश्चय होने पश्चात् ही शास्त्रार्थ करने की इच्छा है तो समाचारपत्रों में विषय का निर्णय किये बिना क्या विचार के छपाया था (हमारा विचार है कि) मध्यस्थ का होना असम्भव है तो शास्त्रार्थ होना भी असम्भव, लेखद्वारा शास्त्रार्थ तो वादीप्रतिवादी के विदेशस्थ होने में भी हो जाना सम्भव है । फिर उस २ समाज के मन्त्री आदि के यहां एकत्र करने का क्या प्रयोजन था, तथापि यदि शास्त्रार्थ करने की इच्छा है तो ७ बजे से १० बजे तक जैनपाठशाला स्थान में आकर करना चाहिये । शास्त्रार्थ का विषय भी इस पत्र के उत्तर में आप ही लिखिये और यह न हो तो व्यर्थ समय न खोना चाहिये अर्थात् शास्त्रार्थ का नाम भी न लेना चाहिये ॥

विशेष—सब महाशयों को ध्यान देना चाहिये कि हमारे लेख में और इनके लेख में क्या भेद है । हमने लिखा था कि दोनों पक्ष की सम्मति से पहिले नियम स्थिर होजावें फिर शास्त्रार्थ के समयादि का विचार किया जावे सो नियमों के लिये तो कुछ उत्तर न दिया इसका कारण एक तो यह है कि जैनी लोग उस पत्र के अभिप्राय को यथावत् समझे ही नहीं और कदाचित् कुछ समझे भी हों तो शास्त्रार्थ करने से डरते हैं और बखेड़ा करके पीछा छुड़ाया चाहते हैं । शास्त्रार्थ का विषय समाचारपत्रों में छपाया तो उसका अभिप्राय यह कोई सिद्ध नहीं कर सकता कि बिना ही नियम और विषय के शास्त्रार्थ हो जायगा । ऐसा हो सब तो बिना कारण के भी कार्य होजाया करे जब कोई कहे कि मैं भुक्त समय भोजन बनाऊंगा तो उस पर ऐसा आक्षेप नहीं कर सकते कि भोजन बनाने की प्रतिज्ञा के समय यह क्यों नहीं कहा कि मैं आटा से भोजन बनाऊंगा । इस जैनियों के पत्र में कई अशुद्धि हैं जैसे अभाणि अभापि आदि स्थान में प्रयुक्त हैं (पूर्वस्मिन्विषय) (किम्बिचार्य) (दलम्बृथा) इत्यादि में परसवर्ण अनुस्वार को मकार लिखना सर्वथा अशुद्धि है क्योंकि ओष्ठ्य वकार के परे परसवर्ण हो सकता है दन्त्योष्ठ्य के परे नहीं होता । इत्यादि अनेक २ अशुद्धियां हैं ॥

इस पर आर्यसमाज की ओर से चतुर्थ उत्तरः—

ओ३म्

श्रीमत्सौमन्तमतावलम्बिषु ॥

भावत्कपत्रमागतंमालोक्येदमुत्तरमाविष्कियते शास्त्रार्थस्थानसमय, संस्कृतभाषाविषयकपत्रं प्राकृतभाषानिर्मितनियमेष्वविष्कृतं प्रस्माभिः समाचारपत्रेषु विचर्यनिर्णयमन्तरेणैव शास्त्रार्थो भवितुमशक्य इत्यत्र किं बाधकं गन्यते भावद्भिः । शास्त्रार्थः सम्मुख एव स्यात्तस्य लेखनं तु सर्वसाधारणोपकारार्थं परिणामनिष्कर्षार्थं च कर्तव्यमेव । समयेश्च भवद्भिर्लिखित एव स्वीक्रियतेऽस्माभिरपि । यदि तत्र भवन्तो वास्तवेन शास्त्रार्थं चिकीर्षन्ति तर्हि मुहुर्मुहुः पत्रगमनागमनेन किमपि प्रयोजनं नास्ति किन्त्वस्मिन्लिखितशास्त्रार्थविषयान्प्राकृतभाषानिर्मितनियमांश्च स्वीकुर्वन्तु यदि काचिन्प्रतिपत्तिः स्यात्तदाभिमतविषयनियमांश्च लिखित्वा प्रेरयन्तु । अद्यतु भवन्नियमितकाले शास्त्रार्थो भवितुमशक्यः । यतः कालादारभ्य सायं प्रातर्वाश्यो भविता स लेख्यो भवद्भिर्यतः पूर्वं वयमपि जानीयामेति शम् ॥

ह० गंगारामस्य, ४॥ बजे

भाषार्थ—श्रीमान् जैनधर्मियों के समीप निवेदन ।

आपका पत्र आया उसका उत्तर दिया जाता है, शास्त्रार्थ का स्थान, समय और संस्कृत वा भाषा में होने के विषयक उत्तर भाषा में बनाये नियमों में हैं जो आप के पास भेजे जाते हैं । समाचारपत्रों में हम लोगों ने ऐसा कहा छपाया है कि विषय निश्चय किये बिना शास्त्रार्थ होगा, विषय का निश्चय हुए बिना शास्त्रार्थ होना ही अशक्य है इसमें क्या आप कुछ बाधक समझते हो ? । शास्त्रार्थ सम्मुख ही होना चाहिये उसका लिखा जाना सर्वसाधारण के उपकारार्थ और परिणाम निकालने के लिये है । आप ने जो ७ बजे से १० बजे तक समय लिखा उसको हम लोग भी स्वीकार करते हैं ॥

यदि आप लोग वस्तुतः शास्त्रार्थ किया चाहते हो तो वार २ पत्रों के आने जाने से क्या प्रयोजन है ? , किन्तु हमारे लिखे शास्त्रार्थ के विषय और भाषा में बनाये नियमों को स्वीकार कीजिये, यदि कुछ विरुद्ध समझो तो अपने अभिमत विषय और नियमों को लिख कर भेजो । आज तो आप के नियत किये समय में शास्त्रार्थ होना अशक्य है पर कल प्रातःकाल वा सायंकाल जब से जब तक होना चाहिये सो आप लिखिये, जिससे हम लोग भी पहिले से जान लें और उद्यत रहें ।

इस उक्त पत्र के साथ शास्त्रार्थ के निम्नलिखित नियम और विषय जैनियों के पास भेजे गये थे:—

- १—शास्त्रार्थ में पांच पुरुष प्रबन्धकर्त्ता होने चाहियें, दो २ उभय पक्ष की ओर से रहें जिनको अपने २ पक्षवाले नियत करें एक प्रबन्धकर्त्ता सभापति मध्यस्थ हो जिसको दोनों पक्षताले सम्मति कर नियत करें ॥
- २—शास्त्रार्थ किसी मध्यस्थ के स्थान में व सरकारी स्थान में होवे अथवा अन्यत्र जिसको उभय पक्ष स्वीकार करे ॥
- ३—शास्त्रार्थ में दोनों पक्ष के बराबर मनुष्य हों, किन्तु सर्वसाधारण मनुष्य न आने पावें ॥
- ४—दोनों पक्ष वाले शास्त्रार्थ का विषय आरम्भ से पहिले अपनी २ ओर से लिख के एक दूसरे के हस्ताक्षर कराकर सभापति के पास रखें ॥
- ५—सभा में एक बार में एक ही वादी वा प्रतिवादी वाले अन्य कोई किसी के बीच में न बोलने पावे ॥
- ६—प्रश्न के लिये जितना समय रहे उससे चौगुना समय उत्तरदाता को मिले ॥
- ७—अपनी २ पक्ष की ओर से अधिक से अधिक पांच २ मनुष्य शास्त्रार्थ के लिये नियत करें ॥
- ८—जो २ विषय शास्त्रार्थ के लिये नियत हो उसके विरुद्ध पक्ष पर कुछ भी विषय बीच में न छेड़ा जावे ॥
- ९—यह शास्त्रार्थ अक्षर २ यथावत् तीन प्रति में लिखा जावे, दो प्रति दोनों पक्ष की ओर से और एक सभापति की ओर से लिखी जावे । उन सब प्रतियों पर प्रश्न वा उत्तरदाता के तथा सभापति के हस्ताक्षर बीच २ होते जावें ॥
- १०—शास्त्रार्थ दोनों पक्ष वालों की सम्मत्यनुसार संस्कृत में ही हो पर प्रश्न वा उत्तर लिखाने पश्चात् उसका आशय नागरी भाषा में अनुवाद कर सभा के सब मनुष्यों को सुना दिया जाया करे ॥
- ११—एक साथ में एक प्रश्न ही हो सकेगा उद्य पर उत्तर प्रत्युत्तर पांच बार वा दश बार से अधिक न होना चाहिये ॥
- १२—संस्कृत की अशुद्धि शुद्धि पर कुछ विचार आपड़े तो जिस शास्त्र के अनुसार निश्चय किया जावे उसको प्रथम नियत कर लें ॥

१३—शास्त्रार्थ जैनधर्मियों की इच्छानुसार दिन में वा रात्रि में हो पर चारघण्टे बाद उठने पर किसी पक्ष का पराजय न समझा जावेगा अर्थात् प्रतिदिन चार-घंटा से अधिक न होना चाहिये ॥

१४—उभय पक्ष के शास्त्रार्थकर्त्ता पण्डित लोग अपने मत को मानते अवश्य हों अर्थात् अन्यमतावलम्बि पुरुष अन्य की ओर से नियत न हो सकेगा ॥

१५—दोनों पक्ष वाले वादी प्रतिवादी प्रश्न वा उत्तर करने के लिये १० मिनट तक परस्पर सस्मृति कर सकेंगे ॥

१६—यदि कोई अपने पक्ष के वादी प्रतिवादी को बदला चाहे तो सभापति की आज्ञा से बदल सकेगा । सभापति की आज्ञा बिना सभा में कोई अन्य मनुष्य बीच में न बोल सकेगा ॥

शास्त्रार्थविषयाः ॥

१—अमन्यकर्तृकायाः सृष्टिः कर्त्ता सनातन ईश्वरः कश्चिदस्ति न वा ? ॥

२—जीवः कोऽस्ति तस्य चेश्वरेण कः संबन्धः ॥

३—चतुर्विंशतिस्तीर्थकराः केऽभूवन् किं च तेषां सामर्थ्यम् ? । कियत्परिमाणानि च तच्छरीराणि ? ॥

४—जीवरक्षा च क पर्यन्तं भवितुं शक्या ? ॥

५—रथयात्रा काऽस्ति किमर्थं च कर्त्तव्या ? ॥

६—अतस्मिंस्तद्वुद्धिमिथ्याज्ञानं तत्त्वज्ञानं वेति ? ॥

१—भाषार्थ—जिसका एक सर्वोपरि से भिन्न कर्त्ता नहीं हो सकता ऐसी सृष्टि का कर्त्ता सनातन ईश्वर कोई है वा नहीं ? ॥

२—जीव कौन है और उसका ईश्वर के साथ क्या सम्बन्ध है ॥

३—चौबीस तीर्थकर कौन हुए, उनका क्या २ सामर्थ्य था ? । और कितने २ बड़े उनके शरीर थे ? ॥

४—जीवरक्षा कहाँ तक हो सकती है ? ॥

५—रथयात्रा क्या है और किसलिये करनी चाहिये ? ।

६—और को और समझना मिथ्याज्ञान है वा तत्त्वज्ञान ? ।

इस पर जैनियों का जो पत्र आया वह यह हैः—

श्रीमदार्यमतानुयायिनः !

समक्षतो लेखनेन च प्रबन्धकर्त्रादिनिर्णयेऽपि युयत्नायांताः शास्त्रार्थनियत-

समयद्वयात्ययनञ्च कृतम्, इदानीं दशघण्टा ध्वनिता अतो यूयं शास्त्रार्थइकर्तुम-
समर्था इत्यनुमितमित्यलम् ।

संवत् १९४५ प्र० वै० शु० ३ वृ, १० वजे, ह० छेदालालजैनधर्मिणः

भाषार्थ—श्रीमान् आर्यमत्तानुयायियो ! सामने और लिखनेद्वारा भी प्रबन्धकर्त्ता
आदि का निश्चय होजाने पर भी तुम नहीं आये, शास्त्रार्थ के नियम किये दो समय
भी टाल दिये अब दश बज गये इससे तुम लोग शास्त्रार्थ करने में असमर्थ हो
यह अनुमान है ।

विशेष—इससे पहिले जो पत्र भेजा उसके साथ शास्त्रार्थ के नियम और विषय
लेकर मंत्री और श्रीचतुर्वेदी कमलापतिजी सभापति सेठ फूलचन्दजी के पास इस
अभिप्राय से गये कि पत्रों द्वारा नियमादि शीघ्र निश्चय होने कठिन हैं और ऐसा
ही झगड़ा रहा तो कल ता० १६ को भी शास्त्रार्थ न हो सकेगा, इसलिये सामने नियमों का
निश्चय शीघ्र होकर कल से शास्त्रार्थ होने लगे । मंत्री ने सेठजी से कहा कि आप इन
नियमों और विषयों को देख सुनकर सम्मति कर लीजिये इसपर भी उनके सहकारी
लोगों ने यही उत्तर दिया कि सब बातों का निश्चय पत्र द्वारा कीजिये । इसपर मंत्री
आदि ने बहुत कुछ कहा पर उन्होंने शिवाय लबड़धोंधों के प्रबन्ध की बात एक
भी नहीं मानी, इसके पश्चात् मंत्री आदि चले आये और नियम जो ले गये थे उनको
पत्र द्वारा भेजे उसका उन्होंने कुछ उत्तर न दिया और एक पत्र (पूर्वोक्त) फिर
लिख मारा जिसका हमारे पत्र से कुछ सम्बन्ध नहीं हमने लिखा उन्होंने उत्तर कुछ
और ही दिया (आम्रान् पृष्ठः कोविदारानाचष्टे) इस उक्त पत्र में लिखते हैं कि
“प्रबन्धकर्त्तादि का निश्चय हो चुका तो तुम नहीं आये” क्या हम लोग इनके
नौकर हैं जो इनके बुलानेमात्र से इनके घर पर शास्त्रार्थ के लिये चले जाते और प्र-
बन्धकर्त्तादि का निश्चय कहां हो चुका था ? क्या मिथ्या लिखते लज्जा नहीं आई ?
शास्त्रार्थ के मूलकारण नियमों पर तो अभी झगड़ा ही हो रहा है । विना ही नियमों
के शास्त्रार्थ का संमर्थ अपने मन माना लिख भेजा, क्या तुम्हारा लिखा समय राजाज्ञा
के तुल्य था जिसको हम निर्विवाद मान लेते (जो महाशय इसपर ध्यान देंगे उन-
को यथावत् ज्ञात हो जायगा कि जैन लोग विना नियमों के शीघ्र हल्ला गुल्ला कर
के अपना पीछा छुड़ाना चाहते थे) इसके पश्चात् इस उक्त पत्र का आर्यों को
ओर से उत्तर दिया गया—

श्रीमज्जैनमतानुयायिनः

पूर्वमप्यस्माभिरलोलिं नियमनिर्णयमन्तरा नैकान्ततस्तत्र भवन्ती ब्रूममर्हन्ति
यन्त्रियतसमयद्वयमतिक्रान्तमिति यदि नियमपत्रं स्वीकृत्य तत्र हस्ताक्षराणि कृत्वा
ब्रूयुस्तदा तु प्रमाणीकृतं स्यात् । यदि भवन्तः शास्त्रार्थं कर्तुमिच्छन्ति तर्हि सद्यो
नियमान् स्वीकृत्य हस्ताक्षराणि कृत्वा प्रेरयन्तु वयं चेदानीमेव शास्त्रार्थं कर्तुं सन्न-
द्भिः । यदि नियमान्तरेण कर्तुमिच्छन्ति तर्हि ज्ञायते न शास्त्रार्थं चिकीर्षन्तीति ।
अस्माभिश्च यत्नं प्रेरितं तस्योत्तरं किमपि न दत्तं तदिदानीं सद्योदातव्यमिति ।

हस्ताक्षराणि—

प्र० चै० शु० ३ सं० १९४५

गङ्गाशामवर्मणः फिरोजाबादस्थाय-
समाजामात्यस्य,

भाषार्थ—पहिले भी हमने लिखा था (कि सब से पहिले नियम स्थिर करना चा-
हिये तब समय नियत किया जावे) नियमों का निश्चय किये बिना एक अपनी ओर
से आप नहीं कह सकते कि तुमने दो समय टाल दिये, ऐसे तो हम भी कह सकते हैं
कि तुमने हमारे लिखे नियमों को टाला कुछ उत्तर नहीं दिया इससे तुम्हारा पराज-
य हुआ । यदि आप नियमपत्रों को स्वीकार कर हस्ताक्षर करके भेज देते तो हमारे
न आने का उल्टा मान भी लिया जाता । यदि आप शास्त्रार्थ करना वस्तुतः अ-
न्तःकरण से चाहते हैं तो शीघ्र नियमों को स्वीकार करके हस्ताक्षर कर भेजिये और
हम लोग इसी समय शास्त्रार्थ करने को तैयार हैं । यदि आप नियमों के बिना ही
हल्ला गुल्ला किया चाहते हो तो ज्ञात होता है कि शास्त्रार्थ करने की इच्छा भीतर से
नहीं है । हम लोगों ने जो पत्र भेजा था उसका उत्तर आपने कुछ नहीं दिया सो
उत्तर शीघ्र दीजिये ॥

यह उक्त पत्र जब भेजा गया तब इस पर जैनियों ने कुछ उत्तर नहीं दिया, उनकी
ऐसी लीला देखकर सामाजिक पुरुषों ने वस्ती के भद्रपुरुषों को बुलाकर सेठजी के पास
भेजा कि यदि आप लोगों को शास्त्रार्थ करना है तो नियमों को स्वीकार कर लीजिये
प्रयोजन यह था कि हम लोग जो नियमपूर्वक शास्त्रार्थ करना चाहते हैं उनको म-
ध्यस्थ होकर देख लीजिये कि वे नियम दोनों पक्ष की ओर एकसा सम्बन्ध रखते हैं
वा हमारा कुछ स्वार्थ है ? इसपर नागरिक मध्यस्थ लोगों ने हमारी उनकी बातें सुन
के और नियमादि देखकर सेठ फूलचन्दजी और अन्य जैनियों के पास जाकर कहा कि

आर्य लोग निष्पक्षपात होके नियमपूर्वक शास्त्रार्थ करना चाहते हैं आप लोग स्वीकार क्यों नहीं करते, इस पर जैन लोगों ने अनेक जगड्वाल की बातें कहीं जिससे शास्त्रार्थ के होने की कोई आशा न जान पड़ी और उन नागरिक भद्र-जनों को विश्वास हो गया कि जैन लोग शास्त्रार्थ करने से हटते हैं। ऐसा हाल देख के उन लोगों ने आर्यसमाज की उपस्थित सभा में आके स्वयमेव उच्चस्वर से कहा कि हमको ठीक निश्चय हो गया कि आर्यों के सामने जैन लोग शास्त्रार्थ नहीं कर सकते, किन्तु टालाटूली करते हैं, हम सब के सामने लिख सकते हैं कि आर्यों का जय और जैनों का पराजय हुआ। इस पर आर्यसमाज के लोगों ने उन सत्पुरुषों से एक पत्र लिखा के हस्ताक्षर करा लिये, वह पत्र यह है:—

हम सत्य परमात्मा को जानकर कहते हैं कि मैं आर्यों की तरफ से जैनियों के पास गया मैंने शास्त्रार्थ करने में जैनियों को इनकार पाया, हस्ताक्षर लक्ष्मीचन्द गुप्त,
ह० गुलजारीलाल,

ह० रघुवरदयाल,

और जितने आर्यजन एकत्रित हुए थे सबको विश्वास हो गया कि अब शास्त्रार्थ नहीं होगा कल अपने २ घर चलेंगे। यह सब समाचार ता० १५ मार्च को हुआ इसी रात्रि के १२ बजे तक समाप्त हुआ सब लोग सो गये।

ता० १६ मार्च ८८ ई० को प्रातःकाल आर्य लोग नित्यकृत्य शौच सन्ध्यादि करके आये तबतक शहर में हल्ला मच गया कि जैन लोग शास्त्रार्थ करने से हट गये बहुतेरे लोगों ने तो जैन सेठजी से जा २ कर कहा भी कि यह तो सहज में ही तुम पराजय करा बैठे तब तो सेठजी को बड़ा विचार पड़ा, इधर आर्यसमाज की ओर से भी दो एक पुरुष गये और सेठजी से कहा कि अब भी शास्त्रार्थ करावें तो ठीक २ निश्चय कीजिये नहीं तो हमारे पं० आज अपने २ स्थान को जावेंगे। इस पर सेठजी ने कहा कि हमारे अनुमतिकर्त्ता मंजूलाल प्यारेलालजी आज्ञा दें तब सलाह करके उत्तर दें पश्चात् सामाजिक जन चले आये, इसके पश्चात् सेठजी ने अपना उपहास जान शहर के दो एक मध्यस्थ पुरुष समाज में भेजे और उन्होंने कहा कि जैनी लोग शास्त्रार्थ करना चाहते हैं और विशेष कर मध्यस्थ नागरिक लोगों की सम्मति हुई कि जैनियों की ओर से सेठ फूलचन्दजी और आर्यों की ओर से पं० भीमसेन शर्माजी दोनों महाशय जैनपाठशाला में बैठकर नियमों को निश्चय कर लें और उनको दोनों पक्षवाले स्वीकार करें, जैन लोगों

ने भी यह स्वीकार कर लिया। सब की सम्मति से पं० भीमसेन शर्मा और च-
तुर्वेदी कमलापतिजी सभापति जैनपाठशाला में गये और सेठ फूलचन्दजी वहां
इसीलिये जाकर बैठे थे। वहां पहुंच कर दोनों की सम्मति से विशेष कर सेठ
फूलचन्दजी की सम्मति से नियम जो पहिले लिखे हुए थे उन्हें को काट बढ़ा के
ठीक किया और यह ठहरा कि इन नियमों की शुद्ध प्रति कुराली जावे सभा के
आरम्भ में पांचों प्रबन्धकर्त्ताओं के हस्ताक्षर भी हो जावें इस प्रकार बातें चर्चितें
होते २ दश बजे गये थे और बारह बजे से चार बजे तक शास्त्रार्थ ठहरा था, इस-
लिये उसी समय नकल होकर हस्ताक्षर नहीं हो सकते थे और शास्त्रार्थकर्त्ताओं को
भोजन भी करने थे। पश्चात् उन नियमों की शुद्ध नकल कराई गई और सब
ने भोजन किये तबतक शास्त्रार्थ का समय आगया ॥ मनुष्यों को शा० में जाने
के लिये टिकट बँट गये थे टिकट सेठजी की ओर से बाँटे गये थे उन नियमों को
लेकर ठीक बारह बजे दिन को आर्य लोग जैनपाठशाला में पहुंचे और जैन लोग
भी आये कोतवाल साहब कितने ही ग्रामदूतों के साथ प्रबन्धार्थ आये जब सब लोग
यथावस्थित बैठ गये तब यह प्रस्ताव आर्यों की ओर से हुआ कि जो नियम पं०
भीमसेन शर्मा और सेठ फूलचन्दजी ने नियत किये हैं वे सभा में सुना दिये जावें
तब इन नियमों के अनुसार कार्य होवे इस पर सभा की आज्ञा हुई कि नियम
सुना दिये जावें, वे नियम ये हैं:-

(१) सभाप्रबन्ध के लिये पांच पुरुष प्रबन्धकर्त्ता नियत हुए, आर्यों की ओर से
चौबे कमलापतिजी और पं० गंगाधर त्रिपाठीजी, जैनों की ओर से लाला
मंजूलालजी और लाला प्यारेलालजी और उभय पक्ष की ओर से एक
चौबे ज्वालाप्रसादजी सभापति, इन पांचों महाशयों को निम्नलिखित
नियमानुसार सभा का प्रबन्ध करना होगा।

(२) सभा में वे महाशय जायेंगे कि जिनके पास टिकट होगा पर वे सभास्थ
पुरुष दोसौ से अधिक न होंगे।

(३) प्रश्नोत्तर दोनों ओर से बराबर ही होने चाहियें प्रश्न के लिये पांच मिनट
और उत्तर देने के लिये २० मिनट समय नियत किया है और जबतक
एक प्रश्न पर पूरी वार्त्ता न हो जाय तब तक दूसरा विषय न छेड़ा जाय।

(४) उभय पक्ष की ओर से दो २ पण्डित शास्त्रार्थ में उपस्थित होकर वार्त्ता करें
अर्थात् आर्यों की ओर से पं० देवदत्तजी और पं० भीमसेनजी और जैनों

से पं० छेदालालजी और पं० पन्नालालजी इनसे भिन्न कोई न बोल सकेगा ।

(५) यह शास्त्रार्थ अक्षर २ यथावत् तीन प्रतियों में लिखा जायगा दो प्रति उभयपक्ष की ओर से, तीसरी सभापति की ओर से और इन तीनों प्रतियों पर उभयपक्ष के पं० और सभापति के हस्ताक्षर होने चाहिये ।

(६) शास्त्रार्थ दोनों पक्षों की संमत्यनुसार संस्कृत ही में होगा, परन्तु उसी जगह संस्कृत का अनुवाद करके नागरी भाषा में सब को सुना देना चाहिये ।

(७) शब्द की शुद्धाऽशुद्धि पर कुछ विशेष वार्त्ता वा विचार न किया जायगा सज्जन लोग छप जाने पर अपने आप ही जान लेंगे ।

(८) उभयपक्ष के शास्त्रार्थकर्त्ता अपने २ ही मत के माननेवाले हों अर्थात् अन्य मतावलम्बी पुरुष अन्य की ओर से न बोलेंगे ।

(९) उभयपक्ष वाले अपने २ वर्ग में १० मिनट से अधिक सम्मति न कर सकेंगे ।

(१०) शास्त्रार्थ जैनों की इच्छानुसार दिन में वा रात्रि में हो पर चारघंटे से अधिक प्रतिदिन न होगा, समय की पूर्ति पर उठने में जयाजय न समझना चाहिये ।

(११) ता० २० मार्च को शास्त्रार्थ बन्द रहेगा, कदापि साहब कलेक्टर बहादुर आज्ञा दें तो हो सकेगा ।

ये सब नियम सुनाये गये इस पर जैन लोगों ने अनेक शङ्का पैदा की और कहा कि ये नियम हमारे साथ नहीं नियत हुए, इस प्रकार परस्पर बहुत से झगड़े होते २ छूटे नियम पर अधिक विवाद हुआ इसका कारण यह था कि आर्य लोग कहते थे शास्त्रार्थ संस्कृत में हो और जैन लोग भाषा में होने का इठ करते थे । आर्य लोग संस्कृत में होने पर इसलिये बल देते थे कि जैन लोगों ने प्रथम ही पत्र में संस्कृत में होने की प्रतिज्ञा की थी उस समय जैनों ने समझा था कि हम अपनी ओर से पं० मिहिरचन्द और जियालाल (जिनको कुछ धन देकर लाये थे) से शास्त्रार्थ करावेंगे वस्तुतः जैनियों में कुछ भी संस्कृत विद्या का बल नहीं था परन्तु उनमें (निरस्तपादपे देशे एरण्डोपि द्रुमायते) जैसे वृक्षरहित देश में एरण्ड का वृक्ष भी बड़ा वृक्ष मालूम होता है वैसे छेदालाल पन्नालाल साधारण विद्यार्थियों के तुल्य कुछ २ संस्कृत जानते थे सो सेठ फूलचन्दजी ने भी इनके ऊपर शास्त्रार्थ का आरम्भ नहीं किया था किन्तु पंडित मिहिरचन्द और जियालाल (भाड़े के टट्टुओं) के भरोसे शास्त्रार्थ का बल बांधा था और इसी बल से संस्कृत में करने की प्रतिज्ञा लिखाई थी पर जब नियम स्थिर किये गये तब यह

निश्चय होगया कि अन्य पक्ष का पं० अन्य की ओर से मुख्त्यार बन के शा-
स्त्रार्थ न कर सकेगा अर्थात् जो २ पं० जिस २ की ओर से नियत हो वह उस
मत को यथावत् मानता हो इस नियम से भाड़े के पंडित तो निकल गये जब
जैनियों का भाड़े का बल टूट गया तब संस्कृत में शास्त्रार्थ करने से इनकार करते
थे और ऊपर से प्रसिद्ध करते थे कि सब लोग कुछ हंहीं समझेंगे इससे भाषा में
होवे । इसका उत्तर आर्य लोग देते थे कि संस्कृत की भाषा करके सभा में समझा
दी जाया करेगी और यह भी बल देते थे कि तुम लोगों ने प्रथम प्रतिज्ञा की थी इस-
लिये संस्कृत में ही होना चाहिये, इस प्रकार नियमों पर झगड़ा होते २ जैनि-
यों ने एक मध्यस्थ का झगड़ा छेड़ दिया इसपर दोनों ओर से बहुत विवाद
होता रहा । जैनियों की ओर से पं० छेदालाल ने कहा कि स्वामी विशुद्धानन्दजी,
श्रीधरजी तथा जो २ पं० आर्यसभाजी और जैनियों के मत में नहीं उनमें से
चाहे जो पं० मध्यस्थ कर लिये जावें जो शास्त्रार्थ लिखापढ़ी द्वारा हो सो उनके
पास भेज दिया जावे जिसके पक्ष को वे अच्छा बतलावें उसका पक्ष ठीक समझा
जावे । आर्यों की ओर से पं० भीमसेन शर्मा ने कहा कि प्रथम ऐसा पुरुष
मिलना ही दुर्लभ है कि जो सर्वथा निष्पक्ष और निर्लोभ होकर सत्य कहे, बहुधा
पं० लोग थोड़े २ धन के लोभ से ईसाइयों तक को अपने मत के खण्डनविषयक
पुस्तक बना देते हैं (जैसे पं० मिहिरचन्द्रादि यद्यपि जैनमत को मानते नहीं
तथापि धनलोभ से नास्तिकों की ओर से वेद का खण्डन करने आये हैं) तो किस
का विश्वास किया जावे ? और कदाचित् कोई निष्पक्ष पुरुष मिल भी जावे और
वह धर्मपूर्वक किसी एक पक्ष का पराजय कह देवे तो क्या उस समुदाय के लोग
सब उस पक्ष को छोड़ देंगे ? मेरी समझ में जैन लोग तो ऐसे हठीले हैं कि उन
के तीर्थंकर पार्श्वनाथ साक्षात् आकर जैन पक्ष को पराजित कहें तो भी न मानें-
गे । अर्थात् इस मध्यस्थ के झगड़े से यही प्रयोजन होगा कि हजार पांचसौ
रुपये खर्च करके अपने पक्ष के विजयका डंका पं० रूप बाजीगरों से बजवा देंगे ।
इस पर बहुत काल तक विवाद होता रहा और शास्त्रार्थ का आरम्भ न हुआ ।
आर्य लोग कहते थे कि पहिले नियम भले ही मत मानो किन्तु अब पंचों की
सम्मति से और नये नियम बना लिये जावें तथा मध्यस्थ कोई नहीं करना चा-
हिये तथा बिना नियमों के हम शास्त्रार्थ न करेंगे ।

जैन लोगों का कथन था कि हम नियम एक भी न मानेंगे और मध्यस्थ कोई

अवश्य होवे । ऐसे होते २॥ (अढ़ाई) घंटे बीत गये सभा के सब लोग व्याकुल होगये और मालूम हुआ कि सभा उठना चाहती है तब कोतवाल साहब ने कहा कि आज जिस पक्ष के लोग (चाहे किसी कारण से) शास्त्रार्थ न करेंगे उन्हीं का पराजय सम्झा जायगा । यद्यपि आर्यसामाजिक लोगों का विचार नहीं था कि बिना नियमों के ऊटपटांग शास्त्रार्थ किया जावे (अनुमान से ज्ञात होता है कि जैनी लोगों ने यह सम्मति करली थी कि आर्य लोग बिना नियमों के शास्त्रार्थ नहीं करेंगे इसलिये हम नियमों को तोड़ दें और कह देंगे कि आर्य लोगों ने शास्त्रार्थ नहीं किया इससे उनका पराजय होगया) तो भी अनिष्ट परिणाम देखकर विचार किया कि हम अब बिना ही नियमों के शास्त्रार्थ करेंगे, परन्तु कोतवाल साहब ने उर्दू में शास्त्रार्थकर्त्ता दोनों पक्ष के पण्डितों के नाम लिख लिये थे । इसके पश्चात् दोनों पक्ष वालों का विचार हुआ कि शास्त्रार्थ होना चाहिये तब (अहमहमिका) का झगड़ा हुआ कि पहिले कौन प्रश्न करे सभासम्मति से यह निश्चय हो गया कि दोनों पक्ष वाले साथ ही अपना २ प्रश्न लिख के अपने २ प्रतिपक्षियों को दें इस के अनुसार शास्त्रार्थ का प्रारम्भ हुआ ।

शास्त्रार्थ का प्रारम्भ प्रथम दिन ता० १६ मार्च सन्

१८८८ ई० प्रथमपत्र जैनियों का ॥

प्रथमप्रश्न—भोविद्वज्जनवर्याः जगद्धृत्तिपदार्थानां प्रमेयत्वं सर्वसाधारणं ॥
प्रमेयसिद्धेः प्रमाणाधीनत्वेन ॥ प्रथमं प्रमाणनिर्णयोऽपेक्षितः अतः तत्स्वरूपं किं ? ॥
कति च भेदाः कश्च तद्विषयः किञ्च तत्फलं तत्प्रामाण्यं स्वतः परतो वेत्यस्माकम्प्रश्नः ॥

ह० छेदालालजैनधर्मिणः

ह० पञ्चालालजैनमतानुयायिनः ।

भाषानुवाद—भो विद्वानो ! जगत् में वर्तमान पदार्थों का प्रमेय होना सर्वसाधारण (मिहिरचन्द्रकृत भाषानुवाद “पदार्थों को प्रमेय मानते हैं” ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान विषयक कोई क्रिया संस्कृत में नहीं है पदार्थ शब्द षष्ठ्यन्त है, उसको द्वितीयान्त करना ठीक नहीं केवल अस्ति-सामान्य क्रिया का अध्याहार हो सकता है) और उस प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के आधीन होने से पहिले प्रमाण का निश्चय अपेक्षित है, इसलिये उसका स्वरूप क्या है । उसके भेद कितने हैं, उसका विषय क्या है और उस प्रमाण का फल क्या है । उसका स्वतःप्रामाण्य स्वतःप्रामाण्य है यह हमारा प्रश्न है ॥

इसके साथ ही आर्यों की ओर से प्रथम विचारणीय प्रश्न दिये गये ।

प्रथमपत्र आर्यों का ॥

सुखमार्गान्वेषणार्था सर्वस्य प्राणभृतः प्रवृत्तिस्तत्प्राप्तिर्जनसम्प्रदायात्कथं सम्भवति । जिनशब्दस्य कः पदार्थो जैनशब्दस्यैव त्वानयोश्च कः सम्बन्धः । जिनशब्दवाच्यो यः कश्चिदभिमतोऽस्ति स नित्य आहोस्विदनित्यः । जिन-जैनपदार्थयोर्लक्षणं स्वरूपं च वक्तव्यमिति । तत्पूजनं सफलं विपरीतं वा यदि सफलं तर्हि किं फलकम् ॥

ह० भीमसेन शर्मणः

ह० देवदत्त शर्मणः

भाषानुवाद—सुख का मार्ग खोजने के लिये सब प्राणी प्रवृत्त हो रहे हैं उस सुख के मार्ग की प्राप्ति जैन संप्रदाय से कैसे हो सकती है । जिन और जैन शब्द से किस वस्तु का ग्रहण होता है अर्थात् जिन जैन का वाच्यार्थ क्या है और जिन तथा जैन का परस्पर (पितापुत्रादि) क्या सम्बन्ध है । जिन शब्दवाच्य जो कोई पदार्थ माना है वह नित्य है वा अनित्य ? जिन जैन इन दोनों पदों और इनके वाच्य अर्थों के लक्षण और स्वरूप कहो । उस जिनका पूजन सफल है वा निष्फल ? , यदि सफल है तो उसका क्या फल है ? ।

विशेष—यह पत्र लिखकर जैनियों को दिया गया और इससे पहिला जैनियों का पत्र आर्यों के पास आया । सब महाशयों को विचारना चाहिये कि आर्यों के पत्र का जो उत्तर जैनियों ने दिया है वह आर्यों के प्रश्न से क्या सम्बन्ध रखता है ? और साथ ही इस पर भी ध्यान रखें कि जैनियों के पत्र का जो आर्यों ने उत्तर दिया है वह प्रश्न से कितना सम्बन्ध रखता है ? ॥

आर्यों के प्रथम प्रश्न के उत्तर में जैनियों का दूसरा पत्र ॥

मानाधीनामेयसिद्धिरिति न्यायेन युष्मदुक्तपदार्थानां प्रमेयरूपत्वात्प्रथमं प्रमाणनिर्णयः आवश्यकः । तन्निर्णयाभावे मेयानां निर्णयो दुर्घटः अतएव प्रोक्तपूर्वपक्षस्य आदौ परामर्शो युक्तः ॥

ह० जेदालाल

ह० पन्नालाल

भाषानुवाद—प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के आधीन है इस न्याय से तुम्हारे कहे (जिनजैनादि) पदार्थों के प्रमेयरूप होने से पहिले प्रमाण का निर्णय होना आवश्यक है क्योंकि प्रमाण निश्चय के बिना प्रमेय का निश्चय होना दुर्घट है, इससे हमारे कहे पूर्वपक्ष का पहिले विचार करना चाहिये । इस पत्र में (ममेक्तिपूर्वपक्षस्य) यह बड़ीभारी अशुद्धि है, विद्वानों को इनका पाण्डित्य अच्छे प्रकार ज्ञात हो जायगा । इन पहिले दो पत्रों में बड़ी २ अशुद्धि कम हैं क्योंकि यह संस्कृत पण्डितों (मिहिरचन्द्रादि) ने पहिले ही लिखा दिया था कि तुम यह प्रश्न करना सो छेदालाल जैन ने सभा के बीच वह पर्चा निकाल के नकल कर दिया था और कुछ भूले तब मिहिरचन्द्र को पूछने लगे तब आचार्यों ने कहा कि यह शास्त्रार्थ आचार्यों और जैनियों का है यदि अन्य कोई पण्डित जैनियों को सहायता देवे तो उचित होगा कि प्रथम यज्ञोपवीत उत्तार के जैनी बन जावे । इस पर मिहिरचन्द्र चिढ़ कर बोले कि मैं जैनियों की ओर नहीं किन्तु दोनों को पतित समझता हूं । परन्तु यह विचार न किया कि धर्मशास्त्र के अनुसार (संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्) वैदिकधर्म से पतित जैनियों के साथ वर्षों से आचरण करने वा उनका धान्य खाने से मैं भी पतित होगया हूं । यदि धर्मशास्त्रों को विचारते और अपने को पतित समझ लेंते तो क्यों दूसरों को पतित कहते ? । एक चोर दूसरे चोर को चोर नहीं कह सकता, चोर चोर मौखियाते भाई होते हैं । इससे मिहिरचन्द्र का अभिप्राय यह था कि मैं किसी की ओर नहीं दोनों को पतित समझता हूं, परन्तु रुपये की ओर हूं क्योंकि रुपया पतित नहीं है उसीसे प्रयोजन है । अब आचार्यों ने जैनियों के प्रथम पत्र का जो उत्तर दिया है उसको ध्यान देकर प्रश्न के अक्षरों से मिलाइये ।

जैनियों के प्रथमपत्र के उत्तर में आचार्यों का दूसरा पत्र ॥

अपदं न प्रयुञ्जीत इति शब्दशास्त्रनियमात्, अपदत्वं च विभक्तिरहितत्वं सुप्तिङन्तं पदमिति शासनात् प्रथमप्रश्न इति लेखोऽपभाषणम् । यदि जगद्बृत्ति-पदार्थानां सर्वसाधारणं प्रमेयत्वं तर्हि प्रमाणस्यापि सर्वसाधारणभावेन प्रमेय-त्वात्प्रमाणविषयकः प्रश्नः प्रमेयान्तर्गतत्वात्साध्यसमहेत्वाभासः । अस्य च प्रमा-णविषयकप्रश्नस्य जगद्बृत्तिपदार्थान्तर्गतत्वान्नेयत्वसिद्धिरिति ज्ञातत्वादङ्गीकृत-मेव प्रमाणपूर्वकव्यवहारकरणात् । अतश्च तद्विषयकः प्रश्नः सर्वसाधारणप्रमे-

यत्वे सिद्धे व्यर्थ एव । तज्ज्ञेदाश्च यथाशास्त्रं द्वौ त्रयश्चत्वारोऽष्टौ वा प्रमाणफलं च व्यवहारपरमार्थयोः सिद्धिः, तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च ।

ह० भीमसेन शर्मणः

ह० देवदत्त शर्मणः

भाषानुवाद—व्याकरण शास्त्र का यह नियम है कि जिसमें विभक्ति नहीं ऐसे अपद शब्द का प्रयोग न करे पद उसको कहते हैं जिसके अन्त में सुप् और तिङ् हो, इस कारण “प्रथम प्रश्न” यह शब्द व्याकरण से विरुद्ध होने से “प्रथमप्रासे मक्षि-कापातः” के तुल्य लिखा गया है क्या इसी पाण्डित्य के आश्रय से जैनी लोग संस्कृत में शास्त्रार्थ करना चाहते थे ? । इस पर पं० मिहिरचन्द्र लिखते हैं “एक विसर्गमात्र की अशुद्धि है” क्या व्याकरण में विसर्गमात्र की अशुद्धि कम होती है ? । कोई पाण्डित किसी विद्यार्थी से बोले कि हम तुम्हारी परीक्षा करेंगे विद्यार्थी ने कहा—महाराज मेरी परीक्षा तो आप करेंहीगे पर आप की तो परीक्षा परीच्छा शब्द से पहिले ही होगई, वही वृत्तान्त पं० मिहिरचन्द्र का हुआ कि जिनको विसर्ग, व्यवहार, विषय आदि शब्दों में यह भी नहीं मालूम कि इनमें कौन वकार लिखना चाहिये इससे इनकी भी परीक्षा होगई और सब को ज्ञात होजावेगा । क्या इसी पाण्डित्य के भरोसे अपने को अर्थ-शास्त्रज्ञ होने का दम्भ करते हैं अस्तु, यदि जगत् में वर्तमान सब पदार्थों को प्रमेयत्व है तो क्या जगत् में वर्तमान सब पदार्थों में प्रमाण नहीं समझा जावेगा ? , जब जगत् के सब पदार्थों में प्रमाण भी एक पदार्थ होने से पदार्थत्व सामान्य से प्रमाण भी प्रमेयरूप में आगया तो उसके भी प्रमेय होजाने से प्रमाण रहा ही नहीं फिर उसका प्रश्न करना कभी ठीक नहीं है । जब प्रमाण को साध्य पक्ष में लेकर उसको निर्णय किया चाहते हो तो उसके निर्णय करने में जो कुछ प्रमाण कहोगे वह सब साध्य पक्ष में आजाने से प्रमेय हो जायगा क्योंकि तुम सर्वसाधारण पदार्थों का प्रमेय कह चुके हो तो तुम्हारा प्रमाण विषयक प्रश्न भी सब पदार्थों के अन्तर्गत होने से जानने योग्य है । इससे तुम्हारा प्रश्न जाना हुआ नहीं रहा अर्थात् तुम्हारे प्रश्न को यदि तुम सब पदार्थों में मानते हो तो विचारणीय पक्ष में आगया । यदि कहो कि हमको अपने प्रमाण विषयक प्रश्न में सन्देह नहीं तो अपने प्रश्न को प्रमाणरूप मान लेने से तुमने प्रमाण को निश्चित समझ लिया फिर प्रमाण में सन्देह न रहने से प्रमाणविषयक प्रश्न नहीं बनता । यदि तुमको प्रश्न में भी सन्देह होता तो प्रश्न ही न करसकते अर्थात् संसार में जो कुछ व्यवहार होता

है वह सब प्रमाणपूर्वक है जब भोजन करते हैं तब भी नेत्रादि से निश्चय कर लेते हैं कि यह अन्न है इससे चुधा की निवृत्ति होकर सुख होगा इसलिये भोजन करें, यदि सन्देह हो कि यह हमारे भोजन योग्य अन्न है वा नहीं तो भोजन करना भी न बने। मनुष्य जिसको नेत्रादि प्रमाणों से अपने सुख का साधन समझ लेता है उसको ग्रहण करता और जिसको दुःख का हेतु जानता है उससे सदा बचा करता है। इत्यादि सब व्यवहार प्रमाणपूर्वक होता है तो तुम्हारा प्रश्न भी प्रमाणपूर्वक होने से तुमने प्रमाण को जानलिया फिर प्रमाणविषयक प्रश्न नहीं बन सकता अथवा प्रश्न नहीं बनता तथापि उत्तर देते हैं कि पृथक् २ शास्त्रकारों की शैली के अनुसार प्रमाण के भेद दो, तीन, चार और आठ हैं। प्रमाण फल व्यवहार परमार्थ की सिद्धि है उस प्रमाण का निश्चय स्वतः उसी से और परतः अन्य से भी होता है ॥

इस आख्यो के द्वितीयपत्र के उत्तर में

जैनियों का तीसरा पत्र ॥

जगद्वृत्तिपदार्थानां सर्वसाधारणं प्रमेयत्वं तर्हि प्रमाणस्यापि सर्वसाधारणभावेन प्रमेयत्वात् । प्रमाणविषयकः प्रश्नः प्रमेयान्तर्गतत्वात्साध्यसमहेत्वाभासरिति भवद्भिरपरामर्शत्वेनोन्लेखोऽयं कुतः कुतः प्रमाणस्य तु विषयीरूपत्वात् प्रमेयाणां विषयरूपत्वाच्च प्रमाणरूपत्वेन प्रमाणस्य न प्रमेयत्वं अन्यथा लक्षणस्यापि लक्षाक्रान्तत्वेन दूषणगणवाणप्रहारपातात् किञ्च प्रमाणपूर्वकव्यवहारकरणात् तद्विषयकः प्रश्नः सर्वसाधारणप्रमेयत्वे सिद्धे व्यर्थ एव । एतदप्ययुक्तं कुतः यदि अस्मत्स्वीकृतं मतं प्रमाणं तर्हि भवन्तोप्यङ्गीकुर्वन्तु नोचेत्समायातो विचारः सोऽपि प्रमाणाधीनः अतः प्रमाणविषयकः प्रश्नः सार्थिकः किञ्च तद्भेदाश्च यथाशास्त्रं द्वौ त्रयश्चत्वारोऽष्टौ च इदमप्यविशेषेण लेखनं कस्मिन्शास्त्रे इमे भेदाः केन प्रकारेण उद्दिष्टाः अपि च प्रमाणविषयोऽनोक्तः किं तर्हि अस्तित्वा नवेति स्पष्टतयोल्लेखनीयं । प्रमाणफलं च व्यवहारपरमार्थयोः सिद्धिः इत्यनेनापि प्राप्तः प्रमाणनिर्णयः तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च इत्यनेनानैकांतको हेत्वाभासः निर्वेक्षितोक्तत्वात् ॥

ह० छेदालालजैनधर्मिणः

ह० पन्नालाल जैनमतानुयायिनः

भाषानुवाद—आपने यह कहा कि जगत् में वर्तमान पदार्थों को साधारण रीति से प्रमेयत्व है तो प्रमाण भी सब में आगया इससे प्रमेय हुआ तो प्रमाणविषयक प्रश्न

प्रमेयान्तर्गत होने से साध्यसमहेत्वाभास हुआ यह आप का लिखना बिना विचारे है क्योंकि प्रमाण विषयरूप और प्रमेय विषयरूप है प्रमाणरूप से प्रमाण को प्रमेयत्व नहीं अन्यथा लक्षण को भी लक्ष्यत्व होने से अनेक दूषण आजायंगे और यह भी आपका कहना अयुक्त है कि प्रमाणपूर्वक व्यवहार के करने से प्रमाणविषयक प्रश्न सर्वसाधारण प्रमेय होने से व्यर्थ है क्योंकि जो हमारे स्वीकृतमत को प्रमाण मानते हो तो अङ्गीकार करो जो नहीं मानते हो तो विचार करने का अवसर आया इससे प्रमाण-विषयक हमारा प्रश्न सार्थक है और उसके भेद शास्त्रके अनुसार दो २, तीन ३, चार ४वा आठ हैं यह लोख भी विशेषरहित संदेहरूप है क्योंकि यह नहीं लिखा कि किन शास्त्रों में यह भेद है और किस प्रकार से कहे हैं और प्रमाणविषय नहीं कहा वह है या नहीं, स्पष्ट कहो और प्रमाण का फल व्यवहार परमार्थ की सिद्धि कहा सो इस आपके कथन से भी प्रमाण का निर्णय प्राप्त हुआ और उसका प्रामाण्य स्वतः परतः होता है इस आपकी उक्ति को निरपेक्ष होने से अनैकान्तिक अर्थात् व्यभिचारी हेत्वाभास की नाई स्वतः परतः की साधकता नहीं हो सकती ।

विशेष—जैनियों के इस पत्र में कई अशुद्धियाँ हैं, जैसे—१—हेत्वाभासरिति । २—विषयरूपत्वात् । ३—लक्षाक्रान्तत्वेन । ४—सार्थिकः । ५—उद्दिष्टाः । ६—नैकान्तकः । ७—भवन्तोऽप्यंगीकुर्वन्तु । इन तीन शब्दों में तीन अशुद्धियाँ हैं । यदि कोई लिखने में अक्षर छूट जाता है तो उससे पण्डिताई में हानि नहीं समझी जाती सो ऐसी अशुद्धियाँ नहीं गिनाई है । इन उक्त अशुद्धियों के अनन्तर इनके पत्र में अन्य भी अशुद्धियाँ हैं जिनसे जैन पण्डितों की पण्डिताई प्रकाशित हो जावेगी ॥

इसके आगे जैनियों के द्वितीयपत्र के उत्तर में

आर्यों का तृतीय पत्र ॥

सर्वव्यवहाराणां प्रमाणपूर्वकत्वमप्रमाणपूर्वकत्वं वा । यदि प्रमाणपूर्वकत्वं तर्हि भवत्प्रश्नस्यापि सर्वव्यवहारान्तर्गतत्वात्संशयाभावेनानर्थकः प्रश्नः । यदि चाप्रमाणपूर्वकत्वं तर्हि भवत्प्रश्नस्यायोग्यत्वम् । यद्यस्मदुक्तपदार्थानां मेयत्वं भवद्भिः स्वीक्रियते तर्हि जिनपदस्य तदर्थस्य च साध्यत्वाद्भवन्मतमूलमेव साध्यं न तु सिद्धमित्यतो भवदनुमतौ सर्वस्य साध्यत्वात् प्रमाणाभावेन प्रमेयाभावः ।

ह० भीमसेनशर्मणः

ह० देवदत्तशर्मणः

भाषानुवाद—सब व्यवहार प्रमाणपूर्वक होते हैं वा अप्रमाणपूर्वक ? अर्थात् सोच समझ के मनुष्य कार्य करने में प्रवृत्त होते हैं वा अन्धाधुन्ध उन्मत्त के समान । यदि कहो कि प्रमाण से व्यवहार होते हैं तो आपका प्रश्न भी सब व्यवहारों में होने से प्रमाणपूर्वक हुआ अर्थात् आपने अपने प्रश्न को प्रामाणिक माना तो तुम्हारे प्रमाण का बोध होगया अर्थात् प्रमाण का बोध था तब ही तुम प्रश्न कर सके तो प्रमाण में संदेह न होने से तुम्हारा प्रमाण विषय प्रश्न करना सर्वथा व्यर्थ हुआ । यदि कहो कि बिना प्रमाण के व्यवहार होते हैं तो तुम्हारा प्रश्न भी अप्रामाणिक होने से अयोग्य है । और यदि हमारे प्रथमपत्र में लिखें जिन जैनोदि पदार्थों को तुम प्रमेय अर्थात् विचारपक्ष में लाने योग्य मानते हो तो जिनपद और उसके वाच्यार्थ के साध्य होने से तुम्हारे कथनानुसार ही तुम्हारे मत का मूल साध्य होगया किन्तु सिद्ध नहीं रहा इससे यह आया कि तुमको अपने जैनमत पर विश्वास नहीं यदि विश्वास होता तो उसको प्रामाणिक मानते जब प्रामाणिक मान लेते तो प्रमाणविषय में संदेह न होने से प्रश्न क्यों करते जब तुमको अपने मत के प्रामाणिक होने का विश्वास नहीं तो अन्य मत पर कैसे विश्वास हो सकता है ? । इसलिये तुम्हारे मत में सभी साध्य होने से प्रमाण कोई वस्तु न रहा क्योंकि प्रमाण वही कहाता है कि जिससे विषय का निश्चय हो और जिस विषय को उस प्रमाण से निश्चय करें वह प्रमेय कहाता है सो जब प्रमाण ही न रहा तो प्रमेय का ठहरना भी दुस्तर है ।

यह पहिले दिन ता० १६ मार्च का शास्त्रार्थ समाप्त हुआ सब अपने २ घर को चले गये । उसी दिन आचार्यों को चिन्ता रही कि अब कल कब शास्त्रार्थ होगा उस का समय पहिले से नियत होना चाहिये परन्तु जैन लोगों को कुछ भी फिकर न थी और पहिले दिन के शास्त्रार्थ से जैनियों को तथा अन्य श्रोताजनों को बलाबल भी ज्ञात होगया था इससे जैनियों की भीतरी इच्छा नहीं थी कि दूसरे दिन शास्त्रार्थ हो पर अपनी ओर से बन्द करने में भी प्रसिद्ध पराजय हुआ जाता था क्योंकि जैनियों के प्रतिपक्षी आठों प्रहर कटिवद्ध हो रहे थे इस कारण आचार्यों की ओर से कई बार संदेशा जाने से जैनी लोगों को ता० १७ को शास्त्रार्थ स्वीकार करना पड़ा और ता० १७ को भी उसी समय से शास्त्रार्थ का आरम्भ हुआ । पर ता० १६ को आचार्यों ने जो तीसरा पत्र अन्त में दिया था उसका उत्तर जैनियों को देना था और जैनियों के तृतीयपत्र का उत्तर आचार्यों को देना था

आचार्यों का पत्र जैन लोगये थे और जैनियों का पत्र आर्य लोगये थे और अपने २ घर विचारपूर्वक उत्तर लिखकर लाये जैनियों को उत्तर लिखने के लिये घर पर अन्य मतावलम्बी पं० लोगों की सहायता मिल गई जिससे अच्छे प्रकार लिखा ॥

द्वितीय दिन ता० १७ मार्च आचार्यों के तृतीयपत्र

के उत्तर में जैनियों का चौथा पत्र ॥

श्रीनन्दः यदुक्तं सर्वव्यवहाराणां प्रमाणपूर्वकत्वमप्रमाणपूर्वकत्वं वेत्युक्तं । नायं नियमः सर्वव्यवहाराणां प्रमाणपूर्वकत्वमप्रमाणपूर्वकत्वं वा कस्मात् व्यवहाराणां वैलक्षण्येयात् । प्रश्नस्यानर्थक्यन्तु वक्तुमसक्यं । येन व्यवहाराणां प्रमाणपूर्वकत्वं तत्प्रमाणं किमिति प्रश्नस्य सार्थक्येयात् ॥ नास्माकं प्रमाणस्वरूपादौ संशयः । यूयं जानीथ नवेति पृच्छते । अस्मत्प्रश्नविषयस्य सर्वशास्त्रसंमतत्वेन नायोग्यत्वं । अस्मन्मतविषये भवजिज्ञासितपदार्थानां यथा मेयत्वं तथा सर्वेषां पदार्थमात्राणां मेयत्वमस्माभिरंगीक्रियते परन्तु यन्मेयं तत्साध्यमिति न व्याप्तेरभावात् इत्यनेन यद्यस्मदुक्तपदार्थानाम्मेयत्वं भवद्भिः स्वीक्रियते तर्हि जिनपदस्य तदर्थस्य च साध्यत्वाद्भक्तुमसक्यमेव साध्यं नतु सिद्धमित्युक्तं तदपि निर्मूलं ॥ अपि च मेयं च किं प्रमाणाधीनमिति प्रश्नावकाशः ॥ अन्ततो गत्वा भवद्भिरपि प्रमाणाभावेन प्रमेयाभावः इति लेखकृद्भिः प्रमाणं त्वंगीकृतं परन्तु पृष्ठसविशेषप्रमाणस्वरूपादिकम् वक्तुमसमर्थाः इत्यस्माभिरवगतम् ।

ह० छेदालाल जैनधर्मिणः

ह० पन्नालाल जैनधर्मिणः

भाषानुवाद—आपने जो कहा कि सब व्यवहार प्रमाणपूर्वक हैं या अप्रमाणपूर्वक यह आपका कहना अयोग्य है क्योंकि यह नियम नहीं है कि सब व्यवहार प्रमाणपूर्वक ही होते हैं या अप्रमाणपूर्वक क्योंकि व्यवहार विलक्षण हैं अर्थात् कोई प्रमाणपूर्वक कोई अप्रमाणपूर्वक होते हैं तो और हमारे प्रश्न को तो अनर्थक आप नहीं कह सकते क्योंकि जिस व्यवहार को प्रमाणपूर्वकता है वह प्रमाण क्या, इससे हमारा प्रश्न सार्थक है और हमको तो प्रमाण के स्वरूपादि में संशय नहीं है, पूछते इसलिये हैं कि आप भी उसको जानते हैं या नहीं हमारे प्रश्न का विषय सम्पूर्ण शास्त्रों को सम्मत इससे अयोग्य नहीं है हमारे मत के विषय में जिन पदार्थों के जानने की आपकी इच्छा है वे जैसे प्रमेय हैं उसी रीति से हम सम्पूर्ण पदार्थों को

प्रमेय मानते हैं परन्तु जो मेय है वह साध्य अवश्य होता है यह नहीं कह सके क्योंकि व्याप्ति का अभाव है इसी लेख से आपने कहा कि जो हमारे कहे हुए पदार्थों को तुम प्रमेय मानते हो तो जिन पद और उसका अर्थ भी साध्य हुआ इससे तुम्हारे मत का मूल साध्य है सिद्ध नहीं यह आपका कहना भी निर्वल है और जैन प्रमाण के आधीन है इससे हमारे प्रश्न का अवकाश है और अन्त में आपने भी प्रमाण के बिना प्रमेय का अभाव होता है यह लिख कर उस प्रमेय की सिद्धि का कारण तो प्रमाण को माना परन्तु हमारे पीछे हुए प्रमाण के पृथक् २ स्वरूप आदि को आप कहने को समर्थ नहीं यह हमने जान लिया ।

विशेष—यह पत्र लिखकर लाये और जैनियों ने सभा के आरम्भ होते ही सब की सम्मति से सभा में सुनाया और कितनी ही बातें अपनी इच्छानुसार ऊपर से कहीं पीछे आचार्यों की ओर से पण्डित देवदत्त शास्त्रीजी ने भी अपना लिखा उत्तर सुनाया और कुछ उस पत्र के सम्बन्ध में कहा इस पर छेदालाल जैन फिर खड़े होकर कहा इस पर भीमसेन शर्मा ने कहा, जैनियों को सभा के आरम्भ में कहने के लिये समय दिया गया इस पर तो जैनी प्रसन्न थे पर जैव आचार्य पण्डित बोल चुके तब फिर भी पीछे बोलना चाहें तब आचार्य पण्डितों ने कहा कि तुम जितनी बार बोलोगे, उतनी बार हम तुम्हारे पीछे अवश्य बोलेंगे । अन्त में यह हुआ कि दूसरे दिन अन्त में आचार्य पण्डितों ने उनके उत्तर देकर जैनमत की पोल खोलने का प्रारम्भ किया (जिसको प्रमाण प्रमेय का झगड़ा डाल के अपने मत की गोलमाल पोलपल को दबाते थे कि हमारे मत पर विचार न चलनेपावे) तब तो जैनियों के मुख पर सफेदी आनेलगी इस दूसरे दिन के शास्त्रार्थ को जैन पण्डितों ने इस विचार से बोल चाल अर्थात् लिखा पढ़ी न होकर भाषा में बोलने में टाला था कि हमारे संस्कृत की अशुद्धियां सभा में प्रकट हो चुकीं फिर लिखेंगे तो और भी अशुद्धियां निकलने से विशेष धूर होगी इसलिये भाषा में बोलकर समय पूरा करें परन्तु आचार्यों की इसमें भी चढ़ बनी अर्थात् प्रमाण विषय में यथावत् वर्णन किये पीछे जैनमत की अच्छे प्रकार सभा को पोल दिखाई । पहिले दिन के शास्त्रार्थ से जैनियों ने अपने मत की हानि देखकर शास्त्रार्थ के स्वीकारकर्त्ता जैनपक्षी सेठ फूलचन्दजी को अनेक जैनों ने जा २ कर धमकाया और कहा कि तुमने यह रोग हमारे और अपने पीछे क्यों लगा दिया ? हमारा मत जैसा है वैसा मानते हैं इस

प्रकार अनेक जैनियों ने फूलचन्दजी को लज्जित किया इससे सेठ फूलचन्दजी दूसरे ही दिन से बीमार होकर घर में पड़ रहे और दूसरे दिन से सभा में नहीं आये थे । इस बात का अनेक सज्जनों को पूरा अनुभव होचुका है कि जैन लोग अपने मत की ज़रूरी से ऐसे डरते हैं कि जैसे कोई काल से डरे । इससे प्रकट है कि जैनियों के मत में अत्यन्त पोल है । इस दूसरे दिन के शास्त्रोक्त में प्रथम जैनियों ने अपना पत्र सुनाया तत्पश्चात् आर्यों ने चौथा पत्र सुनाया ।

आर्यों का चौथापत्र जैनियों के तृतीयपत्र के उत्तर में ॥

ओ३म्-तृतीयसङ्ख्याके पत्रे नवाशुद्धयः प्रतीयन्ते ताश्च शब्दशास्त्रबोधाभावेन जात इति निश्चितमेव । इदञ्च तृतीयपत्रं पूर्वमेव दत्तोत्तरम् । पुनश्चतदुपरि लेखः पिष्टपेषणवत्प्रतिभाति । तथापीदं ब्रूमः । यदि विषयिरूपस्य प्रमाणस्य स्वस्वरूपादचाञ्चल्यं तर्हि जिनजैनादिपदार्थानां विषयिरूपत्वं विषयरूपत्वं वा किं भवद्भिरङ्गीक्रियते ? । यदि विषयिरूपत्वमूरीक्रियते तन्न युष्मदुक्तपदार्थानां प्रमेयरूपत्वात्, इति पूर्वलेखेन विरुध्यते यदि च विषयरूपत्वं तर्हि जिनजैनादिपदार्थानां साध्यत्वात् भवन्मतमूलं युष्माभिरेवाप्रमाणीभूतं स्वीकृतमिति निग्रहस्थानप्राप्तिः । अस्मन्मते तु प्रमाणस्य प्रामाण्यं स्वतः परतश्चेति मत्वा न कश्चिदोप इति । इदानीं च प्रमाणविषयको विचारः समाप्त इति भवत्प्रश्नस्यावकाशाभावः ।

अस्माभिरचादौ यः प्रश्नः कृतोऽस्ति तस्योत्तरं भवद्भिः किमपि नो दत्तं तस्योपरि विचारः सर्वस्मात् पूर्वकर्तुं युक्तस्तस्य प्रयोजनरूपेण निमित्तीभूतत्वात् । जैनमतमूलं सप्रमाणकमप्रमाणकं वेत्यादिविचारे प्रवृत्ते जैनमतसमीक्षणं प्रमाणेनैव भविष्यतीति प्रमेयरूपाज्जैनसम्प्रदायात्पूर्वं प्रमाणं सेत्स्यत्येवेति । तत्रेदं विचार्यते-यदि जिनपदार्थः कश्चित्सनातनः सर्वज्ञो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो नित्यैश्वर्यसम्पन्नस्तर्हि तस्यैव सनातनसर्वनियन्त्रीश्वरस्य सिद्धावनीश्वरवादो निरस्तः । यदि च कश्चित्कालविशेषोत्पन्नो जिनपदार्थोभिधेयस्तर्हि तस्याधुनिकस्यानित्यत्वात्सर्वज्ञत्वादिगुणासम्भवेन तदुपासनमश्रेयस्करमित्यादयो दोषाः ।

ह० भीमसेन शर्मणः

ह० देवदत्तस्य

भाषानुवाद-तीसरे पत्र में नव अशुद्धि निश्चित हुई हैं सो जैनियों के तीसरे पत्र

के नीचे दिखा चुके हैं। वे अशुद्धियां व्याकरण का बोध न होने से हैं यह निश्चित ही है। यद्यपि इस तृतीयपत्र में जो विषय है उसका उत्तर हम पहिले ही दे चुके हैं कि प्रमाण उस वस्तु का नाम है जिससे विषय को जाने यदि वह जानने योग्य विषय हो जायगा तो उसको प्रमेय कहेंगे प्रमाण नहीं कह सकते फिर प्रमाण का निश्चय करना चाहिये यह कथन नहीं बन सकता। क्योंकि जो स्वयं प्रकाशस्वरूप हो और अन्य पदार्थ उसके प्रकाश से देखे जावें वह प्रमाण कहाता है। एक दीपक से अन्य पदार्थ देखे जाते हैं परन्तु उसी दीपक के देखने के लिये द्वितीय दीपक की अपेक्षा नहीं होती ऐसे ही प्रमाण वही है जिसको सिद्ध करने की अपेक्षा नहीं किन्तु वह स्वयंसिद्ध है। कहीं २ किसी प्रमाण का निश्चय करना पड़ता है तब उसको प्रमेय कहते हैं किन्तु वह प्रमाण कोटि में नहीं कहाता। जब कोई मनुष्य किसी विषय को विचारना वा देखना चाहता है तब वह पहिले अपने नेत्र को निश्चय नहीं करने बैठता कि मेरे कै नेत्र हैं, कैसे हैं, मैं देख सकता हूं वा नहीं तथा न्यायाधीश जब न्यायालय में न्याय करने को उद्यत होता है तब वह यह नहीं विचारता कि जिस कानून से मैं न्याय करूंगा उसी को पहिले निश्चय करलूं कि वह कानून ठीक है वा नहीं किन्तु कानून के अनुसार न्याय करने लगता है ऐसेही मत विषय पर विचार होना चाहिये प्रमाण के निर्णय की कुछ आवश्यकता नहीं है। यह आशय पूर्व ही प्रकाशित किया गया था। इसलिये इस पर बार २ लिखना पिसे को पीसना है तथापि यह कहते हैं कि यदि विषयरूप प्रमाण अपने स्वरूप से चलायमान नहीं होता तो जिनजैनादि पदार्थों को आपने विषयरूप माना वा विषयरूप माना है इन दोनों में आप क्या ठीक समझते हो ?। यदि कहो कि जिनजैनादिकों को विषयरूप प्रमाण मानते हैं तो ठीक नहीं क्योंकि आप पहिले लिख चुके हो कि तुम्हारे कहे जिनजैनादि पदार्थ प्रमेयरूप विषय हैं इससे पूर्वापर वदतोव्याघात हो जायगा। यदि विषयरूप प्रमेय मानते हो तो जिनजैनादि पदार्थों के साध्य होने से तुम्हारे मत के मूल को तुमने ही अप्रमाण मान लिया इससे तुम्हारा पक्ष पराजय स्थान में पहुँच गया। हमारे मत में तो प्रमाण निश्चय स्वतः और परतः दोनों प्रकार होता है इससे कोई दोष नहीं आता। अब इस पूर्वोक्त सब कथन से प्रमाण विषयक विचार समाप्त हो गया क्योंकि तुमने पूछा था सो सब समझा दिया गया यदि इतने पर भी न समझो तो कुछ दिन विद्वानों की सेवा करो और पढ़ो तब प्रमाणविषय को पूछना। परन्तु तुमने

जैन मत को ग्रहण किया तो उसको कुछ अच्छा समझ लिया होगा इसलिये हम को जो तुम्हारे जैनमत में शङ्का है उन प्रश्नों का उत्तर दीजिये । हमारे पहिले प्रश्न का उत्तर तुमने अब तक नहीं दिया और हम आप के प्रमाण विषयक उत्तर बराबर देते आते हैं । ऐसे कहां तक टांलोगे । हमारे किये प्रश्न पर स्रथ से पहिले उत्तर होना चाहिये क्योंकि सब प्राणिमात्र तथा विशेष मनुष्यों का यही प्रयोजन है कि हमको सुख मिले और दुःखों से छूटे । किसी मनुष्य को पूछिये सभी कहेंगे कि यदि कोई कल्याणकारी होता ठीक २ सम्झा देवे तो प्रबोत्तम है क्योंकि सुखकी प्राप्ति ही मुख्य प्रयोजन है । सुख की प्राप्ति अर्थात् मनुष्य का कल्याणकारी कौन मत है यही हमारा प्रश्न है । इसका उत्तर अब तक जैनियों ने नहीं दिया । जैनमत पर जब परीक्षा चलेगी कि जैनमत प्रमाणयुक्त वा अप्रमाण है इत्यादि विचार होने में जैनमत की समीक्षा प्रमाण से होगी तो प्रमेयरूप जैन सम्प्रदाय से प्रमाण पहिले स्वयमेव सिद्ध होजायगा इसलिये प्रथम जैनमत पर विचार होना चाहिये । उस जैनमत पर इस प्रकार विचार चलना चाहिये कि यदि जिन पदार्थ कोई सनातन, सर्वज्ञ, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव और अविनाशी ऐश्वर्यवाला है तो वही सनातन सर्वनियन्ता ईश्वर सिद्ध हो जायगा ऐसा होने से अनीश्वरवाद स्वयमेव कट जायगा यदि कोई काल विशेष में सर्वज्ञ होने से उत्पन्न जिन पद का वाच्यार्थ होगा तो उस आधुनिक जिनके अनित्यत्वादि गुणों का आरम्भ है क्योंकि जो किसी समय विशेष में उत्पन्न होता है वह अपनी उत्पात्ति से पहिले होगये समाचारों को नहीं जान सकता ऐसा हो तो तब पिता के जन्म के समाचार को पुत्र भी प्रत्यक्ष कर लेवे सो असम्भव है इसलिये किसी समय विशेष में उत्पन्न हुआ पुरुष सर्वज्ञ नहीं हो सकता फिर ऐसे अल्पज्ञ जिनकी उपासन कदापि कल्याणकारिणी नहीं हो सकती इसलिये यह जैन सम्प्रदाय अनेक दोषों से ग्रस्त होने के कारण ग्राह्य नहीं हो सकता । इस प्रकार द्वितीय दिन आर्यों ने अपना पत्र सुनाकर जैनों को दिया और जैनियोंने पूर्वोक्त अपना पत्र सुनाकर आर्यों को दिया तथा कुछ भाषा में अपने २ पक्ष की ओर से दोनों पक्ष के पण्डितों ने कहा पश्चात् द्वितीय दिन का शास्त्रार्थ समाप्त हुआ । इस दिन भी शास्त्रार्थ होने बाद जैनियों की इच्छा नहीं थी कि अब फिर शास्त्रार्थ हो परन्तु आर्य लोग कब मानते थे उन्होंने ता० १७ को सन्ध्या से बार २ संदेशा भेजकर फिर जैनियों को खटखटाया कि कल ता० १८ को

किस समय से शास्त्रार्थ होगा । और आर्यों की ओर पं० ठाकुरप्रसाद शास्त्रीजी आगरे से आगये थे इस पर कई लोगों का विचार ठहरा कि पं० ठाकुरप्रसादजी आर्यों की ओर से बोले और विशेष कर श्रीमान् लाला सोहनलालजी रईस फीरोजाबाद की इच्छा थी कि पं० ठाकुरप्रसादजी भी बोले तो ठीक हो अगले दिन तो० १८ को १ बजे से शास्त्रार्थ होना नियत हुआ सब लोग नियत समय पर सभा में पहुँचे । प्रथम पं० ठाकुरप्रसादजी शास्त्री को नियत करने का विचार चला इस पर जैनियों में बहुत विवाद चलाया उनकी इच्छा थी कि वादविवाद में समय कट जावे तो ऐसे ही फंद से छूटें वा आर्यलोग यह कह देंगे कि पं० ठाकुरप्रसादजी को न बोल्ने देओगे तो हम शास्त्रार्थ नहीं करेंगे तो भी हमारा कार्य सिद्ध होजावे सो आर्यसमाजस्थ उनको कब छोड़ते थे । अन्त में अनेक वादविवाद एक घण्टा तक होने परचात् दो बजे शास्त्रार्थ का प्रारम्भ हुआ ।

आर्यों के चौथे पत्र के उत्तर में जैनियों का पांचवां पत्र ॥

यच्च पूर्वपत्रे भवद्भिरुक्तं न लिखितप्रश्नानामुत्तरन्तु जातं भूयपिष्टपेषण-
वद्भूमइति तन्न सम्यक्प्रमाणस्वरूपानिश्चितसङ्ख्ययोरभिमतप्रमाणलक्षणानां
कस्मिंश्चिदपि पत्रे लेखनाभावाद्वा हि तुलामन्तरेण वस्तुपरिमाणमुपलभ्यते तत्
प्रमाणयं स्वतः परतश्चैत्यशिरस्कवचनं ब्रुवायैर्युष्माभिः क्रोडीकृतः प्रमाणविषयको
विचारश्चरमवर्णध्वंसगत इति ॥ तदपि चित्रंखपुष्पमिति वत्प्रतीयमानत्वात् नहि
किञ्चित्पदार्थापेक्षया स्वतः परतइत्यङ्कितं युष्माभिरतोविरहादतिसाहसमात्रमे-
तत्कथनमिति पश्यामः किं पुनर्बहुविडम्बनेन यच्च (यदि विषयिरूपस्य प्रमाणस्य
स्वस्व रूपादचाञ्चल्यं तर्हि जिनजैनादिपदार्थानां विषयिरूपत्वंविषयरूपत्वं वा किं
भवद्भिरङ्गीक्रियते यदि विषयिरूपत्वमुरीक्रियते तन्न युष्मदुक्तपदार्थानां प्रमेयरूप-
त्वात् इति पूर्वलेखेन विरुध्यते यदि च विषयरूपत्वं तर्हि जिनजैनादिपदार्थानां
साध्यत्वाद्भवन्मतमूलंयुष्माभिरवाप्रमाणीभूतं स्वीकृतमिति निग्रहस्थानप्राप्तिरिति)
तदपिवालभाषितं आम्नायां प्रश्ने कोविदारमाचष्ट इतिवत् प्रमाणनिरूपणावसरे
भिन्नजिनजैनादीनां विषयविषयित्ववरणनात् नहि साध्यो विषयो भवितुं नार्हतीति
यत्र २ साध्यस्तत्र २ विषयो नोति व्याप्तेरभावात् किञ्च जिनमतंसप्रमाणंस्माकं
परन्तु जिनमतंप्रमाणमप्रमाणं वेति विकल्पे प्रमाणपदस्य कः पदार्थो येन जिनमतं

युष्माभिः दृढं कारयिष्यामः नित्यत्वानित्यत्वादिकं च प्रमाणाधीनामिति भवद्भिः
सविशेषप्रमाणादिः पूर्वं कथनीयः ॥

ह० प्रबालाल जैनधर्मिणः

ह० छेदालाल जैनधर्मिणः

भाषानुवाद—जो पहिले पत्र में आप ने कहा कि आप के लिखे प्रश्नों का उत्तर दे चुके हैं कि प्रमाण के समान कहें से आपका कहना ठीक नहीं प्रमाण का स्वरूप और निश्चित संख्या और शास्त्रकारों के माने हुए लक्षणों को किसी पत्र में भी आपने नहीं लिखा तुला के बिना वस्तु का परिमाण नहीं जाना जाता और उस प्रमाण की प्रमाणाता स्वतः परतः इस बिना शिर के वचन को कहनेवाले आपने स्वीकार किया कि प्रमाणविषयक विचार पूरा हुआ यह भी अत्यन्त आश्चर्य है क्योंकि यह कहना आकांक्ष के फूलों के समान है काहेते कि आपने यह नहीं कहा किस पदार्थ की अपेक्षा से स्वतः और किसकी अपेक्षा से परतः इस युक्ति के बिना इस आपके कथन को अतिसाहसपूर्वक समझते हैं बहुत विडम्बना से क्या है और आपने यह कहा कि विषयिरूप प्रमाण अपने स्वरूप से चंचल नहीं तो जिनजैनादि पदार्थों को तुम विषयिरूप मानते हो कि विषयरूप, जो विषयिरूप मानते हो सो ठीक नहीं क्योंकि आपके कहे पदार्थों को प्रमेयरूप होने से इस पूर्व लेख के संग विरोध है और जो विषयरूप मानते हो तो जिनजैनादि पदार्थों के साध्य होने से अपने मत का मूल आपने ही अप्रमाण स्वीकार किया यह निग्रह स्थान की प्राप्ति है यह आप का कहना भी बालक अर्थात् अज्ञानी कासा है क्योंकि पूछे आम बताये अमरुद इसके समान प्रमाण निरूपण समय में जिनजैनादि का विषयविषयित्व वर्णन करते हो और यह नियम नहीं कि साध्य विषय न होसके क्योंकि जहां २ साध्य वहां २ विषय नहीं यह व्याप्ति नहीं और हमको तो जैनमत प्रमाण सिद्ध है परन्तु जिनमत प्रमाण है या अप्रमाण है इस आप के विकल्प में प्रमाण पद का क्या अर्थ है जिससे आप को जिनमत की दृष्टि करावें और नित्य अनित्य का ज्ञान भी प्रमाण के आधीन है इससे तुम पहिले प्रमाण के स्वरूपादि कहो ।

आर्यों का पांचवां पत्र जैनियों के चौथे पत्र के उत्तर में ॥

जैनानां पूर्वपत्रे व्याकरणानुसारतो दिगशुद्ध्यः श्रीमद्भिः । सर्वव्यवहाराणां प्रमाणपूर्वकत्वप्रमाणपूर्वकत्वं नैत्ययुक्तमिति प्रतिज्ञातम् । एतद्वाक्यान्तर्गतमयुक्त-

मिति सिपाधियधितम् । व्यवहाराणां वैलक्षण्यादिति हेतुना । अत्रायं प्रश्नः व्यवहारवैलक्षण्यरूपहेतोः प्रमाणपूर्वकत्वमप्रमाणपूर्वकत्वं वेत्ययुक्तमिति वाक्यघटितायुक्तत्वरूपसाध्यस्य च कव्याप्तिरस्ति, किं पुरुषोऽयुक्तत्वरूपसाध्याभावविशिष्टविलक्षणव्यवहारे न प्रवर्तते दृश्यते च सर्वेषामपुरुषाणां निष्ठका सर्वत्र प्रवृत्तिस्तत्रायुक्तत्वरूपसाध्याभावेन व्यवहारवैलक्षण्यरूपहेतोश्च सत्वेनायुक्तोऽयं हेतुः । निरवच्छिन्नमूलधूमसत्त्वबन्धेरनश्यं भावोऽयमात् किञ्च व्याकरणेन च दिशानेकशुद्धिग्रस्तत्वेन पूर्वापरविरोधसद्भावेन च अत्यन्तलपेक्षो भवति । अशुद्धीनामनेकत्वात् ताश्च समयान्तरे प्रदर्शयिष्यामः । विरोधश्चायं येन व्यवहाराणां प्रमाणपूर्वकत्वं तत्प्रमाणं किमिति प्रश्नस्य सार्थक्यादिति बोद्धे तत्प्रमाणं किमिति वाक्येन प्रश्नः कृतः, लिख्यते चाग्रे नास्माकमप्रमाणस्वरूपादां संशय इति रात्रिन्दिवयोरिवात्यन्तविरोधाकान्तत्वात् । अपि च सर्वे व्यवहाराः प्रमाणनिर्णयमकृत्वैव प्रवर्तन्ते नायं नियमः । प्रमाणानि च शास्त्रज्ञानवतां प्रमाणत्वेन ज्ञातज्ञानि शास्त्रज्ञानवताश्च प्रमाणत्वेनाज्ञातान्यपि व्यवहाराप्रतिबन्धकानि भवन्तीति सम्मतम् । प्रमाणनिर्णयमनाधिगम्यापि प्रवर्तन्ते च विद्वांसः प्राकृताश्च जना इत्यादिषु क्रयावैक्यव्यवहारे, भवद्भिस्त्रि कतिप्रमाणानि कानि च तेषां लक्षणानीति निर्णयमकृत्वैव पत्रलेखनं कृतं ततश्च सिद्धमेतत् यद्वादिनोः सभायां मतप्राबल्यदौर्बल्याभ्यां जयपराजयौ निश्चीयेते । अथ तत्रैव चेदाग्रहः सभायामागत्य तद्विषयकाः प्रश्नाः क्रियन्तामित्यलं श्रुत्सु ॥

ह० भीमसेन शर्मणः

ह० देवदत्त शर्मणः

भाषानुवाद—भाषने यह प्रतिज्ञा की कि यह बात अयुक्त है कि सब व्यवहार प्रमाणपूर्वक या अप्रमाणपूर्वक होते हैं इसमें अयुक्त साध्य है और व्यवहारों में वैलक्षण्य हेतु है इसमें यह प्रश्न है कि व्यवहारवैलक्षण्य हेतु की ओर अयुक्तत्वरूप साध्य की कहां व्याप्ति है क्या मनुष्य अयुक्तत्वरूप साध्य से विलक्षण व्यवहार में नहीं प्रवृत्त होता ? सब मनुष्यों की सब जगह निःशंक प्रवृत्ति देखते हैं वहां अयुक्तत्वरूप साध्य नहीं और व्यवहारवैलक्षण्यरूप हेतु है इससे हेतु है अयुक्त है जहां पर्वत के मूल से आकाश तक धूम हो वहां वन्हि के अवश्य होने का नियम है और व्याकरण की रीति से अनेक अशुद्धि और पूर्वापर विरोध होने से आपका लेख अत्यन्त

उपेक्षा करने योग्य है वे अशुद्धि कालान्तर में दिखावेंगे और विरोध यह है कि जिस-
से व्यवहारों को प्रमाणपूर्वकत्व है वह प्रमाण क्या इससे प्रश्नसार्थक है इसमें वह
प्रमाण क्या इस वाक्य से प्रश्न किया और आगे जाकर लिखा कि हमको प्रमाण
स्वरूपादि में संशय नहीं सो यह रात्रि दिन के समान अत्यन्त विरुद्ध है और यह
नियम नहीं है कि सब व्यवहार प्रमाण निर्णय के बिना सिद्धि ही प्रवृत्त हों और शास्त्र-
ज्ञान जो कि प्रमाणरूप से नहीं जानते हैं और शास्त्र के अज्ञानियों को प्रमाण-
रूप से नहीं जानें हुए भी प्रमाणव्यवहार के प्रतिबन्धक नहीं होते यह सम्मत है
और प्रमाणनिर्णय के बिना किये भी विद्वान् और हट्ट आदि के लेने देने में प्राकृत
जनप्रवृत्त होते हैं तुमने भी कितने प्रमाण और उनके क्या लक्षण यह निर्णय किये
बिना ही पत्र लिखा इससे यह बात सिद्ध हुई कि वादियों के मत्त की प्रबलता और
दुर्बलता से ही जयपराजय का निश्चय होता है जो उसी प्रमाण निर्णय में आग्रह है
तो सभा में आनकर उस विषयक प्रश्न करो विद्वानों में इतना बहुत है।

विशेष—यह उक्त पत्र सभा में सुनाया गया और जैन मत पर कुछ विशेष कहा
गया तब पं० छेदालाल जैनी ने श्रीस्वामी दयानन्दसरस्वतीजीकृत सत्यार्थप्रकाश को-
लेकर कोई २ दोप दिखाये और कहा कि हमारे मत विषय में सब मिथ्या लिखा
है सर्वदर्शनसंग्रह के पुस्तक में कुछ दिखाया कि यह जैन मत नहीं है इत्यादि कहा
उसका यथोचित उत्तर दिया गया। जो २ वार्ता बिना लिखी हुई है उन सबको
यथावत् कोई नहीं कह सकता इसलिये सबका लिखना उचित नहीं है। यदि एक
वचन वा प्रमाण का स्मरण हुआ और उसके सम्बन्ध की सब युक्ति वा प्रमाण लिखे
जावें तो बहुत लेख बढ़ जावे और ऐसा लेख करना उचित भी नहीं जान पड़ता है,
इसलिये विशेष बढ़ाना ठीक नहीं (इस दिन भी शास्त्रार्थ होने बाद जैनियों की इच्छा
नहीं थी कि अब फिर शास्त्रार्थ हो परन्तु आर्य लोग कब मानते थे) इस प्रकार अठा-
रह तारीख को ४ बजने में ५ मिनट शेष रहे उस समय में शास्त्रार्थ का सारांश और
जैन पण्डितों की कुटिलता पर और जैनमत की समीक्षा पर आर्य पण्डित कह रहे थे
उसको सुनकर जैन बहुत लज्जित हुए और उच्चस्वर से कहने लगे कि समय हो
गया इस पर श्रीमान् चतुर्वेदी राधामोहनजी और श्रीमान् राय सोहनलालजी ने
कहा कि अभी समय बाकी है हल्ला न करो, श्रीमान् चतुर्वेदी कमलापतिजी ने सम्पूर्ण
शास्त्रार्थ द्रष्टा और विशेष कर राय सोहनलालजी की पूर्ण इच्छानुसार श्रीमान् पण्डित

ठाकुरप्रसादजी के व्याख्यान होने के लिये सभा से निवेदन किया इन जैन लोगों ने किसी की एक न सुनी और एक साथ सभा से उठकर चल दिये। (इससे शहर के प्रतिष्ठित रईसों को भी इनकी योग्यता अच्छे प्रकार प्रकट होगई सभा में कोलाहल मचजाने से वहाँ व्याख्यान न हुआ तात्पर्य यह था कि इस दिन इनकी पोल अच्छे प्रकार खोल दी गई थी यदि बैठ रहते तो सभी इनकी पोप-लीला प्रकट होजाती) आर्य लोग भी अपने २ घर आये सर्वेभारत मुसलमान् रायसाहब सोहनलालजी के स्थान पर ता० १८ को सन्ध्य में उद्देश्य पं० ठाकुरप्रसादजी शास्त्री का व्याख्यान जैनमत विषय पर ठहरा, तदनुसार सब नगर में विज्ञापन दिये गये, नियत समय व्याख्यान हुआ शहर के सभीों को बड़ी प्रसन्नता हुई पं० जी ने न्याय आदि शास्त्रों से जैनमत की अच्छे प्रकार समीक्षा की, सभा की समाप्ति में पं० सीताराम चतुर्वेदी मैनपुरी निवासी ने आर्यों की प्रशंसा कविताई में पढ़ी।

ओम्

(दोहा)—सत्यासत्य विचारहित, भये विज्ञ एकत्र ।

वाक्यामृत की वृष्टि करि, सन्तोषे जन तत्र ॥

(कवित)

ईश अवराधक शुभसत्यता प्रकाशक अवगुणादि नाशक सुशासक विज्ञान के,
देशगति सुधारें वेदसम्मतप्रचारें वाक्य उचित उचारें नहिं ग्राहक धनदान के।
विद्यानुरागी असत्य मत त्यागी ऐसे बड़भागी हितचिन्तक प्रजान के,
सीताराम पुलकित हैं पुनि र-धन्यवाद देत कहां लगी गाऊं गुण आर्यमहान् के ॥

आपका शुभचिन्तक—

सीताराम चतुर्वेदी,

मैनपुरी.

और उसी दिन अनेक आर्य लोगों ने नगर में जहां तहां व्याख्यान देना प्रारम्भ किया इस व्याख्यान के पश्चात् आर्य लोगों को फिर वही चिन्ता लगी कि ता० १९ को कबसे शास्त्रार्थ होगा। इसलिये एकपत्र सेठ फूलचन्दजी के नाम भेजा।

ओम्

सेठ फूलचन्दजी योग्य—आप कृपा करके बहुत शीघ्र उत्तर दीजिये कि कल

शास्त्रार्थ का आरम्भ किस समय से होगा। प्रभात समय शास्त्रार्थ का निश्चय होने में बड़ी हानि होती है; इससे अभी शास्त्रार्थ का समय निश्चय करके सूचित कीजिये ॥

रात्रि के ८ बजे प्र० चैत्रसुदी ५ रवौ

दश गङ्गाराम,

१८-३-८८

मन्त्री श्री आर्यसमाज फीरोज़ाबाद.

इस पत्र का उत्तर सेठजी ने कुछ नहीं दिया और अनेक लोगों से जैनों की अन्तरङ्ग चर्चा सुनी गई कि अब जैन शास्त्रार्थ करना नहीं चाहते। तब ता० १६ को प्रातःकाल इस पत्र जैनों के पास और भेजा गया कि:—

ओ३म्

श्रीयुत लाला मंजूलाल, प्यारेलाल, फूलचन्दजी जैनधर्मावलम्बियों को विदित हो कि हमारा आपका शास्त्रार्थ इसी समय आरम्भ होजावे इसमें क्षणभर भी विलम्ब नहीं होना चाहिये, क्योंकि हमारे महाशय लोग बड़े २ कार्य को छोड़कर बहुत दूर से केवल इसी कार्य के लिये आये हैं यदि आप कहें कि हमारे मेले में हानि होती है और समय थोड़ा है तो हमको पहिले ही विज्ञापन क्यों नहीं दिया कि हम मेले के दिनों में शास्त्रार्थ न करेंगे यदि आपको किसी विषय में प्रश्न करना हो तो सभा में ही आकर कीजिये यदि आप आज दश बजे से शास्त्रार्थ न करेंगे तो आपका पराजय समझा जावेगा, हम लोग अधिक प्रतीक्षा न करेंगे इस पत्रका उत्तर तत्काल न देने से भी पूर्वोक्त व्यवस्था सिद्ध होगी।

१८-३-८८ ई० सोमवार

आपका कृपाकांक्षी—

गङ्गाराम वर्मा,

मन्त्री—आर्यसमाज, फीरोज़ाबाद.

इस पत्रका भी कुछ उत्तर नहीं दिया और न पत्र लिया ता० १९ से पत्र लेना भी बन्द कर दिया तब ता० १८ के संस्कृत के ५ वें पत्र का उत्तर संस्कृत में लिखकर भेजा गया सो भी नहीं लिया पीछे समाज के दो चार आदमी सज्जन लोग लेगये तब भी सेठजी ने पत्र न लिया तब यह कहा गया कि आप पत्र नहीं लेते तो यह लिखा दीजिये कि हम पत्र नहीं लेते सो यह भी नहीं लिखा तब आर्य लोगों ने शहर के दो चार लोगों को (जो आर्यसमाज में वा जैन मत में नहीं थे) कहा कि आप इस पत्र को सेठजी के समीप ले जाइये। वे लोग लेगये तब भी पत्र नहीं लिया परन्तु आर्य

लोगों ने उनको साक्षी कर लिया वह आर्यों ने भेजा छठा पत्र यह था कि:-

जैनियों के पांचवें पत्र के उत्तर में आर्यों का छठा पत्र ॥

पूर्वप्रहितभोवत्कोत्र केवलं प्रमाणस्वरूपभेदविषयाणां प्रश्नो जातः । इत्थं तं प्रदर्शिताः । अधुना प्रकृतिरिति चैतद्यद्भावत्केस्तेषां लक्षणानभिज्ञैर्बुधैः । अतश्च तानि प्रकारान्तरैः देवानां भियधिगमाय पुनः प्रतिपादिते प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानीति संख्याचरित्वेति शिष्टं तत्किं सम्भवंतीति प्रमाणरूपम् ॥ वैशेषिकराद्धान्ते प्रत्यक्षं चानुमानंचेति प्रमाणद्वयम् । सांख्ययोगयोश्च सिद्धान्ते प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानीति प्रमाणत्रयम् । पूर्वमीमांसकमतानुसारिणस्तु प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावा अष्टौ प्रमाणानि मन्यन्ते । उत्तरमीमांसकास्तु व्यवहारदशायां ह्यष्टौ प्रमाणान्युररीकुर्वन्ति । लक्षणानि च प्रत्यक्षानुमानिकयोपमानिकीशाब्दीप्रमाणां करणं तत्तत्प्रमाणम् । यथाच प्रात्यक्षप्रमायाः करणं प्रत्यक्षं प्रमाणमित्यादिधेपेलिमम् । अनिर्दिष्टप्रवक्तृकं पारम्पर्य-कपागतज्ञानकरणमैतिह्यम् । अर्थादापत्तिरर्थापत्तिः । यत्राभिधीयमानेयं योऽन्योऽर्थः प्रसज्यते साऽर्थापत्तिः । सम्भवोनामाविनाभावितोऽर्थस्य सत्ताग्रहणादन्यस्य सत्ताग्रहणम् । अभावविरोध्यभूतं भूतस्येति । प्रदर्शितप्रमाणस्वरूपसंख्या लक्षणेषु सत्यां विप्रतिपत्तौ अर्द्धघटिकापरिमितसमयेन सप्रमाणं प्रदर्शनीया । तुलामन्तरेणेत्यारभ्य कथनीयेतन्तं पूर्वापरविरोधादनेकपराभूतिविशिष्टत्वात् सर्वयोपेक्ष्यः शिलकुलेखइत्यलमतिपल्लवितेन ।

इ० भीमसेन शर्मणः

इ० देवदत्त शर्मणः

भाषानुवाद—आप के पहिले पत्र में प्रमाण के स्वरूप, भेद और विषय का प्रश्न था इससे स्वरूपादि विषयों का उत्तर दिया गया । अब जान पड़ता है कि आप उन के लक्षणज्ञान से सर्वथा शून्य हैं इसलिये वे प्रमाण स्वरूपादि प्रकारान्तर से तुम को बोध होने के लिये दिखाये जाते हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ये चार प्रमाण नैयायिक सम्मत हैं । वैशेषिक शास्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान, दो प्रमाण माने हैं । सांख्य और योगशास्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम, तीन प्रमाण माने हैं । पूर्व मीमांसा में चार न्याय वाले, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव आठ प्रमाण माने हैं । उत्तर मीमांसा में भी व्यवहार दशा में उक्त आठ प्रमाण माने हैं । प्रमाणों के लक्षण

प्रत्यक्षादि बुद्धियों का तत्तद्विषय में यथावत् होना प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं इत्यादि प्रत्येक के लक्षण भी संस्कृत में लिखे हैं। यदि इन लिखित प्रमाण के स्वरूपादि में कुछ सन्देह रहे तो प्रमाणसहित आध. चड़ी में उत्तर दीजिये भागे जो तुम्हारे पञ्चम पत्र में "तुला-मन्तरण" इत्यादि लेख है वह पूर्वापर विरुद्ध होने से अनेक प्रकार से तुम्हारा पराजय प्रकट करता है इसलिये उपेक्षणीय है इति शम्भू । यह प्रमाण लिया और जैनियों के ओर से प्रवन्धकर्त्ताओं ने सभापति ज्वालाप्रसादजी से यह निश्चय किया कि अब शास्त्रार्थ करना करना कर दिया जावे और जैनों की ओर से यह न मालूम हो कि जैन लोग शास्त्रार्थ नहीं करना चाहते किन्तु उपद्रव के भय से प्रवन्धकर्त्ताओं ने शास्त्रार्थ होना वन्दना के द्वारा इस प्रकार का एक पत्र जैनप्रवन्धकर्त्ताओं ने बनाकर सभापति के हस्ताक्षर करा लिये पर आर्यप्रवन्धकर्त्ताओं के पास लाये तो इन्होंने हस्ताक्षर न किये और कहा कि जैनी लोग यदि शास्त्रार्थ करना चाहें तो जैनी और आर्यों की ओर से दश २ आदमी एक स्थान में दश २ हाथ पर बैठे रहें बीच में पुलिस बैठी रहे कोई किसी से बोले नहीं वा कोई प्रतिष्ठित रहै। प्रश्न करे उसका उत्तर अपनी २ विद्या का मतानुसार दोनों पक्ष वाले उस रहस के प्रति दें। इत्यादि अनेक प्रकार निकल सकते हैं कि जिससे उपद्रव कदापि न होवे, परन्तु जैनों ने किसी की न सुनी शास्त्रार्थ करने से सर्वथा हट गये । इसके पश्चात् आर्य लोगों ने ता० २० को एक विज्ञापन शहर में दिया कि:-

ओ३म्

सर्व सज्जनों को विदित किया जाता है कि किसी कारण से न करने शास्त्रार्थ जैन भाइयों के हमारे विद्वान् पुरुष स्वस्थान को आज पधारेंगे इससे हम फिर भी १ घंटे का अवकाश जैनमतावलम्बियों को देते हैं कि शंकानिवारण या शास्त्रार्थ करना चाहें तो आकर करें बाद चले जाने विद्वानों के कहना उनका माननीय न होगा ।

प्र० चैत्र शु० ८ भौम दिन,
२०—३—८८ ई०

गङ्गाराम वर्मा,
मन्त्री आर्यसमाज,
फीरोजाबाद.

इसके पश्चात् सब लोग अपने २ नगरों को पधारे जो बाहर से आये थे। इस प्रकार शास्त्रार्थ समाप्त हुआ ॥

ओ३मृतसत्त जैनियों का प्रमाद ॥

विदित हो कि ओ३मृतसत्त शास्त्रार्थ वेदमत्तानुयायियों और जैनमतावलम्बियों से अगर फीरो-जाबाद में हुआ था उसका ठीक २ वृत्तान्त बोही महाशय कि जिनकी शास्त्रार्थ समय उपस्थिति हुई थी जानते होंगे और होने का कारण भी इन्हीं में से है कि जो यहाँ के रहनेवाले हैं ये दोनों बातें सत्य २ तभी सम्पूर्ण महाशयों पर विदित हो सकती हैं जब पक्षपात रहित द्रष्टा पुरुष लिखें या कहें, शास्त्रार्थ फीरोजाबाद का सारांश जो मुंशी जगनकिशोर साहव ने छपवाया है वह बहुत ही सही २ सत्य है जैसे मैंने अपनी अल्पबुद्धि से उसको सत्य समझा है ऐसे और भी महाशयों ने, जो पक्षपातरहित होंगे, समझा होगा, क्योंकि सत्य के कारण से किन्तु जैनी महाशयों के शिर से अभीतक पक्षपात का भूत नहीं उतरा कहीं तो ऐसे गपोड़े हांकने लगे कि हमसे आर्य्य हार गये और हमारे प्रश्न का कुछ उत्तर न देसके इससे भी अधिक प्रत्येक जैन मिथ्याभाषण करने लगे इनकी प्रपंचमय वार्ताओं को सुन आर्य्य पुरुषों ने बहुत सहन किया तो भी पराजयभूषण जैनी अपना पराजय छिद्र दवाने के लिये ठौर २ और भी अधिक मिथ्याभाषण करने लगे इस पर मंत्री आगरासमाज ने प्रसिद्धिपत्र इस आशय का दिया कि यदि अब भी जैनी कुछ पुरुषार्थ रखते हों तो हम सर्वत्र जैनियों को सूचित करते हैं कि एक हफ्ते के अन्दर हमसे फिर शास्त्रार्थ करें। सज्जनो ! ध्यान की जगह है, गौर का मुकाम है, खयाल की बात है, बुद्धि की परीक्षा है यदि ये ऐसे ही सभाजीत थे तो क्यों न शास्त्रार्थ किया इनकी शास्त्रज्ञता तो भले प्रकार ३ दिवस के शास्त्रार्थ फीरोजाबाद ही में प्रकट होगई थी कि पराजयदल में ऐसा दबाव डाला कि पत्र और विज्ञापनों से भी शास्त्रार्थ करने को समर्थ न हुए फिर ये किस बल से शास्त्रार्थ करते, जैनमतावलम्बियों ने शास्त्रार्थ फीरोजाबाद जो छपवाया है उसको शास्त्रार्थद्रष्टा सज्जन लोग तो अवश्य २ ही सत् असत् को जान गये होंगे किन्तु मैं अपनी अल्पबुद्धयनुसार सर्व के ज्ञातार्थ प्रमाद से जो उन्होंने विपर्य्यय छपवाया है उसको प्रगट करता हूं, क्योंकि—

चौपाई ॥

अति संघर्षण करे जो कोई । अतल प्रकट चन्दन ते होई ॥

जैनियों का प्रमाद प्रमाद प्रमाद

प्रथम प्रमाद.

श्रीस्वामी भास्करानन्दजी के विषय में जो छत्रवांछा है यह उनका अति ही प्रमाद है स्वामी भास्करानन्द यहां से जब पधारे तब पं० मन्नालाल का पत्र इस आशय का आया कि इस समय नहीं आसकता मेरे पैर में जोड़ा है जब पन्नालाल ने फोड़े का मि. किया तब सेठ साहब ने चतुर्वेदी कमलापति साहब और उक्त स्वामीजी से यह कहा कि अब हमारा तुम्हारा शास्त्रार्थ मत विषय का मेले पर यानी ता० १५ मार्च १८८८ ई० से अवश्य होगा इसको सर्व सज्जन भले प्रकार जानते हैं कि जब पन्नालाल न आये तो भी स्वामी भास्करानन्दजी ने १७ फरवरी को अपने व्याख्यान में यह कहा कि यदि अब भी कोई प्रतिष्ठित जैनी यह कहे कि हम कल या ता० १८ फरवरी १८८८ ई० को पं० पन्नालाल को अवश्य २ बुला लेंगे तो मैं कदापि बांकीपुर के शास्त्रार्थ में नहीं जाऊंगा चाहे मेरे पहुंचने के लिये वहां से तार आही गया है इसको किसी जैनी ने कल के लिये यानी ता० १८ फरवरी को स्वीकृत नहीं किया और सेठ फूलचन्द साहब ने यही कहा कि मेले पर हमारे पं० लोग अवश्य आवेंगे, सज्जनो ! जब सेठ साहब ने किसी तरह से उस समय शास्त्रार्थ करना स्वीकृत न किया तब स्वामी भास्करानन्द सरस्वतीजी बांकीपुर को पधारे ।

२-प्रमाद ॥

इनके पत्रों के उत्तर ठीक २ समय पर पहुंचते रहे यह लिखना भी प्रमाद से असत्य है बल्कि आर्य्यपुरुषों के दो पत्रों का तो जैनी महाशयों ने उत्तर भी नहीं दिया और जैनियों ने किसी पत्र का उत्तर भी ठीक २ भले प्रकार नहीं दिया कुछका कुछ उत्तर देते रहे यह बात भी सर्व सज्जनों को विदित है ॥

३-प्रमाद ॥

पंडित भीमसेन शर्माजी और सेठ फूलचन्द साहब में जो नियम नियत होगये थे उनके सिवाय कुछ भी न्यूनाधिक नहीं हुए, यह लिखना जैनियों का सर्वथा व्यर्थ है इनके लेख ही से इनका झूठ यानी मिथ्याभाषण सिद्ध होता है क्योंकि जब ये लिखते हैं कि न्यूनाधिक कर दिये थे सज्जनो ! ध्यान से देखिये कि यह इनकी कैसी प्रपंचयुक्त वार्त्ता है मानो जो न्यून होगये थे उनको बढ़ा के और जो अधि-

क होगये थे उनको दूर करके नियम क्यों न माने और यह लिखा है कि पं० भीमसेन शर्मा अपने धर्म से कह देवें यही नियम ठहरे थे यह लिखना और भी जो उक्त पं० जी के विषय में लिखा है बिलकुल असत्य ही है इसको सम्पूर्ण द्रष्टा शास्त्रार्थ सज्जन लोग भले प्रकार जानते हैं, ओ विद्वज्जनो ! इनका पूर्ण सिद्धान्त नियमों का न मानने, इनके लेख से सिद्ध होता है जब अनियम कार्य करना ही जैनी महाशयों को प्रिय लगता है तो इनके बीच में शास्त्रज्ञता की राध मेरी भी अल्पबुद्धि के अनुसार कोई विद्वान् नहीं कह सकता देखो नियमों से सम्पूर्ण कार्य संसार के होते हैं अनियम से कोई भी नहीं होता है फिर अनियम कार्य कैसे हो सकता है जब जैनी पं० शास्त्रार्थ के साधारण नियमों का होना मुख्य नहीं समझते तो शास्त्रार्थ करने की योग्यता इनमें कोई विद्वज्जन कब अनुमान कर सकता है जब जैनियों की इच्छानुसार आर्य्यपुरुषों ने पंच और सरपंच स्थान स्वीकार किया फिर किस प्रकार से आर्य्यपुरुषों का हठ इच्छानुसार नियम नियत होने का सिद्ध हो सकता है ? ॥

४—प्रमाद ॥

मध्यस्थ के विषय में हम जैनियों का अत्यन्त ही प्रमाद प्रकट करते हैं कि जिनमें शास्त्रार्थ और सभ्यता का व्यवहार किंचित् भी प्रकट नहीं जान पड़ता है आधुनिक आर्य्य और जैनियों के विद्वानों से भिन्न मतावलम्बी मध्यस्थ हो इस लेख से और भी अल्पज्ञता जैनी महाशयों की प्रकट होती है कि शास्त्रार्थ के प्रकार से होता है और उसके विशेष २ नियम सर्वोत्तम क्या हैं पं० भीमसेनजी शर्मा ने यह कदापि नहीं कहा कि हमारे सर्व विरोधी हैं और सत् असत् का निर्णय करनेवाला कोई नहीं है ऐसा अनर्थरूप लेख लिखना जैनी महाशयों की ही योग्यता है क्या आज आर्य्य, जैन, मुसलमान, ईसाइयों के अनेक सम्प्रदाय हैं इनमें एक महाशय से पूछा जाय या सर्व से पूछ के जो सिद्धान्त निश्चय किया जाय तो कौन श्रेष्ठ होगा देखो श्रीमती महारानी विक्टोरिया आज कमेटी यानी बहुसम्मति पर ही सर्वकार्य करती हैं ऐसे ही पं० भीमसेन शर्मा का यह कथन था कि हमारे तुम्हारे लेखों को देख कर सर्व जगत् और सर्व विद्वान् जयाजय जान सकते हैं, ऐसे मध्यस्थ की कुछ इस शास्त्रार्थ में आवश्यकता नहीं है, ऐसे मध्यस्थ की आवश्यकता जैनी महाशय समझते हैं तो मेरी अल्पबुद्धि के अनुसार शास्त्रार्थ करना वृथा था उसी मध्यस्थ से ही

पूछ लिया जाता कि किनका सिद्धान्त ठीक और मत प्राचीन है विद्याहीन जैनियों का अपने दुराग्रह और अपना कपोलकल्पित जाल कटने के भय से यही आशय इनके लेख से सिद्ध होता है कि शास्त्रार्थ न हो जैनियों की मंदा देखिये कि ये आधुनिक दयानन्दमदावलम्बी लिखना क्या इनको लज्जा नहीं आती है यदि ऐसे ही पं० थे तो इन शब्दों को सभा में क्यों नहीं सिद्ध किया। जैक पं० भीमसेनजी शर्मा ने यह कहा था कि अगर तुम वेद को कपोलकल्पित आधुनिक आर्य और दयानन्दमतीय सिद्ध कर दो तो हमारा तुम्हारा इस पर शास्त्रार्थ लही इस कहने पर इनके मुख बन्द होगये कुछ उत्तर न दे सके, प्रियवरों ! इन जैनी पं० को सिवाय मिथ्या प्रलाप के कुछ विशेष नहीं आता, सब्जनों ! शास्त्रार्थ दो प्रकार से होता है एक तो मुखद्वारा दूसरा लेखद्वारा लिखित शास्त्रार्थ के जयाजय के ज्ञाता सर्व विद्वान् और सर्व जगत् होता है और मुखद्वारा के शास्त्रार्थ के द्रष्टा वे ही लोग होते हैं जो तत्काल उपस्थित हों मध्यस्थ प्रबन्धकर्त्ताओं का होना अवश्य चाहिये क्योंकि जिससे शास्त्रार्थ समय कोई पक्ष नियमविरुद्ध प्रतिकूल कार्य न करे ।

५-प्रमाद ॥

सब्जन पुरुषो ! इनका, धर्म से ज्यों का त्यों इस पुस्तक के लिखने में प्रमाद और मिथ्याभाषण प्रगट करता हूं एक लघु वात यह है कि पं० पन्नालाल ने शास्त्रार्थ के पत्रों में अपना नाम अनुस्वार लगाकर कई पत्रों पर लिखा था इसको सर्व सब्जन शास्त्रार्थद्रष्टा भले प्रकार जानते हैं यदि किसी महाशय को प्रतीत न हो तो मैं पं० पन्नालाल के लेखों को दृष्टिगोचर कर सकता हूं फिर ज्यों के त्यों धर्मपूर्वक लेख कोई भी जैनी और जैन पं० सिद्ध कर सकता है, क्या मिथ्याभाषण को ही जैनी पंडितों ने धर्म समझ लिया है इनका इस विषय में सम्पूर्ण लेख मिथ्याभाषण और पक्षपात की अनेक व्याधियों से अभिग्रस्त है ।

६-प्रमाद ॥

जैनी पंडितों को व्याकरण का पूर्णबोध न होने से उन्होंने अपने पत्रों में विशेष अशुद्धियां कीं और आर्य पं० ने अपने प्रत्येक पत्र में इनकी अशुद्धियों की गणना प्रगट की और सभा में पं० भीमसेनजी शर्मा ने यह भी कहा कि जैनी पं० यह कहें कि ये अशुद्धियां हैं या पीछे शुद्धि बना लें तो इसी समय हम अशुद्धियों को जैनी पं० के संमुख व्याकरणशास्त्र से सिद्ध कर सकते हैं, इस पर व्याकरण-

शून्य जैनी पं० ने कुछ उत्तर न दिया और शास्त्रार्थ जो छपवाया है उसमें लिखते हैं कि आचार्यों के पत्रों में भी अधिक अशुद्धियाँ हैं यह लिखना कैसा अज्ञानता से निर्मूल है जैनियों के सम्पूर्ण पत्रों को देखकर सर्व को इनका झूठ और भी अधिक प्रतीत होगा कि जैनी महाशयों ने पत्रों में तो कोई अशुद्धियों की चर्चा भी नहीं लिखी और न इनके लेखकों के पत्रों में है यह सिद्ध हो कि कोई अशुद्धि है फिर अशुद्धियों के विषय में लिखना अर्थात् व्यर्थ ही है, जैनी महाशयों के लेख से यह बात सर्व सज्जनों को विदित होजायगी कि अपनी अशुद्धियों को बनावलेना और आचार्यों के पत्रों में मिथ्या अशुद्धियाँ प्रगट करना इस एक ही लक्ष्य वात् से सिद्ध है जो मैं पं० पन्नालाल सा० के हस्ताक्षरों के विषय में पूर्व लिख चुका हूँ और एक पत्र तो जैनी महाशयों ने अपने अत्यन्त प्रमाद की प्रबलता से मन माना लिख दिया है सभा में तो इस पत्र को नहीं दिया और न आर्यसमाज में भी किसी के हस्तगत होके भेजा यह बात इनकी मिथ्या प्रपंच की नहीं है ? जब यह नियम था कि एक २ पत्र दोनों पक्षवाले एक दूसरे को दे दें फिर छठा पत्र किस प्रकार से जैनियों का अधिक आना कोई विद्वान् कब अनुमान प्रमाण कर सकता है ? ॥

७-प्रमाद ॥

मैं अपनी अल्पबुद्धि के अनुसार जैनियों के प्रत्येक विषय के लेख का स्थूल बातों में ही प्रमाद प्रगट करता हूँ, जब इनके लेख से यह सिद्ध है कि हमारे और इन के परस्पर यह बात ठहरी थी कि संस्कृत के लेखानुसार भाषानुवाद करके सभा को सुना दिया करेंगे, सज्जनो ! ध्यान कीजिये इन लेखों के भाषानुवाद को कि यह संस्कृत का ही अनुवाद है ? उस पर भी यह अधिकता कि प्रमाद से परामर्श का पीछा तो पाँच २ या छः २ पृष्ठ तक न छोड़ा कहीं की ईंट कहीं के रोड़े का उदाहरण पूरा दरसाने लगे और अपने लेखों में विरोधाविरोध का भी ध्यान न रहा, सज्जनो ! इन के संस्कृत लेखों पर अच्छे प्रकार ध्यान देना चाहिये कि परामर्श सत्यार्थप्रकाश और सर्वदर्शनसंग्रहादि के पृष्ठ और पंक्तियों को लिखना इनके पत्रों के कौन से शब्द के अर्थ से प्रगट होता है, यदि यही भाषानुवाद संस्कृत का हो तो अपने सम्पूर्ण ग्रन्थ और सप्तभंगी न्याय का जैनियों ने पूरा उत्था क्यों न लिख दिया, प्रियवर जैनियो ! तुम्हारे इन झूठ मूठ के लड्डुओं के खाने से जुधा न दूर होगी कहीं सत् के संमुख असत् और आधुनिक जो जैनमत है वह ठहर सकता है शंकराचार्यादि आचार्यों की

सहस्रों फटकारों के लजाये हुए जैन यानी बौद्धमतावलम्बियों को अभी तक नहीं छोड़ते पक्षपात की पगड़ी को सिर पर और खीच २ के बंधते ही जाते हैं यह आधुनिक मत तुम्हारा पीछा अभी छोड़ेगा जब सत् सनातन बंधर्म का ग्रहण कर पक्षपात की पगड़ी को खूटी पर रख सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् को-शरण लोगे तभी तुम सच्चे तत्त्वज्ञानी होगे, प्रियधर ! इस आधुनिक जैनमत के असत्य ज्ञान को कल्याणकारी समझ क्यों किया जीवन व्यर्थ गमाते हो ॥

द-प्रसाद ॥

जैनियों का पं० ठाकुरप्रसादजी के विषय में लिखना अति ही असत्य यानी मिथ्याभाषण है ऐसे असत्य लेखों के लिखने में जैन यानी बौद्धमतावलम्बियों को लज्जा भी नहीं आती यह न ध्यान दिया कि हमारे मिथ्या लेखों को शास्त्रार्थद्रष्टा लोग देखकर कितना पश्चात्ताप करेंगे और हमको झूठे का दादा ठहरावेंगे जो पुरुष एक बात झूठ बोलता है और उसके छिपाने के लिये १०० बात झूठ यानी असत्य भाषण करता है परन्तु असत्य के कारण से अन्त में असत्य ही रहता है इसको अच्छी तरह शास्त्रार्थद्रष्टा लोग जानते हैं कि इन बातों में से एक भी बात शास्त्रार्थ के समय में जैनी पं० ने नहीं की कि यदि जैनी पं० यह कहें कि पं० ठाकुरप्रसाद आर्य नहीं हैं इस बात को सब सज्जन पुरुष जानते हैं कि पं० ठाकुरप्रसादजी ने अपने व्याख्यानों में यह कहा था कि जो आर्य न होगा वह तो गैर आर्य होगा मैं सोने के पत्र पर रजिस्टरी करा सकता हूँ कि मैं आर्य हूँ, सज्जनो ! देखो यदि आर्य न होते तो आर्यसिद्धान्त के सभासद् क्यों होते बड़े पश्चात्ताप का विषय है कि जब समान संख्या दोनों पक्ष के पंडितों की है तो भी पं० ठाकुरप्रसादजी से क्यों न शास्त्रार्थ किया जब समान समय तक दोनों पक्षों को लिखने और कहने का अधिकार है फिर जैनी महाशयों को क्या भय था यह पं० ठाकुरप्रसादजी का कथन इस बात पर अपने व्याख्यानों में सर्व के ज्ञातार्थ हुआ जब शास्त्रार्थ करके जैनी पं० पेच में पहुंचे तब बहुत पुरुषों ने यह कहा कि तुम्हारा बड़ा भारी अपवाद इस बात से हुआ जो तुम ने पं० ठाकुरप्रसाद से शास्त्रार्थ करना स्वीकृत नहीं किया तब जैन पण्डितों ने उन पुरुषों को यह उत्तर दिया कि पं० ठाकुरप्रसाद आर्य नहीं हैं इससे हमने उनसे शास्त्रार्थ नहीं किया उन पुरुषों ने आकर समाज में कहा जैनियों का संपूर्ण लेख इस विषय का अनेक मिथ्याभाषण की व्याधियों से अभिभूत है और जैन यानी बौद्ध

तावलम्बियों ने असत्य भरण ही अपना धर्म समझ रक्खा है, इनके धर्मग्रन्थों का भी यही अर्थ है कि जैसे कोई वस्तु है और नहीं है और कह भी नहीं सकते कि है या नहीं ऐसे ही असत्य ग्रन्थों के संस्कार प्रबल होने से जैनी महाशयों को मिथ्याभाषण और हेठ करने का असाध्य रोग ही हागया है इनके ग्रन्थों में ऐसा असत्य भाषण लिखा है कि विद्वानों का अत्यन्त ही आश्चर्य इनके विद्याहीन आचार्यों पर आता है कि कोई प्रमाण किसी वस्तु का अनुमान करके नहीं लिखा जो मन में आया अप्रमाण लिख मारा जैसे ४० कोस का जुआं और ८ कोस का बिच्छू १६ कोस का कलखा ४० भक्षरों में एक एक प्रकार का भाग्य जो सहस्रों वर्षों का एक वर्ष ऐसे ही अनेक मिथ्याभाषण इन के ग्रन्थों में हैं कि जिनको देखकर बुद्धिमानों को अति ही ग्लानि इस आधुनिक मत से होती है ॥

६-प्रमाद ॥

जैनियों ने जो चतुर्वेदी कमलापतिजी के विषय में लिखा है वह सर्वप्रकार असत्य ही है इसको समस्त शास्त्रार्थद्रष्टा पुरुष अच्छे प्रकार जानते हैं कि सभापतिजी का कदापि यह कहना नहीं था कि हमारा जयपराजय पं० ठाकुरप्रसादजी ही पर है पं० ठाकुरप्रसादजी के व्याख्यानार्थ कहा था कि पांच मिनट शास्त्रार्थ समय में ही से चाहे आर्य पंडितों के ही समय में से लेकर दिया जाय क्योंकि सम्पूर्ण शास्त्रार्थद्रष्टा पुरुषों की आकांक्षा उक्त पं० जी के व्याख्यान सुनने की है इसको सुनकर पराजय-मूर्ति जैनी बहुत घबराये क्योंकि अन्तिम समय ३० मिनट आर्य पंडितों ही का था कि जिसमें इनकी सारी पोलें इनहीं के ग्रन्थों से सुनाई थीं कि जिससे बहुत लज्जित हुए और यों कहकर कि हमारी तोहीन होती है सभा से भाग गये फिर पत्र और विज्ञापनों के देने से भी शास्त्रार्थ करने को उपस्थित न हुए, सज्जनो ! इसमें किसका पराजय विदित होता है ॥

१०-प्रमाद ॥

महाशयो ! जैनी पंडितों के प्रमाद की प्रबलता और मिथ्याभाषण का मकर-जाल देखियेगा कि पं० छेदालाल के लेख से विदित है कि मैंने पं० भीमसेन से यह कहा कि यह श्लोक हस्ताक्षर करके हमको दे दो क्योंकि इससे हमारे मत पर मिथ्या आक्षेप किया है बड़े पश्चात्ताप का समय है कि आज दीर्घ यानी बहुत समय आक्षेपप्रकाश को बने होगया है किसी पं० जैनी ने मिथ्या आक्षेप का स्वामीजी

महाराज पर दावा न किया क्या पं० छेदालाल साहब चतुरायण और दक्षिणायन ध्रुव की यात्रा को चले गये थे जो अब गाढ़निद्रा से जग और एक इलाक पर नाक उठाकर देखने और कहने लगे, प्यारे जैनियो ! तुम्हारे आधुनिक मत का तो खपड़न श्री १०३ स्वामी दयानन्दसरस्वतीजी ने अपने सन्प्रार्थप्रकाश के १२ वें समुल्लास में खूब प्रकट कर दिखाया यदि ये पोलें जो इतक समुल्लास में लिखी हैं सत्य नहीं हैं तो दावा हो जाना क्यों न किया ? क्या सर्वत्र जैनियों को मोति-याविन्द का राग हो गया था कि जिससे आज तक न सूझा और बैठकाने की बेसुरी दो चार वक्तों को कहकर इन भोले भाले जैनी महाशयों को क्यों ठगते हो और अपने को पंडितों की गणना में कहते हो क्यों इस पंडित शब्द को भी अपने नाम में लगाकर लज्जित करते हो अजी लालाजी आप अपने यथा नाम तथा गुण ही पर संतोष करो, दुराग्रह और मिथ्याभाषण के व्यवहार को छोड़ो सदैव सत्यसनातन बातों को ग्रहण करो कि जिससे व्यवहार और परमार्थ सिद्ध होना चारित्र कहाता है अर्थात् जिन मत से भिन्न आचार्य सब सर्वथा अवद्य (निन्दनीय) और उनके निन्दित मतों का त्यागना चारित्र कहाता है। और जिनोक्त तत्त्वों में रुचिवाली वाणी प्रियपथ्य और तथ्य कहाती है यह वाणी चारित्र से सम्बन्ध रखती है यही बात इनके सूत्रों से भी सिद्ध होती है कि जिन भिन्न कुगुरु का संग करने से विषैले सर्प का काटना भला है। क्या ही आश्चर्य है कि पं० छेदालालजी ने ऐसे २ सूत्रों को छिपाकर और पूर्वापर अपने मत का विचार न करके केवल वितण्डा किया है। स्वामीजी महाराज ने अवद्य शब्द का अर्थ सब प्रकार निन्दनीय किया है सो जैनमत को पूर्वापर देख के किया है इससे बहुत ठीक है यदि स्वामीजी अनवद्य पाठ समझते तो उसका अर्थ भी वैसा ही करते जब पाठ अनवद्य लिखा और अर्थ अवद्य का किया तो निश्चय है कि यह भूल लेखक की वा छापे की है। क्योंकि इसी पुस्तक में (यान्यनवद्यानि कर्माणि) यहां अनवद्य का अर्थ अनिन्दनीय किया है इससे स्पष्ट हुआ कि चारित्र प्रकरण में अवद्य ही पाठ है जैसे जैनियों की प्रिय-तथ्य वाणी के विषय में जैन देवगुरुतत्त्वज्ञान उपदेशक में लिखा है कि:—

कर्त्ताऽस्ति नित्यो जगतः स चैकः स सर्वगः सन् स्ववशः स सत्यः ।

इमाः कुहेयाः कुविडम्बनाः स्युर्मन्ता न तासामनुशासकस्त्वम् ॥

इस जगत् का कर्त्ता नित्यव्यापक अपने सामर्थ्य में आच्छादन करनेवाला वह सत्य है यह कुविडम्बना (नीचबुद्धि) त्यागने योग्य है उसका मानने वा कहने वाला त

(जैनी) नहीं है। अर्थात् नित्यव्यापक जगत्कर्त्ता ईश्वर को मानना जैनों का काम नहीं।

जैन पण्डितों की द्वितीय शङ्का यह है कि स्वामी (दयानन्दसरस्वती) जी ने जो सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि "लक्ष्यते येन च लक्षणम्" जिससे लक्ष्य जाना जाय उसको लक्षण कहते हैं जैसे आंख से रूप ज्ञात होता है, सो ठीक नहीं क्योंकि लक्षण का स्वरूप नेत्र को नहीं कह सकते। इसका उत्तर यह है कि नैयायिकी परिपाटी यह है कि:—

अव्याप्तिव्याप्त्यसम्भवदोषाग्रस्तत्वे सति लक्ष्यरूपबोधकत्वं लक्षणत्वम् ।

जिसमें अव्याप्ति अतिव्याप्ति और असम्भव दोष न हो, सो लक्ष्य पदार्थ का स्वरूप जतानेवाला हो उसको लक्षण कहते हैं। यहाँ जैसे नेत्र से रूप का बोध होता है इसमें नेत्ररूप लक्षण में अव्याप्ति दोष इसलिये नहीं कि नेत्र रूप के साथ व्याप्ति है अतिव्याप्ति इसलिये नहीं कि नेत्र से रूप भिन्न लक्ष्यरूप का बोध नहीं होता। नेत्ररूप का ग्रहण असम्भव भी नहीं और लक्ष्यरूप का बोध नेत्र से होता है। इस कारण रूप का लक्षण नेत्र को कहना असङ्गत नहीं है। लक्षण के सामान्य स्वरूप में शब्द वाक्य सूत्र आदि लक्षण कहे जाते हैं। जैसे प्रमाण शब्द का व्याकरणानुसार यही अर्थ है कि जिससे प्रमेय को जानें निश्चय करें वैसे लक्ष धातु के दर्शन (ज्ञान) अर्थ से गन्धादि विषय ज्ञान के साधन होने से ज्ञानेन्द्रिय लक्षण हो सकते हैं इसमें कोई बाधा नहीं। इसको न समझ के लिखा है तीसरे दिन के शास्त्रार्थ में पं० छेदालाल जैनी ने सत्यार्थप्रकाश पर तीन शङ्का बलपूर्वक की थीं। यद्यपि दूसरे दिन के शास्त्रार्थ में आर्यों के पण्डितों ने कह दिया था श्रीस्वामी दयानन्दसरस्वतीजी हमारे मत के प्रवर्त्तक नहीं हैं किन्तु हमारा सनातन वैदिक मत है स्वामीजी के लेख पर जो कोई आक्षेप होगा वह वैदिक मत पर नहीं समझा जावेगा किन्तु स्वामीजी भी एक आप्त सनातनधर्मोपदेशक थे इसलिये हम लोग उनको वेदोक्त धर्मोपदेशक मानते हैं तुम लोग आर्यों के मत पर जो शङ्का करना चाहो वेद पर करना इस पर जैनियों ने कुछ न ध्यान दिया और इस विचार से कि वेद पर कहने का कुछ सामर्थ्य नहीं तथा स्वा० द० जी के सत्यार्थप्रकाश का खण्डन करें जिससे अन्य आर्य (हिन्दू) लोग भी आर्यसमाज से तथा सत्यार्थप्रकाशादि से घृणा करेंगे और हमारी प्रशंसा करेंगे तथा बहुत जैन लोग भी सत्यार्थप्रकाशादि से जैन मत के गपोड़े देख २ आर्यसमाजस्थ होगये हैं सो सत्यार्थप्रकाश का खण्डन करेंगे तो जैनी लोग सत्यार्थप्रकाश

को देखने से घृणा करेंगे और हमारी प्रशंसा होगी कि हमारे पं० ने सत्यार्थप्रकाश का खण्डन कर दिया, इन तीनों शङ्काओं का उत्तर श्री उसी दिन की सभा में यथोचित दे दिया गया था तथापि जैनियों ने अपनी शङ्का और बढ़कर छपवाई कि जितना तत्काल नहीं कहा था और हमारी ओर से जो २ कहा गया था सो कुछ नहीं छपाया यह पत्रपात नहीं तो क्या है ? ।

उचित तो यही था कि साक्षार्थ में जो लेखबद्ध विषय हुआ था उतना ही साक्षार्थ के नाम से छपाते और छपाना होता सो अलग पीछे से छपा देते । पर यह काम धर्मात्माओं का है, हाँ । अब सुनिये—सत्यार्थप्रकाश सम्बन्धी तीन शङ्काओं में हिस्सा यह है कि पृष्ठ ४९९ पं० ३ सर्वथानवद्य योगानां” इसमें स्वामीजी ने अवद्य को अनवद्य लिखा है इस पर पं० छंदालाल तथा अन्य जैनियों ने बड़ा कोलाहल मचाया है कि स्वामीजी ने अज्ञान से वा कपट से शंका कोटि से उठा-के तौतातिती को सिद्धान्त कोटि में रख दिया है । इस पर विचार यह है कि वास्तव में (सर्वथावद्ययोगानां) ऐसा ही पाठ ठीक है क्योंकि (वदितुमयोग्यमवद्यम्) (अवद्यपण्य०) इस सूत्र से पूर्वोक्त अर्थ सिद्ध होता है जो कहने योग्य नहीं हो उसको अवद्य कहते हैं तो उक्त श्लोक का अर्थ यह होगा कि (जो कहने योग्य न हो उसका त्याग-चारित्र्य कहाता है वह अहिंसादि भेद से पांच प्रकार का है) अब प्रश्न यह है कि अवद्य नाम अयोग्य का क्या अर्थ हुआ तो जैनमत के सब पुस्तकों अर्थात् मुख्य सिद्धान्तों से यही निश्चित है कि जिन मत से भिन्न तत्त्वों का अनुसन्धान करना और जिन मत से भिन्न आचार्य सब कुगुरु हैं उनका त्याग, यह विद्वान् का दोष नहीं है किन्तु समझने वाले का दोष है पाठ का यह काम है कि जब उनकी समझ में न आवे तो दूसरे स्थलों में देखते हैं जैसे स्वामीजी महाराज ने सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ ६६ में (लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः) इसका अर्थ बहुत सरल किया है कि जैसे गन्ध-वती पृथिवी । जो गन्धवाली है वह पृथिवी है अर्थात् गन्ध पृथिवी का लक्षण है ॥

जैनियों का तृतीय उपालम्भ यह है कि तौतातियों के पूर्वपक्ष को लेकर स्वामीजी ने जैनमत का खण्डन किया है सो ठीक नहीं क्योंकि वह जैनमत नहीं ।

सर्वज्ञो वीतरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः,
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन्परमेश्वरः ।
सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः,
दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं यो वानुमापयेत् ॥

इन दोनों वचनों को स्वामीजी ने जैनमत के वर्णन में लिखा है। इनमें से पहिला श्लोक छेदालाल जैन ने शास्त्रार्थ में पढ़ा था और कहा कि हम सर्वज्ञ ईश्वर को मानते हैं और द्वितीय श्लोक तौतातिती नास्तिकशिरोमणि का है। इसको छेदालाल ने अपनी प्रतिपक्षी कहा है जो यह ठीक नहीं क्योंकि तौतातिती यद्यपि किसी अंश में अर्हन्तदेव को भी खण्डन करता है इसीलिये अभिप्रायार्थ ने सर्वदर्शनसंग्रहस्थ जैनमत में तौतातिती को पूर्वपक्ष में रखा है परन्तु मुख्य कर तौतातिती वैदिकमतानुयायियों का प्रतिपक्षी है और सर्वज्ञ ईश्वर को वेदमतानुयायी लोग मानते हैं उसी का (न चागमविधिः सचिन्त्यसत्त्वबोधकः) इत्यादि वचनों से खण्डन किया है जैनी लोग जिस अर्हन्तदेव को सर्वज्ञ मानते हैं उसको वे नित्य नहीं कह सकते क्योंकि उनका मुख्य सिद्धान्त यही है कि अनादिसिद्ध सनातन ईश्वर कोई नहीं किन्तु अर्हन्तदेव वा आदिदेव जब उत्पन्न हुए तब सम्यग्ज्ञानादि से सिद्ध होगये उन्हीं को सर्वज्ञ ईश्वर मानते हैं सो बीच में उत्पन्न होने वाला सर्वज्ञ भी नहीं हो सकता क्योंकि उसकी उत्पत्ति से पहिले अपने पिता पितामहादि का हाल नहीं जान सकता और सिद्ध होने पहिले बाल्यावस्था का अपना ही चरित्र नहीं जान सकता और सर्वज्ञ उसी को कह सकते हैं जो अतीतानागत वर्त्तमान सब समय में एकरस कूटस्थ व्याप्त हो के सब को जाने सो ऐसा ईश्वर आर्यों का मन्तव्य है जैनादि का नहीं लोगों को बहकाने के लिये जैसे ईसाई लोग ईश्वर का अनेक प्रकार वर्णन करते २ अन्त में ईसामसीह पर तान तोड़ते हैं ऐसी ही कुछ चाल जैनियों की है मानते तो एक बीच के उत्पन्न हुए शरीरधारो को हैं उसके विशेषण सर्वज्ञादि हों। यह असम्भव है इसीलिये तौतातिती ने बीच में हुए भी किसी को ईश्वर नहीं माना इससे वह नास्तिकशिरोमणि और जैनियों का बड़ा आता है अर्थात् अनादिसिद्ध सनातन सृष्टिकर्ता ईश्वर के न मानने में जैनी और तौतातिती दोनों एक ही हैं इसी अभिप्राय से स्वामीजी ने दोनों को साथ ही लिखा है इस से जैनों का आक्षेप ठीक नहीं है ॥

११-प्रमाद ॥

सज्जनो ! इन जैनियों के मिथ्याभाषण की अधिकता देखियेगा कि जिसके लिखने से ये प्रमाद की गठरी ही जचते हैं, जैनी पं० लिखते हैं कि आर्यों की असमर्थता तो पहिले से ही शास्त्रार्थ विषय में थी आज शास्त्रार्थ के प्रारम्भ समय से तो ज्ञात ही हो गई कि पं० देवदत्तजी की जगह पं० ठाकुरप्रसाद शास्त्रार्थ करेंगे,

न्यायशील सज्जनो ! इसको क्या असमर्थता का कारण कोई विद्वान् अनुमान प्रमाण से समझ सकता है, देखिये जब कोई पुरुष किसी विशेष कारण या रोगादि या समानसंख्या की गणना से किसी कार्य को न करे तो क्या असमर्थ समझा जायगा कदापि नहीं, ख्याल कीजिये जैनीयों की संख्या दोनों पक्ष के पण्डितों की है और समान ही समय तक उभयपक्ष को कहने का अधिकार है फिर इससे तो असमर्थता आयों की कोई न्यायशील नहीं कह सकती, यदि जैनियों की असमर्थता नहीं थी तो आयों के प्रश्न का उत्तर क्यों न देते और मतविषयक शास्त्रार्थ क्यों न किया, इस से जैनी महाशयो ! तुम्हारे तो सर्वजगत् तथा सर्व विद्वानों को तुम्हारे लेख ही से विदित हो गया कि न तो साधारण नियम जो शास्त्रार्थ समय अवश्य मानीय हैं उनको और न मतविषयक शास्त्रार्थ करना, अब तुम्हारे इन असंगत लेखों को कोई विद्वान् प्रमाण न करेगा ।

१२—प्रमाद ॥

शास्त्रार्थ बन्द होने में जैनियों की असमर्थता ही प्रगट होती है यदि ये असमर्थ न होते तो क्या पत्र और विज्ञापनों से शास्त्रार्थ न करते और उपद्रव का मिस्र करके शास्त्रार्थ बन्द करना यह जैनियों की कातरता नहीं है ? यह इनके लेख ही से विदित है कि धन्य है ऐसे न्यायमार्गी सभापति को कि जिन्होंने दोनों पक्ष को समदृष्टि से देखा और न्याय मार्ग पर आरुढ़ होकर न्याय किया जब सर्वोत्तम न्यायकर्त्ता श्रीमान् चतुर्वेदी ज्वालाप्रसादजी और प्रबन्धकर्त्ताओं को कहा और प्रबन्ध की उत्तमता यहां तक लिखी कि नियत प्रबन्ध से इधर उधर न चलने दिया बड़े पश्चात्ताप का समय है इन जैनी महाशयों की बुद्धि पर कि ऐसे न्यायशील प्रबन्धकर्त्ताओं के न्याय में भी उपद्रव होने का दोष आरोपण करने लगे तो जो प्रबन्धकर्त्ता अपने न्याय से किसी पक्ष को इधर उधर नहीं चलने देते थे फिर ऐसे न्यायशील प्रबन्धकर्त्ताओं के संमुख अन्याय और उपद्रव का होना किस प्रकार से सम्भावित है इससे जैनियों की पूर्ण असमर्थता सिद्ध होती है और प्रमाद की प्रबलता देखियेगा कि श्रीयुत चतुर्वेदी राधामोहनादि और भी प्रतिष्ठित रईसों ने उपद्रव होता जान शास्त्रार्थ होना बन्द किया, इन असंगत लेखों के लिखने में जैनी महाशयों को लज्जा नहीं आती जब यह ठीक यानी सत्य ही था तो सर्व प्रकार रईसों के हस्ताक्षर क्यों न करा लिये, जो पत्र शास्त्रार्थ बन्द होने के विषय में छापा है वह तो जैनी महाशयों के लेख ही से अप्रमाण सिद्ध होता है जब पत्र पांच की राय से और हस्ताक्षर केवल सभापति ही के हैं कब सम्पूर्ण प्रबन्धकर्त्ताओं

का माना जा सकता है जवतक दोनों पक्ष के प्रबन्धकर्त्ता अपनी राय पर हस्ताक्षर न करें कब समस्त प्रबन्धकर्त्ताओं की ओर से माननीय हो सकता है, यदि यह लेख सभा-पतिजी ने प्रबन्ध करने की अपने में असमर्थता देख दिया तो पांच की राय प्रकट करना उचित न है केवल अपनी राय प्रकट कर सकते थे। मेरी अल्पबुद्धि में तो इस लेख से भी जैनियों की असमर्थता और अल्पज्ञता विदित होती है सर्व सज्जनों की सेवामें जैन आधुनिक मत की आधुनिकता प्रकट करता हूँ अनेक आचार्यवर्त्त देश में प्राचीन समय से सर्व ऋषि मुनि और संन्यासियों चार वेद उपवेद और ६ शास्त्रों की प्राचीनता ही (अन्यदेशों तक लन्दन और जर्मनादि) विदित करते हैं और जैनी महाशय इन सत्तुष्ट आचार्यों को प्राचीन और अनुकूल बातों ही को नहीं ग्रहण करते और आधुनिकता की उनकी सब पर विदित होगई इनके ग्रन्थों का किसी सत्तुष्ट में नाम तक नहीं और इन के प्रामाणिक ग्रन्थों में पुराणादिक तक के नास और कथा लिखी हैं जब पुराण वाले भी वेद को सनातन अनादि मानते हैं फिर तो जैनमत बहुत ही नवीन और आधुनिक सिद्ध होगया अब हम जैनियों की अबिद्धता सिद्ध करते हैं यदि ये प्राचीन और विद्वान् होते तो पाणिनि ऋषिकृत व्याकरण और गोतम ऋषिकृत न्याय कदापि नहीं मानते जो कुछ ग्रन्थ इनके आचार्यों ने बनाये हैं इधर उधर की बातें लेकर और मनमानी बुद्धि लड़ाकर ऐसी कपोलकल्पित असत् गाथा लिख मारीं कि जिससे यह सूझा कि यह जाल शीघ्र कट जायगा इससे अपने शिष्य और मतावलम्बियों को यही शिक्षा की कि अन्य मतवालों को अपने ग्रन्थ न सुनाना न दिखाना यह आधुनिक और असङ्गत कथाओं का कारण क्या नहीं सिद्ध होता है जब इनके ग्रन्थों में अन्य मतवालों के साथ न बातचीत करना और न उनका कुछ सहाय करना और न जीवरक्षा की वस्तुयें बनाना इत्यदि निषेध लिखा है जैसा कुशा ब्राह्म लालाब आदि फिर यह पूर्ण जीवरक्षक कैसे सिद्ध हो सकते हैं हां यह हम कह सकते हैं कि और आधुनिक मतों से इन में जीवरक्षा कुछ विशेष है, कहाँतक इनकी असङ्गत बातें और आधुनिकता लिखें इनकी असत् गाथाओं का तो बारापार नहीं इससे सज्जनों के विलोकनार्थ कुछ विदित करके लेखनी को विश्राम देता हूँ और सज्जनों की सेवामें प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि इनका सम्पूर्ण लेख जो शास्त्रार्थ फीरोजाबाद में छपा है अनेक पक्षपात और मिथ्याभाषण की व्याधियों से ग्रस्त है इसको कोई सज्जन माननीय नहीं कह सकता है । इति ॥

सर्व सज्जनों का कृपाभिलाषी—

गङ्गारामचर्मा, मन्त्री-आर्यसमाज,
फीरोजाबाद.



